प्रकाशक :
राजराजेश्वरी पुस्तकालय,
गया

प्रथम संस्करण : २०००
मूल्य : ४)

मुद्रक :
गया प्रिण्टर्स, गया

विज्ञान एवं साहित्य के परम अनुरागी

मनीषी एवं ज्ञान-प्रतीक,

तथा

मेरे परम आदरणीय

गया कालेज, गया के

प्रिंसिपल श्री अमरेन्द्र नारायण

के

कर-कमलों में सादर समर्पित

प्रस्तावना

आज से दो वर्ष पूर्व सन् १९५० ई० में मैंने **बाल-मनोविज्ञान** नामक एक पुस्तक प्रकाशित की जो विशेषतः यूनिवर्सिटियों एवं ट्रेनिंग कालेज की बी० टी०, बी० एड्, एल्० टी०, डिप-इन-एड्, बी० ए० एवं उच्च कक्षाओं के विद्यार्थियों की आवश्यकताओ को ध्यान में रख कर लिखी गयी थी। मनोविज्ञान के प्राध्यापकों एवं विद्यार्थियों की आज्ञा से मैंने यह **बचपन विकास का संक्षिप्त मनोविज्ञान** उपस्थित किया है, जो विशेषतः यूनिवर्सिटियों एवं महाविद्यालयों की प्रारम्भिक कक्षाओं के लिए उपयुक्त है।

यह पुस्तक **बाल-मनोविज्ञान** का ही संशोधित, परिवर्द्धित एवं परिवर्तित लघु संस्करण है। किन्तु इसकी अपनी विशेषताएँ हैं। इसमे **बालमनोविज्ञान** के कई अध्याय निकाल दिए गए हैं और शेष अध्यायों को यथास्थान संक्षिप्त कर दिया गया है। कहीं-कहीं आवश्यकतानुसार कुछ नयी बातें जोड़ दी गयी हैं। विशेषतः 'बचपन में मानसिक विकास' तथा 'बचपन मे कल्पना एवं सौन्दर्यानुभूति का विकास' के अध्याय एक प्रकार से परिवर्तित कर दिये गए हैं और उनमें कुछ नये प्रकरण संयुक्त कर दिए गए हैं। इस पुस्तक में 'बुद्धि एवं बुद्धि-माप' नामक एक नया एव स्वतन्त्र अध्याय जोड दिया गया है। विषयों, विषय-भागो एवं पाद-टिप्पणियों की योजनाएँ नवीन ढंग से की गयी हैं और यह ध्यान रखा गया है कि अंग्रेजी-भाषा के माध्यम से पढनेवालों को अचानक असुविधाओं का सामना न करना पडे। पारिभाषिक शब्द विषय-व्याख्या के भीतर ही दिए गए हैं। अतः एक प्रकार से यह पुस्तक **बाल-मनोविज्ञान** का लघु संस्करण होते हुए अपनी पृथक् विशेषताएँ रखती है।

आशा है, बाल-मनोविज्ञान के इस लघु संस्करण से यूनिवर्सिटियों के आरम्भिक विद्यार्थियों को प्रचुर सहायता मिलेगी।

ब्राह्मणी घाट, गया
११–६–५२

—**अर्जुन चौबे काश्यप**

विषय-सूची

तीसरा अध्याय **पृष्ठ, ४१-५८**

जन्म के पूर्व शरीर-आकार का विकास तथा मौलिक प्रकृति-सम्बन्धी धारणाएँ

चौथा अध्याय **पृष्ठ, ५९–८३**

बचपन-विकास में सीखने का महत्व एवं सीखने के सिद्धान्त

सत्रहवाँ अध्याय **पृष्ठ, ३४२–३५६**

बचपन की व्यक्तित्व-सम्बन्धी उलझनें, कुव्यवस्थाएँ और उनका उपचार

बचपन-विकास
का
संक्षिप्त मनोविज्ञान

पहला अध्याय

बचपन-काल तथा मनोविज्ञान, विषय-विस्तार, बाल-स्वभाव और विभिन्न पद्धतियाँ

§. [१] बचपन-काल विकास-काल है। व्यक्ति-जीवन का यह काल सब कालों से महत्वपूर्ण है। यह ऐसी क्यारी है जहाँ मानव-संसार के विवध रंगों के बेल-बूटे, लता-गुल्म, वृक्ष-पौधे, सुषमा-गंध-युक्त पुष्प आदि के सदृश व्यक्ति अङ्कुरित होते हैं जो कालान्तर में मानव-समाज मे विविध प्रकार के व्यक्तित्व-स्वरूपो में प्रकट होते हैं। अतः इस काल का मनोवैज्ञानिक अध्ययन मनोविज्ञान के क्षेत्र मे अपनी पृथक् महत्ता रखता है। बचपन व्यक्ति के व्यक्तित्व-विकास का आधार है। मनोवैज्ञानिक अध्ययनों से स्पष्ट हो गया है कि व्यक्ति को पूर्णतया समझने के लिए बाल-जीवन पर मनोवैज्ञानिक दृष्टिपात करना अनिवार्य है। इस पुस्तक का ध्येय है बचपन के विकास का मनोवैज्ञानिक अध्ययन। बीसवीं शताब्दी में बचपन पर अधिक मनोवैज्ञानिक प्रकाश पड़ा है अतः बीसवीं शताब्दी को कभी-कभी 'बाल-युग' (The age of the child) कहा जाता है। "इस उक्ति का तात्पर्य उस भावना से है जो हमें बच्चों के प्रकृति-जीवन की ओर ले जाती है। आधुनिक काल में मनोवैज्ञानिकों ने बाल-विकास

का अध्ययन वैज्ञानिक ढंग से करके यह स्पष्ट कर दिया है कि विकास के मूल में कुछ निश्चित धाराएँ हैं जो अप्रतिहत रूप से बहती हैं। मनोविज्ञान मे बाल-विकास के विभिन्न स्वरूपों का अध्ययन किया गया है। इस अध्ययन में वैज्ञानिक परम्पराओं का संगठन है जिसके फलस्वरूप हम आज बहुत कुछ अंशों में निश्चित रूप से बालकों के भविष्य के विषय में निर्धारण कर सकते हैं। बचपन की समस्याएँ बड़ी व्यापक हैं और इसी से इसकी महत्ता और बढ़ गयी है। आज के मनोविज्ञान की विभिन्न परम्पराओं ने जो सिद्धान्त निर्धारित किए हैं, जो मापदण्ड स्थिर किए हैं, जो नियमबद्ध आधार स्थापित किए हैं, और उनसे जो निर्देश हमें मिलते हैं, वे सभी बालकों के एक सुन्दर विश्व की ओर संकेत करते हैं" [देखिये लेखक की पुस्तक बालमनोविज्ञान, पृष्ठ १] जहाँ बच्चों के माता-पिता, अभिभावक, शिक्षक-गण अपने उत्तरदायित्व का पालन भली-भाँति कर सकेंगे। मनोविज्ञान में बचपन-काल के-अध्ययन की अपनी विशिष्ट परिपाटी एवं महत्ता है। बचपन-विकास का मनोवैज्ञानिक अध्ययन ही बालमनोविज्ञान है।

बचपन-काल का मनोविज्ञान तथा उसकी महत्ता

व्यक्ति का प्रथम बारह वर्ष अत्यन्त महत्वकारी है। यही समय बचपन कहा जाता है। जीवन के विभिन्न स्तरों, व्यापक अवस्थाओं, सन्धि-कालों का आधार बचपन है। वास्तव में, यह पूरे जीवन की भूमिका है। इस अवस्था के नाना क्रिया-कलापों से ही आगे का जीवन खिलता जाता है। बचपन की घड़ियाँ सीखने की घड़ियाँ हैं। इन्हीं घड़ियों में सामान्य व्यवहार के विविध महत्वपूर्ण स्वरूप विकसित होते हैं। शारीरिक क्रियाओं, भाषा-सम्बन्धी टेव तथा इस विश्व के प्रति ज्ञान का प्रादुर्भाव बचपन में ही होता है। बहुत से आचरण (आदतें) जिनमें विशेषतः बोलने का आचरण मुख्य है, बचपन के पश्चात् कठिनाई के साथ परिमार्जित हो सकते हैं। आधुनिक खोजों ने बचपन के महत्त्व को अधिक बढ़ा दिया है। बहुत-सी बातें और

जीवन की बहुमुखी वृत्तियाँ, जिनके विषय में हमारा अतीत अन्धकार में था, बचपन के सीखने की क्रिया पर निर्भर करती हैं। मूलप्रवृत्तियाँ, संवेग और उनके अनुकूल परिमार्जन इत्यादि, जिनसे व्यक्तित्व तथा चरित्र खिल उठता है, बचपन की अनुभूतियों के प्रतिफल हैं। बचपन में जिस प्रकार की शिक्षा-दीक्षा मिलेगी तथा जैसी सफलता तथा प्रतिकूलता मिलेगी अथवा विषमताओं के प्रति जो रुख होगा तथा उनकी उत्तेजनाओं के प्रति जो प्रतिक्रियाएँ होंगी, उन्हीं पर जीवन के सामाजिक संगठन निर्भर करेंगे। अतः बचपन के वैज्ञानिक अध्ययन की महत्ता बढ़ जाती है। इस ग्रन्थ का ध्येय है बचपन-काल के विकास-क्रम पर मनोवैज्ञानिक प्रकाश डालना।

बचपन-केन्द्र की अध्ययन-परिधि (Scope)

बचपन के अध्ययन का विषय-विस्तार

§. [२] किशोरावस्था से पूर्व गर्भाधान से लेकर बारह वर्ष तक जो शारीरिक तथा मानसिक विकास होता है उसका अध्ययन बालमनोविज्ञान करता है। वह मानस शास्त्र जिसमें मानस प्रक्रियाओं की व्युत्पत्ति, उनकी प्रारम्भिक अवस्था और विकास का परिशीलन किया जाता है, बचपन या बच्चों का मनोविज्ञान कहलाता है। अतः बचपन के व्यवहार तथा स्वभाव के तदनुरूप विश्वसनीय तथा निश्चित तत्त्वों तथा तथ्यों की खोज करना बचपन के मनोविज्ञान का कर्म है। सुनिश्चित तथ्यों के आधार पर बचपन के विकास की सामान्य शृंखलाओं का उहापोह करना, निर्देशन के लिए विविध पद्धतियों का संयोजन करना तथा भविष्य की तैयारी के लिये सम्भावनाएँ स्थिर करना बचपन-विकास के मनोविज्ञान का कर्तव्य है। यह मनोविज्ञान पूर्व प्रचारित भ्रान्तिपूर्ण धारणाओं की त्रुटियों को बताता हुआ बहुत-से अनुमान स्थिर करता है, जो मनोवैज्ञानिकों, भैषजों-चिकित्सकों, दाइयों, अभिभावकों अध्यापकों आदि को पहले ही से सावधान तथा सतर्क कर देते हैं। बचपन के मनोविज्ञान की मुख्य समस्याएँ निम्न हैं:

(१) बाल-व्यवहार के मूल तत्वों तथा आधारों की खोज करना: (२) बाल-व्यवहार के विकास के अभियोजन में परिमार्जन के नियमबद्ध तथ्य उपस्थित करना; (३) मौलिक प्रकृति तथा उसके रूपभेदों का स्पष्टीकरण करना तथा वंशानुक्रम और वातावरण की व्याख्या करना और उनका पारस्परिक सम्बन्ध बताना; (४) बचपन के सामान्य व्यवहारों का शरीर-स्थिति से सम्बन्ध बताना; (५) शरीर के आकार-प्रकार के विकास का अध्ययन करना; (६) शारीरिक गति-विधि, इन्द्रिय-ज्ञान तथा मासपेशी-सम्बन्धी समर्थताओ और योग्यताओं के विकास का अध्ययन करना; (७) शरीर-व्यवस्था के सिद्धान्तों को कार्यरूप में प्रकट करने की व्यवस्था करना; (८) बच्चों के मानसिक, संवेगात्मक सामाजिक, प्रेरणात्मक, रुच्यात्मक, नैतिक, धार्मिक आदि विकास-पहलुओं पर वैज्ञानिक दृष्टिनिक्षेप करना तथा (९) बच्चों के व्यक्तित्व के तत्वों तथा उनके सगठन का अध्ययन करना और व्यक्तित्व के भौतिक तथा सामाजिक वातावरण की प्रक्रिया का सम्बन्ध उपस्थित करना।

सक्षेप में, बचपन के विकास के मनोविज्ञान के विस्तार-क्षेत्र या बचपन-केन्द्र की परिधि में बचपन के व्यवहार मानसिक, माशपेशी-सम्बन्धी, शारीरिक, भाषा-सम्बन्धी, संवेगात्मक, धार्मिक, सौन्दर्यानुभूति, खेल-कूद-क्रिया-सम्बन्धी, ध्येयात्मक तथा लक्ष्य-सम्बन्धी आचरणों और व्यक्तित्व के विकास के विविध रूपों का समावेश होता है। इन विभिन्न रूप-विषयों का अध्ययन पृथक्-पृथक् भले ही हो, किन्तु यह प्रतिपादन केवल विषय की गम्भीरता का कारण है। वास्तव मे, बचपन एक पूर्ण सत्ता है, यह केवल विभिन्न मानस क्रियाओं का मिश्रण नहीं है। बच्चों के जीवन-प्रवाह का निर्देश सामाजिक महत्व रखता है। अभिभावक, माता-पिता तथा अध्यापक की सुविधा के लिए ऐसा किया जाता है। मानवता में घुसी जीवनहंता अन्यायपूर्ण प्रक्रियाओं का उन्मूलन तथा सामाजिकता का उचित विकास तभी सम्भव हो सकता है जब भावी मार्ग-प्रदर्शक बालमनोविज्ञान द्वारा

ठहराये गए सिद्धान्तों की परिचर्या में बाल-मन का अध्ययन करें। बचपन के विकास के मनोवैज्ञानिक अध्ययन के अन्तर्गत न-केवल वैज्ञानिक सूत्रों का उद्घाटन करना होता है, प्रत्युत एक ऐसी व्यवस्था उपस्थित करनी पड़ती है जिससे माता-पिता, अभिभावक तथा अध्यापक बच्चों की परिचर्या ठीक से कर सकें। गर्भाधान से लेकर बारह वर्ष तक विकासोन्मुखी बच्चों के शारीरिक एवं मानसिक विकास के प्रत्येक पहलू का वैज्ञानिक अध्ययन एवं पथ-प्रदर्शन के साधनों का प्रकटीकरण बचपन-केन्द्र की अध्ययन-परिधि के अन्तर्गत आ जाता है।

बाल-स्वभाव (Child Nature)

§. [२] गत प्रकरणों में बचपन की मनोवैज्ञानिक महत्ता स्पष्ट करने के उपरान्त बाल-स्वभाव-सम्बन्धी कतिपय मान्यताओं एवं धारणाओं का उद्घाटन अपेक्षित है जिससे आगे के अध्यायो की मनोवैज्ञानिक पीठिका स्पष्ट हो जाय। प्राचीन काल से ही बच्चों के स्वभाव एवं बचपन-विकास-सम्बन्धी उक्तियाँ सामान्य माता-पिता, अभिभावकों एवं शिक्षकों के मनों को पकड़े हुई हैं। आज की वैज्ञानिकता उन्हें अयथार्थ सिद्ध करती है।

कुछ विचारकों ने कहा है कि बच्चे का गर्भाधान तथा जन्म पाप की क्रिया है, अतः पाप से प्रसूत बच्चा स्वभावतः पापमय है (The Theory of Inherent Badness: The child is conceived and born is sin)। बच्चों को कठिन यातनाएँ देना परमावश्यक है, क्योंकि बिना विषम अनुशासन के पापों का हटना कठिन है। इन्हीं लोगों ने शिक्षा के क्षेत्र में "डंडा को छोड़ा, तो लड़का चौपट हुआ" वाली भयकर उच्च घोषणा की। दूसरे प्रकार के विचारकों ने इसके सर्वथा विपरीत सिद्धान्त उपस्थित किया है। इनमें प्रसिद्ध क्रान्तिकारी लेखक रूसो तथा प्रकृति का पुजारी कवि वर्ड्सवर्थ मुख्य हैं। रूसो और वर्ड्सवर्थ ने बच्चे को स्वभावतः पवित्र माना, और कहा कि बच्चा मानव के घृणित सम्पर्क में आकर अपवित्र होता जाता

दी थियरी ऑफ इन्हिरेन्ट गुडनेस

है (The Theory of Inherent Goodness: Rousseau & Wordsworth)। इस प्रकार हम देखते हैं कि ऊपर की दोनों उक्तियाँ एक दूसरे के विपरीत हैं। एक बच्चे को 'राक्षस का पुतला' और दूसरी 'स्वर्ग का दूत' बतलाती है। कुछ प्रभावशाली लेखकों ने, जिनमें ज्यार्ज स्टैनली हॉल (G. Stanley Hall) मुख्य हैं, एक विचित्र सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। उनका कहना है कि बच्चे के विकास की अवस्थाएँ मानव-जाति की विकास-सम्बन्धी अवस्थाओं के अनुरूप हैं, अर्थात् बच्चा मानव-जाति की असभ्यावस्था से सभ्यावस्था तक की सारी अनुभूतियो को दुहराता है (The Recapitulatory Theory of G. Stanley Hall)। कुछ सैद्धान्तिकों ने मूलप्रवृत्तियों (Instincts) में विश्वास किया है। इनमे प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक मैकडूगल (McDougall) मुख्य हैं। इन मूल-प्रवृत्तिवादियों का कहना है कि बच्चा मूलप्रवृत्तियों तथा संवेगों का पुतला है और इन्हीं से प्रेरित होता है जिससे उसके विकास की प्रक्रियाएँ उभरती जाती हैं। वंशानुक्रमवादियों (Hereditarians) ने 'रक्त' की आनुवंशिकता की महत्ता गायी है। उनका कहना है कि बच्चा वैसा ही होगा जैसे उसके माँ-बाप हैं (The Theory of Heredity: The Blood will tell)। एक कहावत है: "जो जल देखा कुआँ-इनारे, सो जल देखा भरुका। जैसे होते मातृ-पितृ हैं, वैसा होता लड़का॥" इस सिद्धान्त के विपरीत दूसरे विचारक वातावरणवादी (Environmentalists) हैं जिन्होंने सब कुछ वातावरण को माना है (The Euthenic Theory)। इन लोगों ने शिक्षा, सामाजिक संस्थाओं, उचित परिस्थिति तथा अच्छी रक्षा को प्रधानता दी है। प्रसिद्ध दार्शनिक जॉन लॉक ने बच्चे के मस्तिष्क को अचिह्नित श्वेतपट (The Tabla Rasa Theory of John Lock) माना है जिस पर शिक्षा-दीक्षा तथा अनुभूतियाँ धीरे-धीरे लिखती जाती हैं। कुछ विचारकों ने स्वतन्त्र इच्छा और बुद्धि की क्रिया पर विशेष बल दिया है (The Theory of Free Will)।

शिक्षा के उचित मार्ग के अनुसरण से बच्चा अपना लक्ष्य स्वयं निर्धारित करता है। बच्चा स्वयं अपने लक्ष्य और कर्म को अपनी स्वतन्त्र इच्छा की शक्ति से संयमित करता है। इसी प्रकार थार्नडाइक, हालिंगवर्थ, कोफ्का (Thorndike, Hollingworth & Koffka) ने क्रमशः 'उपयोगिता का सिद्धान्त' (The Utility Theory), 'गुण-धर्म-सीमित सिद्धान्त' (The Limitation Theory), 'संगति सिद्धान्त' (The (Correspondence Theory) आदि प्रतिपादित किए हैं, किन्तु इनका विवेचन यहाँ अपेक्षित नहीं है। 'कथार्सिस' (The Theory of Catharisis) का सिद्धान्त भी इस प्रकार अग्राह्य है। इन सब सिद्धान्तों में सत्य का अंश कुछ-न-कुछ अवश्य है, किन्तु प्रत्येक में एक सीमित दृष्टिकोण है। केवल सावधानी से किए गए अनुसंधानों तथा कष्टसाध्य प्रयोगों से ही हम बच्चे को समझने की आशा कर सकते हैं। इस सिद्धान्त को हम वैज्ञानिक सिद्धान्त (The Scientific Theory) कह सकते हैं। इस पुस्तक में इसी सिद्धान्त के आधार पर आजतक की प्रयोग-प्रणाली से निसृत तत्वों तथा तथ्यों के आधार पर हम क्रमशः बचपन की विविध विकासावस्थाओं का अध्ययन करेंगे और बाल-नियमन (Guidance) एवं बचपन की अवस्थाओं पर प्रकाश डालेंगे।

बचपन के अध्ययन की विधियाँ (Methods)

[क] अवैज्ञानिक विधियाँ (Unscientific Methods)

(१) अन्तर्दर्शन (Introspection)

§. [४] बचपन के अध्ययन की एक विशिष्ट पद्धति है अन्तर्दर्शन जिसके आधार पर प्रत्येक व्यक्ति बच्चों के सामान्य व्यवहारों का निरीक्षण करता है ; किन्तु बहुधा यह निरीक्षण वैयक्तिक (Subjective) होता है और उचित वैज्ञानिक लक्ष्य से हीन होता है। बहुत प्राचीन काल से अध्यापक, माता-पिता, साहित्यकार आदि अपनी उक्तियों में भ्रामक वैयक्तिक व्यामोह डालते आए हैं। ऐसी उक्तियाँ किसी दशा में

सार्वजनीन नहीं हो सकती थीं और यही कारण था कि बाल-मन एवं बचपन का अध्ययन ठीक से नहीं हो सका। लोग घर के बच्चों को देख कर, अथवा अपने बचपन की स्मृतियों को कुरेदकर बच्चों के बारे में कुछ कह डालते हैं, सोच डालते हैं, और सिद्धान्त बना डालते हैं। प्रत्यक्षज्ञान के अभाव में ऐसा निरीक्षण सर्वथा छिछला (Superficial Uncontrolled Subjective Observation) होता है। बच्चों की चेष्टाओं तथा उनके व्यवहार के तथ्यों पर पैनी दृष्टि नहीं डाली जाती। किसी व्यवहार के कारण को हम ढूँढ़ने का उद्योग न कर कुछ यों ही धारणाएँ बना लेते हैं। घर के बच्चों के सामान्य व्यवहारों मे बहुत से छूट जाते हैं। तुलनात्मक (Camparative) ढंग के अभाव में ऐसा वयक्तिक अध्ययन कुछ भी महत्व नहीं रखता। वास्तव में, यह विधि सर्वसाधारण में पायी जाती है और सम्भवत: यह यों ही चलती भी रहेगी। अन्तर्दर्शन मे व्यक्ति प्रायः अपनी ही अनुभूतियो का सहारा लेता है। ऐसी स्थिति मे वास्तविकता से दूर हट जाना स्वाभाविक है। अत: केवल अन्तर्दर्शन से बचपन पर प्रकाश नहीं पड़ सकता।

अन्तर्दर्शन से कभी-कभी केवल मोटी-मोटी बातें ही दृष्टिपथ में आती हैं, बहुत-से आवश्यक व्यवहारों की परिचर्या नहीं हो पाती और हम केवल असाधारण बातों पर ही विचार करते हैं। कोई माता-पिता अपने बच्चे को बुरा नहीं कहना चाहते। उनके निरीक्षण में महत्वकारी बातें छूट जाती हैं। केवल वही बात उन्हें स्पष्ट होती है जो बार-बार बच्चे में देखने में आती है। कभी-कभी वैयक्तिक (Subjective) निरीक्षक केवल अपने किसी विशेष सिद्धान्त की पुष्टि में अन्य बातों तथा व्यवहारों को भूल जाता है, और केवल उन्हीं क्रियाओं से मोह रखता है जो उसको उसके मनोनुकूल जँचती हैं। कभी-कभी इनी-गिनी बातों पर ही व्यापक निष्कर्ष निकाल लिया जाता है जो अन्त मे भ्रामक सिद्ध होता है। तथापि इस विधि की उपादेयता कुछ-न-कुछ है ही क्योंकि मनोविज्ञान की यह विशिष्ट विधि है। हाँ, हमें अपने निरीक्षण

में वैयक्तिकता का मोह छोड़ देना होगा क्योंकि उससे वैज्ञानिकता की स्थापना मे कठिनाई होती है।

(२) कहानी-सम्बन्धी चरित-गाथाएँ (Anecdotal Biographies)

§. [५] बचपन के अध्ययन में बहुत दिनों तक बच्चों के जीवन-चरितों पर अधिक विश्वास किया जाता था किन्तु कथा-सम्बन्धी या औपाख्यानिक चरित-गाथाएँ प्रथम विधि के दोषों को बतलाती हैं। लिखते समय निरीक्षक अपनी कहानी में तारतम्य भूल जाता है। यह सम्भव है कि निरीक्षण करते समय उसने कुछ लिखा नहीं, बाद को स्मृति के आधार पर एक कहानी रच दी। कभी-कभी माता-पिता ने, अपने बच्चे में अधिक रुचि लेने के कारण, कुछ लिख डाला है, अथवा किसी सैद्धान्तिक ने अपने किसी विशेष सिद्धान्त के प्रतिपादन मे कुछ लिख डाला है। ये कहानियाँ या उपाख्यान किसी निश्चित तथ्य को बताने में असमर्थ हैं। हाँ, इधर कुछ बाल-चरित लिखे गए हैं जो आए-दिन की घटनाओं से भरे पड़े हैं। किन्तु इनमें और पुरानी कथाओं मे बहुत अन्तर है। कैरोल की बाल-पुस्तक उसी प्रकार भ्रामक है, अथवा किसी भी उपन्यासकार की बाल-आख्यायिकाएँ सत्य से दूर हैं। इन दोषों के रहते हुए भी व्यक्ति-इतिहास तथा चिकित्सा में यह विधि कभी-कभी सहायक हो जाती है। यह विधि भी इस प्रकार अवैज्ञानिक है।

(३) पूर्वस्मृतियाँ (Reminiscences or Child-Memories)

§. [६] बचपन के अध्ययन की प्रारम्भिक अवस्था में बहुधा मनोवैज्ञानिक बच्चों की जानकारी के लिए उनके माता-पिता से पूछते थे अथवा स्वयं माता-पिता से उनके बचपन की स्मृतियों का सहारा लेते थे। किन्तु ये पूर्वस्मृतियाँ अयथार्थ हो सकती हैं। घटना तो वर्षों पूर्व बीत चुकी, किन्तु उसका निरूपण अब हो, क्योंकि उस घटना में मोहकता है—ऐसी पूर्वस्मृतियाँ बच्चों के व्यवहारों के अध्ययन में कोई निश्चित सहायता नहीं प्रदान करतीं। ऐसी स्मृतियाँ, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, कई रूप मे प्रकट होती हैं : कुछ तो माता-पिता द्वारा कही जाती हैं और कुछ आत्मचरित के रूप में आती हैं। किन्तु

ऐसे आत्मचरित हमे सब कुछ नहीं बताते। साधारणतः हम अपने दोषों को छिपाते, हैं, केवल उन्हीं बातों को कहते या लिखते हैं जिनसे हमारी प्रशंसा की जाय। महात्मा गान्धी ऐसे आत्म-चरित लेखक कम मिलते हैं। बहुत-सी सच बातों के भीतर किसी सच्ची-बुरी घटना का अभाव सारी कहानी की सत्यता पर पानी फेर देता है। हाँ, स्मृतियों के परिधान पर यदि अन्य सच्ची घटनाओं का यथावत् रंग लगा दिया जाय तो किसी प्रकार बाल-मनोविज्ञान में इनकी सार्थकता सिद्ध हो सकती है। इन दोषों के कारण बचपन के अध्ययन मे पूर्व-स्मृतियाँ विशेष महत्त्व नहीं रखतीं। यह विधि वैज्ञानिक नही है।

(४) प्रश्नावली (Questionnaires)

§. [७] बाल-मन के अध्ययन में प्रश्नावली-विधि कार्यान्वित होती है। सर्वप्रथम स्टैनली हाल ने तथा उनके विद्यार्थियों ने इसका उपयोग किया था। इस विधि ने बालमनोवैज्ञानिकों को पर्याप्त सहायता दी। प्रश्नावली-विधि द्वारा प्रस्तुत तथ्यों को गणित की सुनिश्चित भाषा में रखने की सुगमता भी सिद्ध हुई। किन्तु इसमें भी वही अक्रमबद्ध असंगति का तथा छिछली निरीक्षण-प्रणाली का दोष दिखाई पड़ा। इस विधि में प्रश्नों का उत्तर ही सब कुछ है। पहले तो अध्यापकगण मनोवैज्ञानिक द्वारा सूचित किए गए प्रश्नों को बच्चों से पूछते थे, अथवा उनके माता-पिता से पूछते थे, किन्तु कालान्तर में प्रश्नावली की व्यवस्था को दूसरा रूप दिया गया। एक ओर प्रश्न और दूसरी ओर उत्तर की व्यवस्था की गयी। किन्तु इस प्रणाली में भी दोष है। उत्तरों की व्याख्या करना सर्वथा सरल नहीं। कभी कभी प्रश्नावलियाँ प्रौढ़ व्यक्तियों को भी दी जाने लगीं, किन्तु इनमें वे दोष ज्यों-के-त्यों पाए जाते हैं जो प्रथम विधि में लक्षित हैं। प्रसिद्ध अमेरिकन मनोवैज्ञानिक थार्नडाइक ने इसका विरोध किया, किन्तु तब भी आजतक इसका उपयोग चल रहा है। यह विधि भी, अतः अवैज्ञानिक ही कही जाती है। इस विधि का परिष्कृत रूप परीक्षणात्मक वार्तालाप है जिसका वर्णन § [१४] में किया जायगा।

(५) *दिनचर्या (डायरी* : Diary)

.§. [८] दिनचर्या द्वारा बच्चों की अनुदिन की क्रियाओं-प्रक्रियाओं का लेखा-जोखा रखा जा सकता है। किन्तु यह कष्टसाध्य कार्य है। माता-पिता अथवा अभिभावक कुछ दिन दिलचस्पी लेकर इसे लिख सकते हैं, किन्तु ध्यान एक ही स्थान पर सदैव नहीं रह सकता और रुचि-विपर्यय के कारण बहुत-सी आवश्यक बातें छूट जा सकती हैं। डायरी में एक ओर कुछ स्थान छोड़ दिया जाता है जहाँ पर कुछ अपनी ओर से व्याख्या इत्यादि भी की जा सके। यह विधि सहायक सिद्ध हो सकती है जब कि कोई प्रतिदिन बालक के व्यवहार का अध्ययन करता जाय और उसी क्षण लिखता जाय। अतः यह विधि भी अवैज्ञानिक है। इसे भी वैज्ञानिक ढंग से पुष्ट किया गया है (देखिए प्रकरण .§. १०)।

(६) *तुलनात्मक विधि* (Comparative Method)

.§. [९] पशुओं तथा बच्चों आदि का अध्ययन करके बच्चों की सहयोगी वृत्तियों तथा उनके व्यवहारों का तुलनात्मक अध्ययन किया जाता है। पशुओं के बहुत-से व्यवहार मानव-व्यवहार से कुछ अंश में मिलते-जुलते हैं। मानव पर सभी प्रकार के प्रयोग नहीं किये जा सकते। पशुओं को हम सभी परिस्थितियों में रख देते हैं। उनको संज्ञाहीन करके उनके भावों-अनुभावों का अध्ययन करते हैं और उस अध्ययन के आधार पर बाल-मन की संज्ञा तथा मन की गतियों से तुलना करते हैं और किसी तथ्य पर पहुँचते हैं। उत्पन्न होने के पश्चात् जानवरों के बच्चों का व्यवहार कैसा होता है और धीरे-धीरे उनमें किस प्रकार का परिवर्तन होता है, वे किस प्रकार सीखते हैं आदि-आदि बातों का हम निरीक्षण करके बच्चों के बारे में भी धारणाएँ बनाते हैं। सीखने की विधियों को हमने तुलनात्मक विधि से ही परिमार्जित किया है। किन्तु मानव में और पशुओं में बहुत विभेद है अतः तुलनात्मक विधि हमें बहुत दूर तक नहीं ले जा सकती। अतः हमें इस विधि-प्रयोग में सतर्क रहना पड़ता है। बच्चों में भी तुलना की जाती है, किन्तु व्यक्ति-विभिन्नता

होने के कारण तुलनात्मक विधि अवैज्ञानिक रूप ही धारण करती है।

[ख] वैज्ञानिक विधियाँ (Scientific Methods)

§. [१०] अब तक हमने अवैज्ञानिक विधियों का संक्षेप मे परिशीलन किया, किन्तु बचपन की स्वाभाविक पहचान के लिए वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपेक्षित है। वैज्ञानिक विधियों द्वारा हम प्रथमतः दत्त तथ्यों का संकलन (Collection of Data) करते हैं, और फिर उनमें से कुछेक का चुनाव करते हैं। इन चुनी हुई बातों को जब हम सामान्य रूप मे घटित होती हुई देखते हैं तो एक तथ्य पर पहुँचते हैं। धीरे-धीरे हम इन्हीं प्रक्रियाओ से विभिन्न प्रयोगों की ओर बढ़ते हैं। आधुनिक बालमनोविज्ञान वैज्ञानिक विधियों की सहायता से बहुत आगे बढ़ चुका है। मनोवैज्ञानिकों ने प्रयोगशालाएँ बनाई हैं जहाँ पर बच्चों पर भाँति-भाँति के प्रयोग किए जाते है। अवैज्ञानिक और वैज्ञानिक विधि में विशेष अन्तर यह है कि वैज्ञानिक विधि निष्पक्ष, व्यापक और सम्बद्ध पर्यवेक्षण पर निर्भर करती है। वैज्ञानिक विधि में हम एक निश्चित योजना के अनुसार विविध उपादानों को एकत्र कर उन्हें नियमबद्ध ढंग से पढते हैं। स्थान, काल, विशेष स्थिति तथा व्यक्ति-अवस्था के अनुरूप इसी प्रकार का कई अध्ययन करते हैं। इसमें कई निरीक्षकों की आवश्यकता होती है। जब कई निरीक्षकों का निष्कर्ष एक होता है, तब वह अध्ययन वैज्ञानिक रूप पकड़ता है। इस प्रकार वैज्ञानिक विधि में दत्त विषयों का संकलन (Collection of Data) अनुमान-निर्माण (Formation of Hypothesis), सामान्यीकरण (Generalization) एवं निकषण (Verification) आदि परीक्षण-उपादान विधिवत् कर्यान्वित होते हैं।

बचपन के अध्ययन की वैज्ञानिक विधियाँ कई प्रकार की होती हैं। इनमें से कुछेक जो बहुत ही प्रसिद्ध तथा उपयोगी हैं, नीचे दी जाती हैं।

(१) *नियमबद्ध चरित* (Directed or systematic Biographies)

§. [११] असम्बद्ध औपाख्यानिक जीवन-चरितों के विरोध में

पेस्टालॉजी, टीडमैन तथा प्रेयर ने अपने अध्ययन से इस विधि की उपयोगिता सिद्ध कर दी है। प्रेयर ने अपने लड़के का अध्ययन उसके जन्म-काल से लेकर तीन वर्ष तक किया। उन्होंने अपने सूक्ष्म निरीक्षण के साथ व्यापक टीका-टिप्पणी की। शैशव की सारी क्रियाओं का यह नियमबद्ध चरित अभी तक वैज्ञानिक विधि का ज्वलन्त उदाहरण है। इस अध्ययन के पश्चात् तो एक परम्परा-सी चल पड़ी जिसके फलस्वरूप पेरेज, शिन, डीयरबॉर्न, स्टर्न, मूर, हाल, वेयर, ब्रैडेनबर्ग तथा नाइस आदि ने अभूतपूर्व कार्य किए। आज का बालमनोविज्ञान इन मनोवैज्ञानिकों का ऋणी है। आज हमारे सामने नियमबद्ध चरितों का एक लम्बा साहित्य पड़ा हुआ है। किन्तु यदि सावधानी में कुछ भी गड़बड़ी हुई तो सब कुछ व्यर्थ जा सकता है। यह विधि हमें अन्तिम निष्कर्ष तक पहुँचने में सहायता देती है, किन्तु थोड़ी-सी परिस्थितियों के अध्ययन के कारण स्वयं अन्तिम निष्कर्ष देने में असफल होती है। अतः हमें इस विधि से प्राप्त उपादानों को अन्य वैज्ञानिक विधियों से शोध लेना पड़ता है।

(२) *व्यक्ति-विशेष-वार्ता या वृत्ताध्ययन की विधि*

(Case history Method)

§. [१२] नियमबद्ध चरितों से ही मिलती-जुलती व्यक्ति-विशेष-वार्ताएँ होती हैं। इस विधि द्वारा किसी विशेष बच्चे का सम्पूर्ण अध्ययन किया जाता है। यह विधि असाधारण बच्चों के अध्ययन में लागू की जाती है, यों तो साधारण बच्चों का अध्ययन भी इससे हो ही सकता है। यह विधि विशेष बच्चे के वंश-इतिहास, पाठशाला-अनुभव, सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति, वैयक्तिक विकास-क्रम, मानसिक एवं शारीरिक बढ़ती-घटती आदि का घोर अध्ययन करती है। यह विधि उस व्यक्ति-विशेष के बारे में कुछ भी नहीं छोड़ सकती। सब बातों को संगठित करके उनका विश्लेषण किया जाता है और उनकी विविध व्याख्या को समरसता का रूप दिया जाता है। सचमुच, पूर्ण निदान (Diagnosis) तथा प्रदर्शन-कार्य (Guidance) के लिए यह विधि

न-केवल श्लाघनीय है, प्रत्युत अपेक्षित है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, पहले यह विधि समस्याओं से जटिल अथवा असाधारण व्यक्तियों के ही अध्ययन में लगायी जाती थी, किन्तु अब साधारण बच्चों के अध्ययन मे भी यह काम में लायी जाती है। गेसेल (Gessell) महोदय ने इसका प्रचुर मात्रा में उपयोग किया है।

(३) *निर्देशित एवं नियमबद्ध निरीक्षण* (Directed or Systematic Observation)

§. [१३] जब हम पूर्वनिर्धारित (Standardized) स्थिति में किसी बच्चे की प्रतिक्रियाओं (Reactions) का निरीक्षण करते हैं और घटना विशेष अथवा उसके निश्चित समय में किसी व्यवहार का अध्ययन करते हैं तो उसे निर्देशित या नियमबद्ध निरीक्षण कहते हैं। उन स्थितियों अथवा दशाओं को जो साधारणतः बार-बार घटित होती हैं, पहले से ही चुन लेते हैं, और उन्हीं की भूमिका में विभिन्न अवस्थाओं के बच्चो के व्यवहार तथा उनकी पूर्व अनुभूतियों का सावधानी के साथ निरीक्षण करते हैं। ऐसा करने के लिए हम पूर्वनिर्मित सांकेतिक लक्षणों की एक सूची बनाते हैं जिसे *जाँच-पट* (Check-list or Symptom-sheet) कहा जाता है। इस जाँच-पट में निरीक्षण करने के विषय को छोटे-छोटे भागों (Items) मे बाँट देते हैं। ऐसा इसीलिए किया जाता है कि जिससे निरीक्षक बच्चे के व्यवहार को पूर्णतया जाँच सके, और कोई भी सूक्ष्मातिसूक्ष्म बात भरसक छूटने न पावे। इस विधि को और पूर्ण करने के लिए जाँच-पट के अतिरिक्त *समय की सूचिका* (Time-Samplings) भी रखते हैं। पूर्व-निर्धारित समय के भीतर व्यवहार की विशेष क्रिया को जाना जा सकता है। जाँच-पट तथा समय-सूचिका द्वारा नियमबद्ध निरीक्षण परिपुष्ट हो जाता है जिससे मनोवैज्ञानिक निश्चयपूर्वक विशेष समय के भीतर किसी विशेष मनस्थिति अथवा व्यवहार का अध्ययन कर लेता है। इस विधि से बहुत निरीक्षण किए गए हैं जो बालमनोविज्ञान में बड़े सहायक सिद्ध हुए हैं। आलसन तथा गुडइनफ (Olson & Good-

enough) आदि मनोवैज्ञानिकों ने इस पद्धति मे पर्याप्त सुधार किया है। इनके अतिरिक्त प्रसिद्ध बालमनोवैज्ञानिक पियाजे, टामस, मैकर्थी, गेसेल ने बाल-विषयक व्यवहारों का समुचित अध्ययन किया है। इस विधि द्वारा पियाजे ने बच्चों की भाषा तथा समझ-सूझ का, टॉमसन ने बच्चों के सामाजिक सम्बन्धों का, मैकर्थी ने बच्चों की भाषा-योग्यता तथा उनके शब्द-भाण्डार का तथा गेसेल ने चलचित्र द्वारा बच्चों के व्यवहारों का सविस्तार निरीक्षण किया है।

नियमबद्ध निरीक्षण हमें धीरे-धीरे प्रयोगात्मक विधियों की ओर ले जाता है जिससे व्यवहारों का अध्ययन निर्मित वातावरण में किया जाता है। इस विधि द्वारा कई प्रकार के निरीक्षण किए जाते हैं। बच्चों की सामाजिकता का पूर्ण अध्ययन किया जाता है जिसे *कम्यूनिटी सर्वे* (Community Survey) कहा जाता है। दूसरे प्रकार का निरीक्षण *स्थिति-विशेष-विश्लेषण* (Situational Analysis) कहा जाता है, जिसमें निरीक्षित बच्चों को विभिन्न अवस्थाओं तथा दशाओं में रखकर उनकी व्यवहार-प्रक्रियाओं का अध्ययन किया जाता है, यथा, उनके घरेलू व्यवहार की तुलना पाठशाला के भीतर के व्यवहार से की जाती है, अथवा किसी विशेष सामाजिक प्रक्रियाओं की तुलना विभिन्न सामाजिक दशाओं में की जाती है।

(४) परीक्षणात्मक वार्तालाप (Experimental Conversation)

§. [१४] प्रकरण §. [७] में निर्देशित किया जा चुका है कि प्रश्नावली-विधि को वैज्ञानिक रूप भी दिया जा चुका है। पियाजे तथा उनके सहवर्गियों ने वार्तालाप-विधि का उत्तम उपयोग किया है। उनकी विधि में प्रश्नावली तथा दिनचर्या की विधियाँ खिंच आयी हैं। बच्चों की बातें सुनकर अथवा उनसे प्रश्न करके उनके विषय में जानकारी प्राप्त की जाती है, किन्तु यह सब प्रायोगिक ढंग से किया जाता है। लिखित प्रश्न बड़े बच्चों से तथा वाचिक (Oral) छोटे बच्चों के लिए उपयुक्त होते हैं। गुडइनफ, शर्ली तथा फ्लैंक ने माता-पिता, शिक्षकों आदि से भी प्रश्न पूछे हैं। ग्रीफिथ ने पंचवर्षीय बच्चों के लिए एक

परीक्षणात्मक-प्रश्नावली उपस्थित की है। वास्तव मे, यह विधि प्रश्नावली ही है, किन्तु इसमें अधिक वैज्ञानिकता पायी जाती है। इससे बच्चों से आत्म-सचालित वार्तालाप करा के उनकी कल्पना का स्वरूप देखा जाता है।

(५) *माप-पद्धति* (Measurement Method)

§. [१५] वैज्ञानिक विधियों का एक स्वरूप है, निश्चित दशाओं में बच्चों की प्रक्रियाओं की संख्या-सूचक (Quantitative) जाँच करना तथा एक माप स्थिर करना। यह पद्धति बहुधा काम मे लायी जाती है। यह अन्य पद्धतियों में भी सहायक होती है। शारीरिक जाँच-पड़ताल में यह पहले-पहल काम में लायी गयी थी। इसके लिए भाँति-भाँति के यन्त्र बने होते हैं जिनके द्वारा ऊँचाई, तौल, शरीर के विभिन्न अंगों की लम्बाई-चौड़ाई-मुटाई इत्यादि की, माशपेशियों की विभिन्नता तथा शारीरिक गति-विषयक प्रक्रियाओ की जाँच की जाती है। मनोवैज्ञानिक क्रियाओं की गति-विधि का लेखा-जोखा तैयार किया गया है। स्मृति, ध्यान, तर्क, निर्णय, कल्पना, इन्द्रियजन्य संवेदन तथा प्रत्यक्ष-ज्ञान आदि का माप लिया जाता है

माप-विधि द्वारा जटिल मानसिक क्रियाओ, जैसे बुद्धि, सत्यता, ईमानदारी इत्यादि का माप लिया गया है। फ्रास के मनोवैज्ञानिक अलफ्रेड बिने (Alfred Binet) ने तो बुद्धि-विषयक विचित्रताओं अथवा लक्षणों की जाँच करके माप-पद्धति मे एक क्रान्ति मचा दी। इस मनोवैज्ञानिक के पश्चात् तो कितनों ने इस विधि में संशोधन तथा परिमार्जन उपस्थित किए। अमेरिका के प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक थार्नडाइक तथा टर्मन ने बुद्धि-माप को विशेष गति दी। इस विधि से शिक्षा-जगत् को विशेष लाभ हुआ है और बच्चों के निदान एवं नियमन मे प्रचुर सहायता मिली है। हमारे देश मे भी अब माप-पद्धति का प्रचलन आरम्भ हो गया है और आशा की जाती है कि शीघ्र ही भारतीय वातावरण में मानसिक क्रियाओं की जाँच सम्भव हो सकेगी।

(६) मान-निरूपक एव स्थान-निर्धारण की विधि (Rating and Ranking Scales)

§. [१६] मनोवैज्ञानिको को अभी तक अत्यन्त जटिल क्रियाएँ, जैसे व्यक्तित्व के विचित्र विषम रूप तथा चरित्र की कठिनतम गतियाँ, चक्कर में डाल देती हैं। इनको पढ़ने के लिए मनोवैज्ञानिकों ने अन्य विधियों के साथ मान-निरूपक तथा स्थान-निर्धारण की अनुपात-पद्धति निकाली है। विभिन्न लक्षणों को श्रेणियों का विभाजन दिया जाता है। क्रमशः प्रथम, द्वितीय, तृतीय ...आदि के स्थान सूचित किए जाते हैं। जब कोई बच्चा किसी विशेष व्यवहार-गति में सबसे ऊँचा स्थान ग्रहण करता है तो उसे प्रथम स्थान दिया जाता है और उसके प्रतिकूल वाले को निम्न श्रेणी दी जाती है और शेष बच्चे को बीच में अनुपात से बाँट दिया जाता है। इस विधि को कई रूपों मे बाँट दिया गया है। विभिन्न मनोवैज्ञानिकों ने विभिन्न सूचिकाएँ निर्धारित की हैं। किन्तु यह पद्धति अभी केवल काम-चलाऊ है। चरित्र तथा व्यक्तित्व की जाँच के लिए उत्तम साधन अपेक्षित है। इस पद्धति में बहुत से दोष हैं; यथा, (१) निरीक्षको मे किसी विशेष लक्षण की व्याख्या के विषय में मतभेद हो सकता है, जिसके फलस्वरूप किसी एक बच्चे को उत्तम और निकृष्ट दोनों श्रेणियाँ प्राप्त हो सकती हैं, (२) मध्यम श्रेणी, साधारण श्रेणी तथा अन्तिम श्रेणियों के विभाजन मे अनुरूपता नहीं भी पायी जा सकती, (३) व्यक्तिगत भाव-प्रभाव (Halo effect) पाया जा सकता है जिसके फलस्वरूप एक निरीक्षक किसी विशेष निष्कर्ष से प्रभावित होकर अथवा किसी विशेष गुण से अभिभूत होकर सब निष्कर्षों तथा गुणों को एक ही दृष्टिकोण से देखने लगता है। इस पद्धति में तीसरा दोष अधिकतर पाया जाता है। गेसेल महोदय ने इस पद्धति मे कुछ सुधार किया है। बच्चो की विभिन्न गुण-सरणियो की जाँच की जाती है जिससे जाँच मे और उसके विविध अनुपात मे बहुत अन्तर नहीं पड़ने पाता।

(७) *मन-शरीर की समुच्चय-अध्ययन-विधि* (Psycho-physical Studies)

§. [१७] यह विधि बहुत-सी प्रणालियों में काम आती है। चिकित्सकों का निदान, मानव-जाति के विभिन्न युगों में अवस्थित शरीर-ढाँचे का लेखा-जोखा, तथा शरीर-विज्ञान, ग्रन्थि-विज्ञान, स्नायु-विज्ञान और भोजन-शास्त्र-सम्बन्धी विविध अध्ययन बच्चों के जीवन-सम्बन्धी पहलुओं पर प्रकाश फेंकते हैं। इन अध्ययनों के फलस्वरूप बच्चों के शरीर तथा व्यवहार के विकासों पर एक साथ खोज की जाती है। सचमुच, यह विधि भी अच्छी है जिससे बालमनोविज्ञान को भाँति-भाँति की सहायता मिली है और हम बहुत-सी बातों में बच्चों के शरीर और मन को एक साथ देख पाते हैं।

(८) *संख्यात-विधि* (Statistical Method)

§. [१८] संख्यात-विधि अथवा गणित की सुनिश्चित रूप-रेखा की विधि ने निस्सन्देह हमारे माप के तथ्यों को अथवा निरीक्षित प्राप्त साधनों को एक सुनिश्चित गणित की भाषा का रूप दिया है। बिना गणित की सहायता के हम अपने कच्चे उपादानों को कोई एक रूप नहीं दे सकते और न हम तुलनात्मक अध्ययन कर सकते हैं। जब हम दो प्रकार के परिणाम पर पहुँचते हैं, अथवा दो दलों के अन्तर को जानना चाहते हैं, अथवा एक ही व्यक्ति के कार्य-व्यवहार के परिणाम को विभिन्न परिस्थितियों की भूमिका में देखना चाहते हैं तो हमारे लिए एक निश्चित गणित की व्याख्या की आवश्यकता पड़ती है। अतः मनोवैज्ञानिकों ने गणित की सहायता से मीन (Mean), मिडियन (Median), मोड(Mode), औसत (Average), सम्बन्धन, अनुपात (Coefficient of correlation) आदि विभिन्न गणित-सूत्रों की खोज की है जिससे हम माप-दण्ड से प्राप्त उपादानों की जाँच करते हैं तथा एक निश्चित निष्कर्ष पर पहुँच जाते हैं। इस पुस्तक में स्थान-स्थान पर इस विधि से प्राप्त परिणामों का प्रयोग होगा। वास्तव में, इस विधि से ही हम अपने माप-परिणामों को एक रूप दे पाते हैं,

और बच्चों की शिक्षा, नियमन आदि में सचेत होते हैं।

(९) *प्रयोग-पद्धति* (Experimental Method)

§. [१९] वैज्ञानिक प्रयोग की चर्चा ऊपर हो चुकी है। प्रयोग क्या है? नियन्त्रित परिस्थितियों में किसी विशेष प्रकार के निरीक्षण को प्रयोग कहते हैं। प्रयोगकर्ता किसी नियन्त्रण में बच्चों के स्वभाव की परीक्षा करते हैं। बालमनोविज्ञान की विभिन्न प्रणालियों का अन्तिम फल प्रयोग है। इस पद्धति की कई विधियाँ हैं (१) *नियन्त्रित दल* (Control group) का अधिक प्रयोग होता है। दो दलों का चुनाव होता है। ये दो दल या तो किसी विशेष जाति, अवस्था लिंग के हो सकते हैं अथवा निरीक्षक अपनी सुविधा तथा विषय के अनुरूप दो समानान्तर जोड़ों को काम में ला सकता है। इनमें से एक दल को निश्चित नियन्त्रण में रखा जाता है, अथवा उन्हें प्रयोगात्मक विषय में शिक्षित किया जाता है और दूसरे दल को पृथक् रखा जाता है। निश्चित समय में दोनों के व्यवहारों की तुलना की जाती है और एक निश्चित निष्कर्ष पर पहुँचा जाता है। गेसेल (Gessell) ने अपने प्रयोग में कई प्रकार के संशोधन किए हैं। बच्चों के स्वाभाविक व्यवहारों की जाँच के लिए निरीक्षक एक ऐसे पर्दे की (One-way screen) आड़ में खड़ा हो जाता है जहाँ से वह तो लड़कों को देख सके किन्तु लड़के उसे न देख सकें चल-चित्र (Photographic dome) द्वारा भी बच्चे की प्रत्येक गति उतार ली जाती है। ऐसा करने से बच्चों के सवेग भी परिलक्षित हो जाते हैं। चल-चित्र के प्रयोग से किसी लड़के के व्यवहार का बार-बार अध्ययन किया जा सकता है। दूसरी विधि *प्रयोग-भवन* (Experimental Cabinet) की विधि है। विज् (Weiss) नामक मनोवैज्ञानिक ने इसमें अधिक ख्याति पायी है। भवन में कई विभाग होते हैं जिनमें बच्चे बहुत देर तक रखे जाते हैं। परीक्षकों और निरीक्षकों की एक टोली होती है, जिससे बिना भ्रान्ति के निरीक्षण हो सके। निरीक्षक गुप्त रूप से ऐसी भाव-मुद्रा में होते हैं कि बच्चे उन्हें परख नहीं पाते। यह प्रयोग छोटे बच्चों पर

नहीं हैं। इसके कई कारण हैं। पहला कारण यह है कि अभी इस सम्बन्ध की बहुत-सी धारणाएँ अथवा मान्यताएँ प्रयोग से सिद्ध नहीं हो सकी हैं। दूसरा कारण यह है कि सम्मोहन के समय बच्चे विश्लेषण करने वाले से निर्देशित (Suggested) हो सकते हैं जिससे वे चित्त-विश्लेषक के मत की बात अनायास कह बैठेंगे। तीसरा कारण यह बतलाया जाता है कि यह पद्धति केवल एक सम्प्रदाय है जो अभी विश्वास पर ही टिका है; अभी वैज्ञानिक तथ्यता की परिधि से यह दूर है। बात चाहे जो हो, इसका निर्णय अभी भविष्य करेगा; किन्तु इतना सत्य है कि चित्त-विश्लेषण द्वारा निर्धारित मान्यताएँ बच्चों के जीवन-नियमन मे बड़ी सहायक सिद्ध हुई हैं और बालमनोविज्ञान को इस पद्धति से अधिक लाभ होने वाला है।

निष्कर्ष

.§. [२२] इस प्रकार हम देखते हैं कि बालमनोविज्ञान के अध्ययन की विधियों का विकास क्रम से आराम कुर्सी पर बैठ कर विचार करके मान्यताएँ (Armchair Speculations) स्थिर करने से लेकर वैज्ञानिक प्रयोगों (Scientific experiments) तक चला गया है। इस लम्बे समय मे भाँति-भाँति की प्रणालियाँ चल पड़ी हैं बालमनोवैज्ञानिक किसी एक पद्धति को लेकर नहीं चलता किन्तु किसी भी पद्धति द्वारा वैज्ञानिक ढंग से सत्य तक पहुँच सकता है। एण्डरसंन ने कहा है कि वैज्ञानिक पाप किसी विशेष पद्धति को स्वीकार करने में नहीं है, प्रत्युत किसी उपयुक्त और उपादेय पद्धति को ठीक से उपयोग न कर प्रतिकूल परिणाम प्राप्त करने में है। जब कोई उचित पद्धति उपस्थित हो और हम उसका उचित उपयोग न करें तो उससे लाभ के स्थान पर हानि होगी।

बचपन का वैज्ञानिक अध्ययन और उसकी महत्ता एवं उपयोगिता

.§. [२३] वास्तव में, बालमनोविज्ञान के मुख्य उद्देश्य हैं बच्चों

के विषय में भविष्यवाणी करना तथा जीवन को संयमित करना। ये उद्देश्य तभी सफल हो सकते हैं जब हमारी अध्ययन-विधियाँ बच्चों के विषय के तथ्यों को इकट्ठा करने में, उन्हे संगठित करने में, उनके विश्लेषण में तथा उनकी व्याख्या में वैज्ञानिक हों। बड़ी प्रसन्नता की बात है कि गत पच्चीस वर्षों से बालमनोविज्ञान की विधियाँ क्रमशः वैज्ञानिक शास्त्र का रूप पकड़ती जा रही हैं। बालमनोविज्ञान के विद्यार्थियों, तथा विशेषज्ञों, अभिभावकों, शिक्षकों आदि के मन की गति दार्शनिक होनी चाहिए जिससे कि वैज्ञानिक खोजों की व्याख्या समुचित हो सके; क्योंकि बिना जीवन-दार्शनिक बने अथवा बिना किसी निश्चित धारणाओं के हम वास्तविक व्याख्या करने में असमर्थ होंगे। दर्शन और शिक्षा के पहलू बालमनोविज्ञान को एक नयी दिशा देंगे। जिस देश की जैसी संस्कृति होगी, जैसी धर्म-परम्पराएँ होंगी, वसी ही व्याख्या की दार्शनिक भूमि होगी; किन्तु बालमनोवैज्ञानिक को वैज्ञानिक पहलू पर ही अपनी धारणाएँ अथवा मान्यताएँ स्थिर करनी हैं। मूल तत्वों एवं वैज्ञानिक तथ्यों की परिचर्या तो एक-सी होगी ही, हाँ, विभिन्न देशों के दर्शन और उनसे परिचालित सामाजिक भूमि पृथक्-पृथक् होगी और यही एक कारण विविध जातियों में नाना प्रकार के व्यक्ति-अन्तरों के रहते हुए भी समरसता उत्पन्न करेगा। बालमनोविज्ञान का ध्येय केवल इतना ही है कि वह बच्चों के मूल तत्वों को, चाहे वे प्रकृति-जन्य हों अथवा विशेष वातावरण से उत्पन्न हों, संयम में रखकर उन्हें प्रकृत रूप से बढ़ने दें। वैज्ञानिक विधियाँ निरपेक्ष हों, उनमें पक्षपात का रंग न लगा हो। हमें यह ध्यान में रखना है कि हम जब एक बच्चे का अध्ययन कर रहे हैं तो एक व्यक्ति का अध्ययन कर रहे हैं। ऐसी स्थिति में हमारी अध्ययन-पद्धति पक्षपात रहित एवं खुली हुई होनी चाहिए। बालमनोविज्ञान की विविध वैज्ञानिक विधियाँ हमें बच्चों के प्रति जागरूक बनाती हैं, हमें सतर्क करती हैं और हमें उनके प्रति कर्त्तव्यों की ओर ले जाती हैं। किन्तु

अधिक किया जाता है, क्योंकि छोटे बच्चे अपरिचित मनुष्यों के सामने कुछ लजा-से जाते हैं। ऊपर नियमबद्ध निरीक्षण-विधि के सिलसिले मे कहा गया है कि वह क्रमशः प्रयोगात्मक विधि के समकक्ष में आ सकती है। प्रयोग की विधि द्वारा जाँच-पट में संशोधन हो गया है। *संख्यात-विधि* (Statistical Analysis) से जाँच-पट द्वारा निर्धारित तथ्यों की जाँच पड़ताल होती है। मस्तिष्क की विभिन्न गतियों का विश्लेषण (Factor Analysis) भी प्रयोगात्मक पद्धति से किया जाता है। इसी प्रयोग-विधि के अन्तर्गत भाँति-भाँति की मनोवैज्ञानिक परीक्षाएँ (Psychological tests) भी आ जाती है, किन्तु विद्यार्थियों की सुविधा के लिए उनका विवेचन ऊपर किया जा चुका है, क्योंकि कुछ मनोवैज्ञानिक उसे पृथक् पद्धति मानते हैं। अतः यहाँ इतना जान लेना आवश्यक है कि बहुत-सी मनोवैज्ञानिक विधियाँ प्रयोग-पद्धति के अन्तर्गत आ जाती हैं। मनोवैज्ञानिक परीक्षाएँ जैसे सामान्य बुद्धि, सामाजिक बुद्धि, विविध झुकाव, शारीरिक गति-योग्यता, चरित-गुण तथा व्यक्तित्व-लक्षण आदि की परीक्षाएँ—प्रयोग पद्धति के अन्तर्गत गिनी जाती हैं। प्रयोगों का बालमनोविज्ञान के क्षेत्र में अधिक महत्व है; किन्तु इसके दोषों से परिचित होना भी आवश्यक है। प्रयोग-कर्त्ता की त्रुटियों पर ध्यान देना आवश्यक है। जब तक कई प्रयोगकर्ताओं का निष्कर्ष एक तथ्य पर न पहुँचे तब तक उनके प्रयोगों का कोई महत्व नहीं। इसी प्रकार जब तक प्रयोग की प्रामाणिकता स्थापित न हो जाय वह अयथार्थ हो सकता है।

(१०) *चिकित्सा-सम्बन्धी पद्धति* (Clinical Method)

§. [२०] कभी-कभी बालमनोविज्ञान को विविध प्रकार की सहायता मिलती है। किसी व्यक्ति-विशेष की पूरी जीवन-गाथा (Case history), जो उसकी वंश-परम्परा, पाठशाला-जीवन, सामाजिक अवधान आदि कहानियों-वार्ताओं से भरी रहती है, तथा विभिन्न समयों में किए गए साक्षात् (Interviews), माप-पद्धति से निर्धारित परिणाम, चिकित्सक के निदान और शारीरिक रोगों को दूर करने के उपाय इत्यादि इस

पद्धति के अन्तर्गत आ जाते हैं। जब सब प्रकार के उपयोगी उपादान मिल जाते हैं तो उनके आधार पर चिकित्सक एक धारणा बनाता है और जब रोग दूर करने में सफल हो जाता है, तब यह विधि प्रयोग से मिलने-जुलने लगती है। हाँ, यथार्थ वैज्ञानिक निष्कर्ष निकलने के पूर्व इस प्रकार बहुत-से लड़कों का अध्ययन अपेक्षित है और ऐसी अवस्था में उपयुक्त नियन्त्रण का होना परम आवश्यक है।

(११) चित्त-विश्लेषण-पद्धति (Psycho-analysis)

§. [२१] प्रसिद्ध चिकित्सक और चित्त-विश्लेषक डा० फ्रायड ने तथा उसकी शिष्य-परम्परा ने एक पृथक् ही सिद्धान्त प्रतिपादित किया है। इस विद्या को अभी बहुत लोग विज्ञान अथवा शास्त्र मानने को तैयार नहीं हैं, विशेषतः अमेरिकन मनोवैज्ञानिक इसका घोर विरोध करते हैं; तथापि चित्त-विश्लेषण-पद्धति मे बहुत बड़ा साहित्य तैयार हो गया है। इस नये मनोविज्ञान ने, जिसे अचेतन का मनोविज्ञान भी कहा जाता है, अचेतन को तोड़कर मानसिक रोगों की चिकित्सा की है। स्वप्नों मे घुसकर बचपन की घटनाओं का मानसिक रोगों से संबंध स्थापित किया गया है। फ्रायड, युंग, एडलर, स्टेकेल, अर्नेस्ट जोंस (Freud, Jung, Adler, Stekell, Earnest Jones) आदि महोदयों का कथन है कि जब बचपन में हमारी प्रवृत्तियाँ किसी कारण दब जाती हैं और दब जाने के कारण जब हमारा अचेतन प्रगुम्फित होता जाता है तो एक दिन ऐसा आता है कि हमारा व्यक्तित्व नियन्त्रण से बाहर हो जाता है। हमारे मानसिक रोगों के मूल में हमारी वेदनाएँ, दबी (Repressed) हुई स्मृतियाँ तथा दुर्दम्य और बलवती इच्छाएँ हैं। अतः बचपन बहुत ही महत्व-पूर्ण है; बचपन की साधों की परिचर्या बड़ी कोमलता से होनी चाहिए। चित्त-विश्लेपण से बहुत से प्रौढ़ व्यक्तियों का बचपन जान लिया जाता है। इससे हमें यह संकेत मिलता है कि बचपन का लालन-पालन बहुत ही सावधानी से होना चाहिए। किन्तु इस सिद्धान्त अथवा पद्धति को अभी बहुत से बालमनोवैज्ञानिक मानने को तैयार

नहीं हैं। इसके कई कारण हैं। पहला कारण यह है कि अभी इस सम्बन्ध की बहुत-सी धारणाएँ अथवा मान्यताएँ प्रयोग से सिद्ध नहीं हो सकी हैं। दूसरा कारण यह है कि सम्मोहन के समय बच्चे विश्लेषण करने वाले से निर्देशित (Suggested) हो सकते हैं जिससे वे चित्त-विश्लेषक के मत की बात अनायास कह बैठेंगे। तीसरा कारण यह बतलाया जाता है कि यह पद्धति केवल एक सम्प्रदाय है जो अभी विश्वास पर ही टिका है; अभी वैज्ञानिक तथ्यता की परिधि से यह दूर है। बात चाहे जो हो, इसका निर्णय अभी भविष्य करेगा; किन्तु इतना सत्य है कि चित्त-विश्लेषण द्वारा निर्धारित मान्यताएँ बच्चों के जीवन-नियमन मे बड़ी सहायक सिद्ध हुई हैं और बालमनोविज्ञान को इस पद्धति से अधिक लाभ होने वाला है।

निष्कर्ष

.§. [२२] इस प्रकार हम देखते हैं कि बालमनोविज्ञान के अध्ययन की विधियों का विकास क्रम से आराम कुर्सी पर बैठ कर विचार करके मान्यताएँ (Armchair Speculations) स्थिर करने से लेकर वैज्ञानिक प्रयोगों (Scientific experiments) तक चला गया है। इस लम्बे समय मे भाँति-भाँति की प्रणालियाँ चल पड़ीं हैं बालमनोवैज्ञानिक किसी एक पद्धति को लेकर नहीं चलता किन्तु किसी भी पद्धति द्वारा वैज्ञानिक ढंग से सत्य तक पहुँच सकता है। एण्डरसन ने कहा है कि वैज्ञानिक पाप किसी विशेष पद्धति को स्वीकार करने में नहीं है, प्रत्युत किसी उपयुक्त और उपादेय पद्धति को ठीक से उपयोग न कर प्रतिकूल परिणाम प्राप्त करने में है। जब कोई उचित पद्धति उपस्थित हो और हम उसका उचित उपयोग न करें तो उससे लाभ के स्थान पर हानि होगी।

बचपन का वैज्ञानिक अध्ययन और उसकी महत्ता एवं उपयोगिता

.§. [२३] वास्तव में, बालमनोविज्ञान के मुख्य उद्देश्य हैं बच्चों

के विषय में भविष्यवाणी करना तथा जीवन को संयमित करना। ये उद्देश्य तभी सफल हो सकते हैं जब हमारी अध्ययन-विधियाँ बच्चों के विषय के तथ्यों को इकट्ठा करने में, उन्हे संगठित करने में, उनके विश्लेषण में तथा उनकी व्याख्या में वैज्ञानिक हों। बड़ी प्रसन्नता की बात है कि गत पच्चीस वर्षों से बालमनोविज्ञान की विधियाँ क्रमशः वैज्ञानिक शास्त्र का रूप पकड़ती जा रही हैं। बालमनोविज्ञान के विद्यार्थियों, तथा विशेषज्ञों, अभिभावकों, शिक्षकों आदि के मन की गति दार्शनिक होनी चाहिए जिससे कि वैज्ञानिक खोजों की व्याख्या समुचित हो सके; क्योंकि बिना जीवन-दार्शनिक बने अथवा बिना किसी निश्चित धारणाओं के हम वास्तविक व्याख्या करने में असमर्थ होंगे। दर्शन और शिक्षा के पहलू बालमनोविज्ञान को एक नयी दिशा देंगे। जिस देश की जैसी संस्कृति होगी, जैसी धर्म-परम्पराएँ होंगी, वसी ही व्याख्या की दार्शनिक भूमि होगी; किन्तु बालमनोवैज्ञानिक को वैज्ञानिक पहलू पर ही अपनी धारणाएँ अथवा मान्यताएँ स्थिर करनी हैं। मूल तत्वों एवं वैज्ञानिक तथ्यों की परिचर्या तो एक-सी होगी ही, हाँ, विभिन्न देशों के दर्शन और उनसे परिचालित सामाजिक भूमि पृथक्-पृथक् होगी और यही एक कारण विविध जातियों मे नाना प्रकार के व्यक्ति-अन्तरों के रहते हुए भी समरसता उत्पन्न करेगा। बालमनोविज्ञान का ध्येय केवल इतना ही है कि वह बच्चों के मूल तत्वों को, चाहे वे प्रकृति-जन्य हों अथवा विशेष वातावरण से उत्पन्न हों, संयम में रखकर उन्हें प्रकृत रूप से बढ़ने दें। वैज्ञानिक विधियाँ निरपेक्ष हों, उनमें पक्षपात का रंग न लगा हो। हमें यह ध्यान में रखना है कि हम जब एक बच्चे का अध्ययन कर रहे हैं तो एक व्यक्ति का अध्ययन कर रहे हैं। ऐसी स्थिति में हमारी अध्ययन-पद्धति पक्षपात रहित एवं खुली हुई होनी चाहिए। बालमनोविज्ञान की विविध वैज्ञानिक विधियाँ हमें बच्चों के प्रति जागरूक बनाती हैं, हमें सतर्क करती हैं और हमें उनके प्रति कर्त्तव्यो की ओर ले जाती हैं। किन्तु

बालमनोविज्ञान के सभी तत्वों तथा तथ्यों का परिज्ञान सभी अभिभावकों, माता-पिता तथा अध्यापक को सदैव उद्बोधन नहीं दे सकता, क्योंकि किसी विषय का ज्ञान हमे सदैव वैसा बनने अथवा बनाने की केवल प्रेरणा भर दे सकता है, हमें केवल उद्घोषित कर सकता है। वास्तविक ज्ञान तो उसके परिशीलन में है। अतः प्रबुद्ध अध्यापक अथवा माता-पिता बच्चों की शिक्षा-दीक्षा अथवा पालन-पोषण में अधिक सहायक सिद्ध हो सकते हैं। बालमनोवैज्ञानिकों का दावा है कि यदि उनके कहने के अनुसार बचपन को पढ़ा जाय अथवा बच्चो की परिचर्या की जाय तो मानव का कल्याण हो सकता है। इसी कथन में बचपन के मनोविज्ञान के अध्ययन की महत्ता एवं उपयोगिता छिपी है।

———

दूसरा अध्याय

बचपन-विकास में आनुवंशिकता एवं वातावरण का स्थान

.§. [१] बचपन-विकास की पूर्ण जानकारी के लिए आनुवंशिकता एवं वातावरण का अध्ययन नितान्त आवश्यक है। बच्चों की मौलिक प्रकृति तथा उसके रूप-भेद पर इस अध्ययन से प्रभूत प्रभाव पड़ता है। अभाग्यवश अभी इस विषय में अन्तिम सत्य का उद्घाटन नहीं हो सका है। प्रत्येक व्यक्ति कुछ नैसर्गिक गुणों को लेकर अवतरित होता है और उनका विकास किसी निश्चित वातावरण में क्रमशः खिलता है। वास्तव में, व्यक्ति आनुवंशिकता एवं वातावरण का गुणनफल है। गहन अन्वेषणों के उपरान्त व्यक्ति-विकास के विषय में कुछ धारणाएँ उपस्थित की गयी हैं। इस विषय में दो मत स्पष्ट हैं। एक आनुवंशिकता पर और दूसरा वातावरण पर बल देता है। हम इन दोनों मतों पर प्रकाश डालते हैं जिससे आदि शक्ति, मूल तत्वों एवं उनके रूप-भेदों पर प्राणि-विद्या (Biology) एवं भ्रूण-विद्या (Embryology) द्वारा निर्धारित गवेषणाएँ स्पष्ट हो जायँ और बच्चों के विकास में निहित शक्तियों का परिचय मिल जाय। आनुवंशिकता मौलिक तत्व का द्योतक होती है और वंश-परम्परा के साथ जुटी होती है। वातावरण को कभी-कभी सामाजिक आनुवंशिकता (Social Heredity) भी कहते हैं। यह द्विधा होता है: भौतिक एवं सामाजिक (Physical & Social)। व्यक्ति मौलिक गुणों का विकास किसी वातावरण में ही करता है और इस प्रकार भौतिक एवं सामाजिक वातावरणों के साथ अपने भीतर भी एक व्यक्तिगत वातावरण (Personal Environment) का निर्माण करता जाता है।

आनुवंशिकता के नियम (Laws of Heredity)

.§. [२] सर्वप्रथम हम आनुवंशिक (वंशपरम्परागत) गुणों की चर्चा तथा उसके विभिन्न नियमों की व्याख्या करेंगे। इस कार्य में

हमे प्राणि-विद्या से अधिक सहायता मिलती है। इस विद्या के विशारदों ने अपने अनुसंधानों से निम्न नियम उपस्थित किए हैं। आनुवंशिक गुणों से हमारा अभिप्राय उस अनुरूपता (Resemblance) से है जो अविच्छेद्य रूप से माता-पिता तथा उनके बच्चों में पायी जाती है (Like begets like)। गर्भाधान के क्षण से लेकर जब तक बच्चे का जन्म नहीं होता, तब तक 'क्रोमोज़ोम' (Chromosomes) के पारस्परिक मिलन अथवा विभाजन से मौलिक अंश, जिन्हे 'जीन' (genes) कहते हैं, अपनी विचित्रताओं अथवा विशेषताओ के निश्चय में बहुत कुछ त्याग करते हैं और बहुत कुछ ग्रहण करते हैं जिसके फलस्वरूप बच्चा एक-रूप धारण करता है। ये मौलिक जीवांश (जींस) आनुवंशिक गुणो के वहनकर्ता (Carriers of Heredity) कहे जाते हैं। इनका वर्णन पुनः होगा।

(१) अनुरूपता

माता-पिता तथा बच्चों में अनुरूपता पायी जाती है। कहा जाता है कि 'बच्चे अपने पिता के लड़के होते है' (His father's own child), बच्चे पुरानी चट्टान के टुकड़े होते हैं (A chip of the old block)। ये उक्तियाँ मानव-जाति में प्राचीन समय से विद्यमान हैं। सामान्य निरीक्षण से ही अपने ही विविध कुटुम्बो में पारस्परिक समता दृष्टिगोचर होती है। शारीरिक रूप में, जैसे आँखो और केशों के रंग-विशेष, गठन, मस्तिष्क-स्वरूप, हाथों या मुख का सादृश्य हमें यह निर्देशित करता है कि अमुक बच्चा अपने पिता अथवा पितामह का सादृश्य-स्वरूप है। अच्छी नयन-ज्योति तथा दीर्घ जीवन, कौटुम्बिक विशेषताएँ हैं। वामहस्त-गति-गुण, अंगुलि-स्वरूप, अथवा कुछ शरीर-अतिरेक, ओष्ठ-रूप, इन्द्रिय दोष, शारीरिक रोग-आदि मे एकरसता पायी जाती है। कभी-कभी कुछ मानसिक गुण, जैसे संगीत-संवेदन, गणित-योग्यता तथा भाषा-विषयक असमर्थता आदि में बच्चों और उनके माता-पिता में अनुरूपता पायी जाती है। इन तथ्यों से स्पष्ट होता है कि 'अनुरूपता का नियम' आनुवंशिकता के गुणों पर ही आधारित है। किन्तु

अनुरूपता न हो तो आनुवशिकता का प्रभाव नहीं होता ऐसा नहीं कहा जा सकता। एक ही माता पिता की दो सन्तानें एक ही पैतृक अन्वयप्राप्त लक्षण नहीं भी पा सकतीं। 'क्रोमोज़ोम' के चौवीस जोड़ों में, जिनमें आधा भाग पिता से और शेष भाग माता से मिलता है, संगठन की विभिन्न प्रतिक्रियाएँ अथवा सम्भावनाएँ पायी जाती हैं। इस प्रकार गणित के माध्यम से हम २८२, ४२६, ५३६, ४८१ विविध प्रकार पा सकते हैं। यही अस्थिरता, परिवर्तनशीलता और बहुभेदता (Variability) का कारण है जिसके फलस्वरूप दो सन्तानें विभिन्न प्रकृतियों वाली होती हैं। यह तत्व हमें दो अद्भुत निष्कर्ष देता है। इससे वंश में अनुरूपता दृष्टिगोचर होती है और दूसरे, मानव-प्रकृति को उत्पन्न करने वाले कीटाणुओं की विषमता तथा जटिलता का आभास मिलता है। इसी नियम (Law of variation) के अनुसार कभी-कभी मूर्ख और बुद्धिहीन जनक और जननियों की सन्तानें प्रतिभापूर्ण, तथा बुद्धिमान माता-पिताओ की सन्तानें मूर्ख, छोटे ढाँचे वाले माता-पिताओं की सन्तानें लम्बी अथवा कलाहीनों की सन्तानें कलाविद् पायी जाती हैं।

(२) अस्थिरता तथा परिवर्तनशीलता

आनुवंशिकता से ही आदि प्रकृति (Nature) नहीं निश्चित होती, एक बच्चे की उत्पत्ति में पितृकुल की दो पीढ़ियाँ (Two lines of ancestry) पायी जाती हैं। अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'हेरिडिटरी जेनिस' में गाल्टन महोदय ने यह प्रदर्शित किया है की बच्चों को मौलिक प्रकृति तथा गुण-बद्धता का अर्द्धांश पिता-प्रभाव से, चतुर्थांश पितामह-प्रभाव से, अष्टांश प्रपितामह-प्रभाव से ...क्रमशः इसी प्रकार ज्यामिति के अनुपात (Geometrical Progression) से उपलब्ध होता है। इस प्रकार विभिन्न आकारों और गुणों की सत्ता का, जो पिता के अनुरूप नहीं मिलती, और जिससे कभी-कभी आकाश-पाताल का अन्तर दीखता है, उद्घाटन किया जा सकता है।

(३) पितृकुल की दो पीढ़ियाँ

यदि इस वंशावली (Pedigree) का ठीक से अध्ययन करें तो किसी बच्चे के माता-पिता से प्रतिकूल प्रवृत्ति का रहस्य विदित हो सकता है।

मानव-समाज में कभी-कभी एक कुटुम्ब में विवाह की प्रथाएँ पायी जाती हैं जिसके फलस्वरूप कुछ प्रकृति-विचित्रताओं का दूने अथवा चौगुने रूप में पाया जाना अथवा उसी रूप में उनका विलयन होना पाया जाता है। मानवी बपौती के विषय में, जहाँ पर निज कुल में ही पारस्परिक विवाह-सम्बन्ध स्थापित होता है, मौलिक प्रकृति का पाया जाना अधिक मात्रा में सम्भव है। सम्भवतः इसी कारण कुछ जाति-विशेष में अधिक भाई-चारे का पाया जाना, व्यक्ति-विशेष-विभिन्नता का न पाया जाना, अथवा कोई अभूतपूर्व कार्य करने की अक्षमता का दृष्टिगोचर होना सम्भव हो सका है। प्राणी-विज्ञान के विद्वानों ने इस आनुवंशिक क्रम को निज कुल-उत्पादन (Inbreeding) का नियम कहा है।

(४) कुल-उत्पादन

(५) प्रतिगमन अथवा लौटाव

बहुधा यह देखने में आता है कि माता-पिता की कितनी सन्तानें विद्या-विवेक तथा शारीरिक संगठन में माता-पिता के उन्हीं गुणों के समान नहीं होतीं। सर्वथा सादृश्यता नियम-विरुद्ध है। उनकी प्रकृति औसत गुण-धर्म के इधर अथवा उधर पायी जायगी। यदि किसी पिता के पुत्रों की ऊँचाई का लेखा-जोखा लिया जाय तो यह बात स्पष्ट हो जायगी। औसत से ऊँचाई एक या दो इञ्च इधर-उधर पायी जायगी। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रकृति सदैव सन्तुलनशील होती है, सदैव औसत की ओर मर्यादा को खींचती रहती है, और इस प्रकार प्रतिगमन तथा लौटाव (Regression) होता रहता है जिसके फलस्वरूप अस्थिरता तथा परिवर्तनशीलता के सिद्धान्त के अनुसार नयी-नयी सम्भावनाएँ, प्रतिभाएँ, और गुण-विशेष सदैव प्रकट होते रहते हैं। इस नियम से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि किसी महापुरुष के घर में दुराचारी सन्तानें क्यों उत्पन्न हो जाती हैं अथवा मन्दबुद्धि माता-पिता को

प्रतिभाशाली सन्तानें कैसे प्राप्त हो जाती हैं। वैज्ञानिकों का कहना है कि आनुवंशिकता में व्यक्त (Dominant) एवं सुप्त (Recessive) दो प्रकार के गुण प्राप्त होते हैं जो भावी सन्तान मे प्रकट होते हैं। संयोग एवं परिस्थितियों के वश कभी सुप्त गुण व्यक्त तथा व्यक्त सुप्त हो जाता है। इसी कारण से कई पीढ़ियों के उपरान्त भी पूर्वजों के गुण सन्तानों में प्रकट होते रहते हैं।

(६) अर्जित गुणों का संक्रमण

क्या माता-पिता द्वारा अर्जित गुण बच्चों मे संक्रमित होते हैं? अभी यह विषय विवाद-ग्रस्त है। विभिन्न वैज्ञानिकों ने विभिन्न बाते कहीं हैं, जिससे विषय की जटिलता सिद्ध होती है। क्या किसी कवि का लड़का जो अपने पिता की प्रतिभा के अतिरेक के क्षणों में पैदा होता है, अपने दूसरे भाई की अपेक्षा जो उसी पिता की प्रतिभा के विकास के आरम्भ में पैदा होता है, अधिक प्रतिभा का कवि हो सकता है? प्रसिद्ध प्राणि-विद्या-विशारद लैमार्क (Lamarck) तथा उसके अनुगामी मनोवैज्ञानिकों तथा प्राणि-शास्त्रज्ञों ने विश्वास किया है कि अर्जित गुण-धर्म प्रेषित किये जा सकते हैं (Acquired traits are transmitted)। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक मैक्डूगल (McDougall) ने चूहों पर प्रयोग करके यह सिद्ध किया है कि अर्जित गुण प्रेषित किए जा सकते हैं। लैमार्क, मैक्डूगल तथा हैरिसन ने व्यक्त किया है कि भावी संतति अर्जित गुणों को भी वंश-परम्परा से प्राप्त करती है। इस मत से प्रत्येक जीव आवश्यकतानुसार अपने को वातावरण के अनुकूल बनाता है, जिससे उसके आचरणों-अवयवों में परिवर्तन होता है। अफ्रीका का जीराफ़ इस मत की पुष्टि करता है, क्योंकि उसकी जाति को पत्तियों को खाने के लिए ऊँची ग्रीवा चाहिए थी। किन्तु इस धारणा के विरुद्ध श्री विज़मैन (Weisman) तथा उसके अनुयायियों ने स्वर ऊँचा किया है। इन लोगों का कहना है कि यदि किसी कुशल दर्ज़ी का पुत्र कुशल दर्ज़ी होता है, यदि किसी कलाविद् की सन्तान कलाविद्

होती है, अथवा किसी वैज्ञानिक का लड़का वैज्ञानिक होता है तो इसका कारण मौलिक प्रकृति है जो प्रत्येक पीढ़ी में अविच्छेद्य रूप से पायी जा सकती है। वीज़मैन कई पीढ़ियों तक चूहों की दुम काटते चले गए किन्तु नवजात चूहे दुम से विहीन न हो सके। इससे उन्होंने निष्कर्ष निकाला कि सन्तान अपने माता-पिता के अर्जित गुणों को संक्रमित नहीं करती। यदि संगीतज्ञ पिता का पुत्र संगीतज्ञ होता है तो यह उसके वातावरण या मौलिक प्रकृति का कारण है। वीज़मैन का पुरातन सिद्धान्त "बीज-कोष की सनातनता" (Continuity of germ-plasm) इस विषय में प्रसिद्ध है, जिसके द्वारा आनुवंशिक गुण बीज-कोषों द्वारा वितरित होते हैं। इन मौलिक कोषों का नाश नहीं होता प्रत्युत वे निरन्तर रूप में भावी सन्तानों में प्रवाहित होते रहते हैं। प्रत्येक पिता बीज-कोषों का संरक्षक होता है। अतः अर्जित गुणों के संक्रमण की बात ही नहीं उठती। इन मतों से दूर हट कर हम कह सकते हैं कि वास्तव में, मानव-जाति असभ्यावस्था से सभ्यावस्था में आयी है, और धीरे-धीरे भाषा-संस्कृति का विकास होता आया है जिसके फलस्वरूप मानवी प्रतिभाएँ विभिन्न रंगों में खिलती आयी हैं। इन सब का कारण सामाजिक दशाओं का परिवर्तन है अथवा वरण करने का नियम है। प्रसिद्ध प्राणि-शास्त्रज्ञ डारविन ने अपने विकासवाद (Evolution) के सिद्धान्त के अनुसार अर्जित गुणों के संक्रमण को सिद्ध किया है। उनका सिद्धान्त सर्वविदित है।

(७) आकस्मिक परिवर्तन

यह विचित्र-सी बात है कि कभी-कभी मौलिक जीव-अंश में आकस्मिक परिवर्तन (Mutation) हो जाता है जिसके फलस्वरूप किसी वंश या कुल में न पाया जाने वाला कोई विशेष गुण हठात् दृष्टिगोचर हो सकता है। प्राणि-शास्त्र के कुछ विद्वान इसका कारण रासायनिक-क्रिया (Chemical action) बताते हैं। किन्तु अभी इस नियम को सब लोग मानने में असमर्थ हैं। सत्य चाहे जैसे प्रकट किया जाय, किन्तु बहुधा यह देखने में आया है कि किसी

कुल में परम्परा के प्रतिकूल गायक, कवि आदि उत्पन्न हो गये हैं और उनकी प्रतिभा से लोग चकित हो गए हैं। डारविन ने अपने 'प्राकृतिक निर्वाचन' (Natural Selection) 'सबलतम की स्थिरता' (Servival of the fittest), 'प्रयोग-एवं-अप्रयोग' (Use & Disuse) के नियमों के अतिरिक्त यह भी सिद्ध किया है कि अर्जित गुणों का संक्रमण (१) क्रमिक परिवर्तन (Continuous Variation) और आकस्मिक परिवर्तन (Discontinuous Variation or Mutation) दोनों रूपों में होता है। किन्तु डारविन के इस सिद्धान्त से अन्य मनोवैज्ञानिक सहमत नहीं हैं।

(८) प्रत्यावर्तन

यह देखने में आता है कि कभी-कभी जीवाणुओं के अनन्त आवर्तन-विवर्तन में कोई गुण-विशेष, जो कई पीढ़ियों से नहीं प्रकट हुआ था, अचानक दृष्टिगोचर हो जाता है, जिसे प्रत्यावर्तन (Reversion) का नियम कहते हैं। जिस सन्तान में कोई विशेष गुण, जो कई पीढ़ियों से विलुप्त था, और जिसके बारे में समय के अतिरेक से कोई ज्ञान नहीं था, (क्योंकि बहुधा हम लोग अपने सभी पूर्व-पुरुषों के बारे में सभी बातें नहीं जानते) उभर आता है तो उस सन्तान को प्रत्यावर्तित सन्तान कह सकते हैं। पाठक इस नियम को आकस्मिक परिवर्तन का नियम न समझ बैठें। दोनों में मौलिक विभेद है। आकस्मिक परिवर्तन के नियम में नए गुण का उत्पन्न होना निहित है और प्रत्यावर्तन नियम में पीढ़ियों से लुप्त गुण का अचानक दीख पड़ना है।

(९) यौन-सूत्र का नियम

प्राणि-विज्ञान ने स्पष्ट किया है कि बहुत से वंशपरम्परानुगत तथ्य यौन-सूत्रों से संयोजित होते हैं। रक्त के जम जाने की शक्ति का (Coagulating) अभाव, जिसे 'हिमोफीलिया' (Haemophilia) कहते हैं, जिसके फलस्वरूप रक्त-प्रवाह भयंकर रूप से होने लगता है, यौनिक (Sex linkage) है। पुरुष इससे कष्ट पाते हैं, यद्यपि यह स्त्रियों द्वारा ही प्रेषित होता है। यह बात रंग-अन्धापन

बुद्धि-विवेक में साधारण योग्यता के थे। यदि वातावरण का महत्व अधिक होता है तो इन दोनों दलों के व्यक्तियों में प्रसिद्ध व्यक्तियों का अनुपात बराबर-बराबर होना चाहिये, क्योंकि सभी व्यक्ति इङ्गलैण्ड के अच्छे कुटुम्ब के और एक ही स्थिति के थे।

आनुवंशिकता के विषय में अध्ययन : गाल्टन

उनका निष्कर्ष यों था : पहले दल में ८६ पिता, ११४ भाई, १२६ लड़के—कुल मिलाकर ३२२ व्यक्ति महत्वशाली पाये गए; ५२ पितामह, ३७ पोते, ५३ चाचा, ६१ भतीजे-भाञ्जे—कुल मिलाकर २०३ व्यक्ति महत्वशाली पाये गए। इस प्रकार ६७७ सम्बन्धियों में कुल ५२५ प्रतिभाशील व्यक्ति पाये गए। दूसरे दल में केवल १ पिता, १ भाई, १ लड़का, २ पितामह, ३ पोते, ३ चाचा, और ३ भतीजे साथ-साथ महत्वशाली पाए गए। इस प्रकार ६७७ औसत महत्ता वाले व्यक्तियों में, जो उसी प्रकार के समाज तथा स्थिति के थे, केवल ४ व्यक्ति प्रतिभाशील पाए गए। वुड (Wood) का भी निष्कर्ष गाल्टन महोदय के समान ही है। उन्होंने यूरोप के राजकीय घरानों के ६७१ व्यक्तियों का अध्ययन किया और गम्भीर अध्ययन करने के उपरान्त कहा कि यदि पूर्वजों में कोई गहरा विरोध पाया गया तो वह उनकी सन्तानों में भी पाया गया। यदि कोई विशेषता किसी एक पूर्वज में पायी गयी तो वह उसके बच्चों में भी देखी गयी। वह विशेषता यदि केवल एक माता-पिता में ही पायी गयी तो वह उसकी आधी सन्तानों में देखी गयी, यदि वह किसी एक ही में अर्थात् माता अथवा पिता में पायी गयी तो वह केवल उसकी चौथाई सन्तान में देखी गयी। यह निष्कर्ष गाल्टन तथा मेण्डेल से बहुत मिलता है।

वुड

जुड़वाँ बच्चे (युग्मज = Twins) दो प्रकार के होते हैं : समान और असमान (Identical & Fraternal)। समान जुड़वाँ बच्चे एक ही अण्ड-पिण्ड (Ovum) से उत्पन्न होते हैं और वे या तो लड़के ही होते हैं या केवल लड़कियाँ। समान जुड़वाँ बच्चों के वंशपरम्परागत

गुण एक-से होते हैं। असमान जुड़वों से बच्चे विभिन्न लिंग के होते हैं; वे दो अण्ड-पिण्ड से उत्पन्न होते हैं किन्तु साथ ही। इस असमान दल में भिन्न-भिन्न मौलिक प्रकृतियाँ पायी जाती हैं। हम यहाँ पर दोनों प्रकार के जुड़वाँ बच्चों की तुलना भिन्न-भिन्न समयों में उत्पन्न भाई-बहनों से करते हैं।

जुड़वाँ बच्चों का अध्ययन : थार्नडाइक, हॉलिजिगर, गाल्टन

इस सम्बन्ध में प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक थार्नडाइक (Thorndike) का अध्ययन महत्वपूर्ण है। उन्होंने पचास जुड़वाँ बच्चों का अध्ययन किया और उनकी तुलना दूसरे भाई-बहनों (Siblings) से की। यदि जुड़वाँ बच्चों में समानता पायी जायगी तो यह सिद्ध होगा कि मौलिक-प्रकृति का महत्व वातावरण से अधिक है। थार्नडाइक ने समान प्रयोग करके गाल्टन, वुड के सिद्धान्तों की पुष्टि की। इससे यही सिद्ध होता है कि वातावरण का महत्व उतना नहीं है जितना कि मौलिक वंशानुक्रम-प्रकृति का। हॉलिजिगर (Holzinger) ने ५० समान जुड़वाँ बच्चों की तुलना ५२ असमान जुड़वाँ बच्चों से की और इस परिणाम पर पहुँचे कि प्रथम दल में समानता का अनुपात सम्बन्ध ·६० था और दूसरे दल मे केवल ६० था। साधारण भाई-बहनों में अनुरूपता का सम्बन्ध केवल ·५० था, चचेरे भाई–बहनों में वही सम्बन्ध केवल ·२५ का था। बच्चों और माता-पिता में अनुपात-सम्बन्ध ·४० का था। वे भाई और बहन जो दूसरे वातावरण में पाले गए उनके सम्बन्ध का अनुपात ·२५ था। इस अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि वंशानुक्रम का महत्व वातावरण से अधिक है। मानसिक योग्यता में मौलिक प्रकृति ७० या ८० प्रतिशत पायी जाती है, शेष वातावरण का प्रभाव होता है। इसी प्रकार बहुत से अध्ययन किए गए हैं जिनका विवरण थोड़े में दिया जाता है। गाल्टन महाशय ने आठ जुड़वाँ बच्चों के जीवन को पढ़ा और निष्कर्ष निकाला कि वे एक दूसरे के बिल्कुल समान हैं। उनकी तुलना उन्होंने एक कारखाने मे निर्मित एक ही प्रकार की दो घड़ियों से की-

मे भी देखी जाती है जो पुरुषों मे स्त्रियों की अपेक्षा चौगुने रूप में पाया जाता है।

एक विशिष्ट नियम है मण्डलवाद (Mendalism) जिससे हम यह जानते है कि किस प्रकार बच्चों में विशेषताएँ विचित्र अवस्था को प्राप्त होती हैं। एक पीढ़ी में बच्चे न तो पिता के समान होते हैं और न माता के, किन्तु, तीन या चार पीढ़ियों के उपरान्त कुछ पूर्वजों के सदृश दीख पड़ते हैं। मेण्डेल महोदय ने दो प्रकार की बड़ी और छोटी मटरों का आपस मे सयोग कराया। इस संयोग से जो प्रतिक्रिया हुई वह बड़ी मटरों के तदनुरूप हुई और छोटी मटरो की विशेषता दब-सी गई, किन्तु उसका भाव लुप्त नहीं हुआ। शक्तिशाली गुण (Dominant characteristics) का आविर्भाव हुआ और दुर्बल गुण (Recessive) दबा रहा जो बाद की पीढ़ियों में स्पष्ट हो सका। फिर जब उनमें संयोग कराया गया तो परिणामतः २५ प्रतिशत शक्तिशाली और उतना ही दुर्बल गुण का द्योतक सिद्ध हुआ, और शेष ५० प्रतिशत दूसरी पीढ़ी के सदृश था अथवा २५ प्रतिशत गुणों से विभिन्न पाया गया। इस प्रकार अन्त मे ३ और १ का अनुपात पाया गया। यही क्रिया जानवरों में भी लागू हुई। काले मुर्गों अथवा मुर्गियों का सयोग श्वेत मुर्गों अथवा मुर्गियों से कराया गया, जिसके फलस्वरूप जो सन्तानें हुईं वे स्लेटी आसमानी रंग की हुईं। इसके उपरान्त जब नीले रंगवालो का सयोग हुआ तो बारह स्पष्ट रूप निकले, जिन में तीन तो श्वेत रंग के तीन काले रंग, और छ नीले रंग के थे। मेण्डलवाद को कभी-कभी 'प्रधान प्रकार की ओर प्रतिगमन' का सिद्धान्त भी कहते है, क्योंकि प्रकृति का रूप सामान्यता की ओर ही रहता है विलक्षणता की ओर कम। प्रकृति संकर-जाति (Hybrid) की वृद्धि नहीं करती; वह विशुद्ध जाति को ही बढ़ाना चाहती है। अर्थात् वह प्रधान प्रकार की ओर ही उन्मुख होती है। किन्तु मानसिक और भावात्मक गुणों (Temperamental traits)

(१०) मेण्डेल का नियम

तथा प्रवृतियों में कौन-सा नियम लागू होता है अभी तक नहीं जाना जा सका है। हम इतना ही जान सकते हैं कि नीली आँखें, हैप्सबर्ग अधर-रूप मेण्डेल-सिद्धान्त को सिद्ध करते हैं। बपौती की सम्भावनाएँ बराबर मात्रा में देखी जाती हैं, जैसे एक हब्शी और श्वेतागिनी से उत्पन्न सन्तान के चर्म का रंग बराबर मात्रा में पाया जाता है। किन्तु इस दशा में कभी-कभी पहले कुछ भी परिवर्तन नहीं दृष्टिगोचर होता। हब्शी और श्वेतागिनी से उत्पन्न सन्तान या तो काली होगी या गोरी; किन्तु बाद को उन सन्तानों की सन्तानों में मिश्रण अविभाज्य रूप से पाया जाता है। आँखों के रंग में यह बात स्पष्ट रूप से देखी गयी है। कभी-कभी एक आँख का रंग नीला और दूसरी का रंग भूरा पाया गया है।

आनुवंशिकता-वातावरण-सम्बन्धी मत

.§. [३] ऊपर के लम्बे विवेचन से यह स्पष्ट है कि मौलिक प्रकृति एक शक्ति है जिसका रूप-भेद विशेष वातावरण के अनुरूप खिलता और बढ़ता है। यहाँ पर एक प्रश्न उपस्थित होता है: आनुवंशिकता तथा वातावरण का, बच्चों के व्यक्तित्व को एक रूप देने में क्या महत्व है? और उनमें किसका महत्व अधिक है? इसके उत्तर में एक की महत्ता गाई जाती है और दूसरे को गौण कहा जाता है। नियतिवादी आनुवंशिकता को महत्व देते हैं और भौतिकवादी वातावरण को ही सब-कुछ मानते हैं। प्रयोग द्वारा इस झगड़े का निबटारा होना कठिन है, क्योंकि दोनों की छाया-प्रति-छाया एक दूसरे से भिन्न नहीं की जा सकती। हाँ, नीचे कुछेक अध्ययनों को लिखकर विभेद को स्पष्ट किया जा सकता है।

.§. [४] प्रसिद्ध प्राणि-शास्त्रज्ञ गाल्टन (Galton) ने ९७७ प्रतिभाशील व्यक्तियों के सम्बन्धियों का अध्ययन किया। उन्होंने प्रतिभावान् व्यक्तियों में प्रति सहस्र एक व्यक्ति लेकर ९७७ की संख्या का एक दल निश्चित किया। दूसरे दल में उतने ही व्यक्तियों को लिया जो

जिनमें एक ही साथ चाभी कर दी जाती हो।

कार्ल पियर्सन (Karl Pierson) ने वेजउड, डार्विन तथा गाल्टन के परिवार के १००० व्यक्तियों का अध्ययन किया और यही निष्कर्ष निकाला कि उनकी कार्य-विधि पर मौलिक प्रकृति का ही प्रभाव अधिक था। इन परिवारों के व्यक्तियों में बहुतों ने महत्वशाली कार्य किए और समाज-सेवा करके प्रतिष्ठा के पात्र बने। इनमें से बहुत से लोग इङ्गलैंड की रायल सोसाइटी के सदस्य हुए। डग्डेल तथा स्टाब्रुक (Dugdell, Stawbrook) ने अमेरिका-निवासी जूक्स (Jukes) नामक एक कुटुम्ब को पढ़ा। १००० व्यक्तियों के अध्ययन से यह पता चला कि उनमें ३०० छोटी अवस्था में ही मर गए, ३१० भिक्षावृत्ति करते रहे, ४४० रोगी हुए, १३० महान अपराधी हुए जिनमें ७ हत्यारे थे। इस बड़े परिवार में केवल २० व्यक्तियों ने साधारण व्यापार करके जीवन बिताया। इसका कारण जूक्स की मूल प्रकृति थी। जूक्स एक साधारण शिकारी था, उसने अपना विवाह-सम्बन्ध एक ऐसी नारी से स्थापित किया था जो भ्रष्ट और व्यभिचारी परिवार की थी। इस अध्ययन से भी वंशानुक्रम की महत्ता सिद्ध होती है। गोडार्ड (Goddard) महाशय ने भी एक अमेरिका-निवासी का अध्ययन किया। कालीकल नामक सिपाही ने दो विवाह किए। उसकी एक स्त्री मूर्ख थी और दूसरी तीक्ष्ण बुद्धि वाली तथा धार्मिक थी। गोडार्ड ने इन दोनों स्त्रियों से उत्पन्न सन्तानों के जीवन को पढ़ा और देखा कि मूर्ख स्त्री से उत्पन्न ४८० व्यक्तियों में १४३ मूर्ख थे और उनमें व्यभिचार का अतिरेक था; दूसरी स्त्री से उत्पन्न ४९६ व्यक्तियों में बहुधा लोग प्रतिष्ठित हुए और ऊँचे-ऊँचे पदों को सुशोभित करते रहे। बिंशिप (Binship) महोदय ने डग्डेल, स्टाब्रुक, गोडार्ड, की भाँति एडवर्ड परिवार का अध्ययन किया। रीचर्ड एडवर्ड की स्त्री एलिज़ाबेथ बुद्धिमती थी जिससे उत्पन्न सन्तानों में बहुत-सी

कुछ वंशों का अध्ययन: कार्ल पियर्सन, डग्डेल, गौडाई, बिंशिय

प्रतिष्ठित हुईं। उसकी दूसरी स्त्री साधारण थी जिसके फलस्वरूप उसकी सन्तानें उतनी प्रतिष्ठा का पात्र न बन सकीं। इन अध्ययनों से यही प्रकट होता है कि वंशानुक्रम का प्रभाव व्यापक होता है। प्रतिभा का विकास सर्वथा इसी पर निर्भर करता है।

वातावरण के विषय में अध्ययन: हेल्वासिएस, लॉक, कैण्डेल, हेवर्ड

§. [५] कुछ वैज्ञानिकों ने वातावरण को विशेष महत्व दिया है। प्रसिद्ध फ्रांसिसी विद्वान हेल्वासिएस (Helvacius) ने इस मत को अत्यधिक प्रचारित किया। जॉन लॉक (John Locke) ने इस मत को अधिक महत्व दिया। उन्होंने कहा कि बच्चों का मस्तिष्क तो एक श्वेत पट-सा (Tabla Rasa) है जिस पर धीरे-धीरे वातावरण से उद्भुत प्रतिक्रियाएँ अनुभूतियों के रूप में लिखती जाती हैं। वातावरणवादी (Euthenists) इस सिद्धान्त को लेकर मनुष्य-जीवन में प्रयोग, शिक्षा तथा परिस्थिति को अधिक महत्व देने लगे हैं। इस विषय में भी व्यापक अध्ययन किए गए हैं। एक फ्रांसिसी विद्वान कैण्डेल ने यूरोप के ५५२ प्रतिष्ठित व्यक्तियों का अध्ययन किया और निष्कर्ष निकाला कि वातावरण ही सब कुछ है। उन्होंने उन प्रसिद्ध व्यक्तियों के जीवन से यह सिद्ध किया कि यद्यपि वे अच्छे और धनी घराने के नहीं थे, किन्तु शिक्षा की सुचारु सुविधा तथा राजकीय और जनता की सहायता से उन्होंने नाम किया और अपने कार्यों से इङ्गलैंड की रायल सोसाइटी, पेरिस की एकडेमी आफ् साइंस तथा बर्लिन की रायल एकडेमी के सदस्य बन सके। वातावरणवादियों ने अपने पक्ष में कुछ समर्थ उदाहरण दिए हैं। मरे द्वीप (Murray Islands) के निवासी असभ्य थे और अभी तक बर्बर अवस्था में थे, उनकी भाषा में ६ से अधिक गिनती के लिए शब्द नहीं थे; किन्तु अच्छे वातावरण में आने से एव अनुकूल शिक्षा पाने से वे भी योग्यता प्राप्त कर सके। आज उनमें बहुत-से गणितज्ञ भी हैं। भारतवर्ष में भी कोल भील, संथाल आदि को शिक्षित तथा

सभ्य बना लिया गया है। ईसाई मिशनरियों ने उनमे प्रतिभा पाई और उन्हे अच्छे वातावरण में रखकर उन्हें शिक्षित तथा दीक्षित किया। पाठकों को स्वयं ज्ञात होगा कि उन्हीं के कई हरिजन भाई शिक्षा के क्रम में कभी-कभी उनसे कितने आगे बढ़ जाते हैं। इसी प्रकार के अध्ययनों के आधार पर हेवर्ड आदि विद्वानों ने वशानुक्रम के प्रभाव को तुच्छ सिद्ध किया है।

दोनों मतों का समन्वय

§. [६] ऊपर की विवेचना के उपरान्त अब हम इन दो विरोधी विचारों का समन्वय करें। वास्तव में, सत्य दोनों के बीच में (*Via media*) छिपा है। एक उदाहरण से बात स्पष्ट हो जायगी। किसी अनाज के बीज को हम बो सकते हैं। समय पर भूमि से उसमे अंकुर अवश्य निकलेगा। यदि वह बीज स्वस्थ और बड़ा हुआ तो वह अनुकूल वातावरण में खुल खिलेगा। यदि भूमि पर्याप्त उपजाऊ हुई, जलवायु अच्छी है, और शत्रुओं से उसकी रक्षा की जाती है तो वह बीज एक स्वस्थ और सुन्दर पौधे के रूप में प्रकट होगा। यदि बीज दुर्बल है, अस्वस्थ है, तो वह अनुकूल वातावरण पाने पर भी उतना स्वस्थ नहीं हो सकता। अच्छे बीज को यदि हम बुरी जलवायु अस्वस्थ भूमि में बो दे तो वह स्वस्थ पौधे के रूप में नहीं आ सकता। उसी प्रकार उत्तम मौलिक प्रकृति अच्छे वातावरण में अपने विभिन्न रूपभेदों के साथ खिल उठेगी। यदि वातावरण उत्तम नहीं है तो उस प्रकृति का अथवा अच्छी आनुवंशिकता का उपयोग ठीक से नहीं हो सकता है। संसर्ग का महत्व अधिक है। दोष-गुण का संसर्ग अथवा वातावरण से पारस्परिक सम्बन्ध है। अच्छे व्यक्तियों के कुछ लड़के दुष्ट, दुराचारी होते हैं। क्यों? वातावरण का उचित न होना ही इसका कारण है।

§. [७] बचपन के विकास के ज्ञान के लिए मौलिक प्रकृति का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है, यह स्पष्ट है। बिना इसके ज्ञान के बच्चों के समुचित विकास का अध्ययन तथा उनके लिए समुचित

प्रणाली का उपयोग असम्भव है। वंशानुक्रम हमें बताता है कि बच्चों का जीवन कितना संश्लिष्ट है। बच्चों की मौलिक प्रकृति को ध्यान में रखने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जब व्यक्ति किसी से विवाह करता है तो वह उस व्यक्ति के पूरे कुल से विवाह करता है। उसकी सन्तानें दो कुलों की परम्पराओं को लेकर आती हैं। बालमनोविज्ञान इस बात पर ध्यान देता है। वंशानुक्रम की महत्ता स्वीकृत हो जाने पर यही निष्कर्ष निकलता है कि मानव-जाति की वास्तविक उन्नति के लिए अच्छे कुल तथा वंश से विवाह-सम्बन्ध स्थापित करना चाहिये, क्योंकि निकृष्ट वंश या कुल से उत्पन्न सन्तानें पूर्णरूपेण मन से स्वस्थ नहीं हो सकतीं। वंशानुक्रम का अध्ययन इतना गूढ़ है कि मौलिक प्रकृति की खोज में हम बहुत पीछे जाने मे असमर्थ हैं, फलतः सारे गुणों की परिचर्या तथा उनका विकासोद्गम जानना असम्भव नहीं तो जटिल अवश्य है। यदि हम यह कहें कि वंशानुक्रम निर्माण अथवा विकास का ढाँचा है जहाँ पर वातावरण अपना प्रभाव डालता है और प्रतिफलित होता है तो हम सत्य से दूर नही हैं: बच्चा इस विश्व में आने के पूर्व भी वातावरण से प्रभावित होता है। बाल-विकास वातावरण मे ही होता है। हम जो कुछ सीख पाते हैं, अपनी शक्तियों का जो कुछ भी विकास कर पाते हैं वह सब वातावरण में ही होता है। बालमनोविज्ञान हमें अनुकूल वातावरण प्राप्त करने के लिए सचेत करता है। वास्तव में, मानव-प्रकृति वंशपरम्परागत गुणो और वातावरण का समन्वय है। बच्चों की मौलिक प्रकृतियों के रूप-भेद अथवा परिमार्जन और विकास वातावरण की समुचित व्यवस्था पर निर्भर हैं। बचपन-विकास के मनोविज्ञान के अध्ययन का एक मुख्य उद्देश्य यह भी है। बच्चों का शारीरिक सौष्ठव, मानसिक, संवेगात्मक, प्रेरणात्मक, सामाजिक, चारित्रिक, वैयक्तिक विकास आदि सब वातावरण की विविध शक्तियों पर

बचपन-विकास में आनुवंशिकता तथा वातावरण का महत्व

निर्भर करता है। शिक्षा-दीक्षा, परिचर्या, लालन-पालन आदि जितने सामाजिक पहलू हैं सब परिस्थिति-जन्य हैं और वातावरण के पूरक और उपपूरक हैं। बचपन-विकास का मनोविज्ञान, वैज्ञानिक भूमिका में, इन सभी शक्तियों का अध्ययन करता है, और माता-पिता, अभिभावक एवं शिक्षकों के समक्ष बचपन का विकासोन्मुखी जीवन उपस्थित करता है।*



* विशेष अध्ययन के लिए देखिए लेखक का ग्रन्थ सामान्य मनोविज्ञान, प्रथम भाग, चौथा अध्याय [राज राजेश्वरी पुस्तकालय, गया]। प्रारम्भिक कक्षाओं के विद्यार्थियों के लिए लेखक का संक्षिप्त सामान्य मनोविज्ञान, दूसरा अध्याय [राज राजेश्वरी पुस्तकालय, गया] ही पर्याप्त है। प्रथम ग्रन्थ में आनुवंशिकता एवं वातावरण के प्रभावों के विषय में एक लम्बी वैज्ञानिक विवेचना उपस्थित की गयी है, जिसका ज्ञान सामान्य पाठकों के लिए परमावश्यक है।

तीसरा अध्याय

जन्म से पूर्व शरीर-आकार का विकास तथा मौलिक प्रकृति-सम्बन्धी धारणाएँ

.§. [१] बचपन विकास के मनोवैज्ञानिक अध्ययन के लिए भ्रूण-विकास की गति-विधि का ज्ञान अनिवार्य है, क्योंकि बचपन की विशेषताएँ, उसके भौतिक स्वरूप, मौलिक प्रकृति तथा उसके क्रमिक विकास की विविध अवस्थाओं की समुच्चय-संस्कृति की परिचायक होती हैं। भ्रूण-विकास की गतियों का ज्ञान बचपन-विकास के नियमों का उद्घाटन करता है। शरीर-निर्माण, आकार-विकास में जो अनुक्रम (Sequences) पाये जाते हैं वे प्रौढ़ावस्था तक चलते रहते हैं। बचपन एक क्रमिक विकास है अतः उसके आरम्भिक स्वरूपों के मूल में भ्रूण-विकास के स्तरों का ज्ञान महत्त्वपूर्ण है। इस अध्यायमें जन्म के पूर्व बच्चों के शरीर-आकार-विकास पर प्रकाश डाला जायगा।

व्यक्ति-पिण्ड-निर्माण का स्वरूप

.§. [२] पर्यवेक्षण से पता चलता है कि कुछ जीवों की सत्ता, जो पुरुष-स्त्री-जाति के एकीकरण से उत्पन्न होती है, एक अण्ड-पिण्ड से अभिभूत होती है। कई कीटाणुओं के अंश के संयोजन से एक जीवाणु-पिण्ड बनता है। यह उत्पत्ति-क्रिया माता तथा पिता के दो मौलिक जीवाणुओं के संयोग से होती है। एक कीटाणु का रूप तीन विशेष भागों से उद्भूत होता है जिसे क्रमशः सीटोप्लाज़्म, न्युक्लिएस तथा क्रोमोज़ोम (Cytoplasm, Nucleus & Chromosomes) कहते हैं। ऊपरी भाग सीटोप्लाज़्म है, उसके अन्त में न्यूक्लिएस तथा न्यूक्लिएस में अनगिनत सूत्रवत् क्रोमोज़ोम्स होते हैं। प्रत्येक क्रोमोज़ोम में छोटे-छोटे रेखामय जीवाश होते हैं जिन्हे 'जीन' (Genes) अथवा मौलिक-अणु कहते हैं। ये ही मौलिक अणु आनुवंशिकता के गुणों को लेकर चलते हैं। उत्पत्ति-क्रिया में क्रोमोज़ोम का प्रत्येक

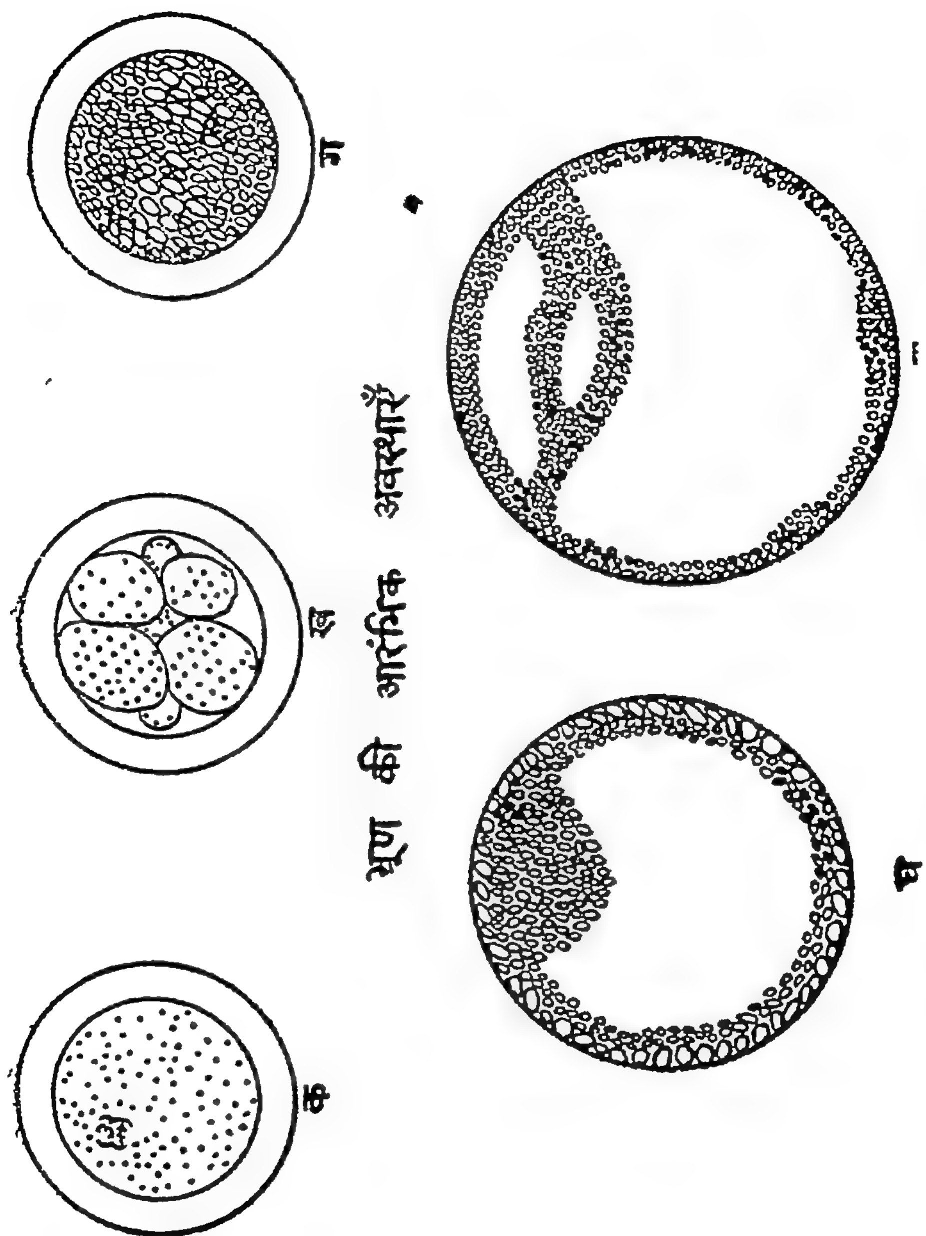
मौलिक अणु दूसरे क्रोमोजोम के मौलिक अणु से संयोग करता है और इस प्रकार प्रत्येक का एक एक जोड़ा उत्पन्न होता है। मनुष्य-जाति में इस प्रकार क्रोमोज़ोम के चौबीस जोड़े होते हैं। इन जोड़ों में से एक-एक क्रोमोज़ोम क्रमशः माता के कुल तथा पिता के कुल से आता है। माता-पिता में जीवाणु जनन-ग्रन्थियों (Reproductory glands) में विकसित होते हैं और इस प्रकार उनमें विभाजन की क्रियाएँ चलती रहती हैं। इस विकास की अन्तिम अवस्था के पूर्व एक विशेष विभाजन-क्रिया होती है जिसके फलस्वरूप क्रोमोज़ोम के आधे भाग इधर-उधर हो जाते हैं। इसके पश्चात् एक और विभाजन-क्रिया होती है। एक पूर्ण जीवाणु-कोष (Germ-cell) के चार भाग हो जाते हैं जिनमें क्रोमोज़ोम का आधा भाग अविच्छेद्य रूप से विद्यमान रहता है। माता से सम्बन्धित जीवाणुओं में केवल एक रज-अण्ड (Ovum) बचा रहता है जो विकास को प्राप्त होता है। शेष तीन छोटे-छोटे जीवाणु-पिण्ड क्रियाशील नहीं होते। किन्तु पिता-सम्बन्धी जीवाणु-पिण्डों में चारों विकसित होते हैं, जिन्हें वीर्य-अण्ड (Spermatozoa) कहते हैं। ये सभी एक रज-अण्ड से संयोजित होकर विकसित हो सकते हैं। रज-अण्ड तथा शुक्र-अण्ड के स्वरूपों में विभेद होता है। रज-अण्ड बड़ा होता है और शुक्र-अण्ड उससे छोटा। रज-अण्ड वृत्ताकार और गतिहीन होता है, किन्तु शुक्र-अण्ड विस्तृत तथा गतियुक्त होता है। दोनों में चौबीस क्रोमोज़ोम होते हैं, जो विकास-क्रिया में सब से अधिक महत्व रखते हैं।

गर्भाधान के पश्चात् उत्पत्ति-क्रिया (Fertilization) में माता तथा पिता के क्रोमोज़ोम एक दूसरे से संयुक्त हो साधारण संयुज्य-संगठन में तल्लीन हो जाते हैं। किसी व्यक्ति की विशेषताएँ इन्हीं दो प्रकार के जीवाणुओं के पारस्परिक प्रभाव के कारण हैं। इन दोनों की पारस्परिक क्रिया-प्रक्रियाएँ बड़ी जटिल होती हैं। मौलिक जीवाणु व्यक्ति के गुण-धर्मों को प्रभावित करने में समर्थ होते हैं और इस क्रिया में ही आनुवंशिकता के नियम-प्रति-नियम के उपकरण छिपे हुए रहते

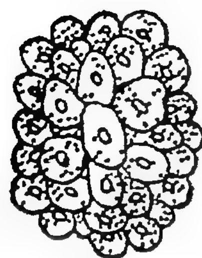
हैं। दोनों प्रकार के जीवाणु-कोषों के संयोग से जो पिण्ड बनता है वह कालान्तर में एक-एक करके दो भागों में विभाजित होता जाता है। यह बराबर विभाजन की क्रिया शीघ्रता से होती रहती है। इन विभाजन-क्रियाओं में शरीर-गुणों से बोझिल तथा मानव-धर्मों से संगुम्फित जीवन की चिनगारियों को वहन करने वाले अन्य कोष अपना रूप-स्वरूप पकड़ते जाते हैं। इन मे से कुछ तो प्रजनन-शक्ति वाले होते हैं, कुछ जीवन की आयु के द्योतक होते हैं, कुछ आने वाली पीढ़ियों के अमर सूत्र-धार होते हैं, कुछ शरीर के अंग-प्रत्यंगों के, जैसे मांसपेशी, हड्डी, इन्द्रिय-आकार इत्यादि के, विधायक होते हैं। चालीस सप्ताहों में, तात्पर्य २८० दिनो में विकासोन्मुख अण्ड क्रमशः द्रुत गति से पाँच करोड़ प्रतिशत बढ़ जाता है। तौल मे, एक औंस के पचास-सहस्रवें भाग से लेकर लगभग आठ पौंड तक, अर्थात् दस खर्व प्रतिशत बढ़ जाता है।

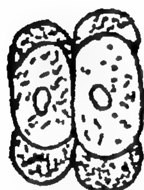
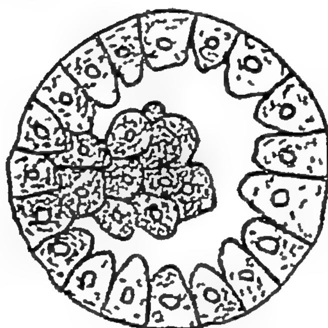
आकार-विकास की अवस्थाएँ

§. [३] विकास की दो विभिन्न क्रियाएँ होती हैं। पहली क्रिया अण्ड-पिण्डों का विभाजन है, और दूसरी प्रत्येक पिण्ड का आकार-परिवर्द्धन है। जन्म से पूर्व आकार-विकास को हम तीन अवस्थाओं में बाँट सकते हैं। पहली अवस्था को पिण्डावस्था (The Germinal Period) कहते हैं जिसमे एक ही पिण्ड अण्ड-रूपेण अपने में ही विकसित होता जाता है। यह क्रिया दो सप्ताह तक चलती है। दूसरी अवस्था को भ्रूणावस्था (The Embryonic Period) कहते हैं जिसमें द्रुत गति के परिवर्द्धन-स्वरूप पिण्ड मानव-रूप ग्रहण कर लेता है। यह क्रिया आठवें सप्ताह तक चलती रहती है। इसके उपरान्त तीसरी अवस्था का अभ्युदय होता है, जिसे गर्भस्थ-शिशु-काल (The Fetal Period) कहा जाता है। इस काल में विशेषतः, आंगिक विकास हो जाता है, यहाँ तक कि गर्भस्थ-शिशु उत्तेजनाओं से संवेदित भी हो जाया करता है और उसमें गति आ जाती है। जब आकार-स्वरूप का संगठन हो जाता है, तब २८० दिन उपरान्त बच्चा



चित्र—१







भ्रूण की आरंभिक अवस्थाएँ

चित्र—२

होता है, 'एण्टोडर्म' से पाचन-क्रिया तथा श्वास-क्रिया के रूप-प्रतिरूप बनते हैं। इन दोनों पिण्ड-क्रियाओं के समुच्चय से एक तीसरा भाग बनता है जिसे 'मेसोडर्म' कहते हैं जिससे हड्डी का ढाँचा एवं मांस-पेशियाँ निर्मित होती हैं। इस अवस्था में शरीर-आकार क्रमशः परिवर्तित रूप में एक रूप पकड़ता जाता है। सर बहुत बड़ा होता है। हृदय की गति बड़ी तीव्र होती है और इसकी गति तीसरे सप्ताह से आरम्भ हो जाती है। क्रमशः अंगों का प्रस्फुटन हो जाता है। ६ सप्ताह के भीतर गर्भाशय का व्यक्ति २०,००० गुना बड़ा हो जाता है, किन्तु लम्बाई में केवल २५ या ३० मिलीमीटर की, तथा तौल मे दो ग्राम की बढ़ती हो जाती है। तथापि आठ सप्ताह का शिशु मानव-शरीर के स्वरूप को पा लेता है। इस अवस्था में किसी गड़बड़ी के हो जाने से चढ़ाव-उतार की प्रक्रिया में बहुत से पिण्ड इधर-उधर हो जा सकते हैं और विभिन्न आकार-प्रकृतियाँ कहीं और लग सकती हैं। बहुत सम्भव हो, इसी कारण से कभी-कभी किसी स्त्री को राक्षसी रूपवाले लड़के उत्पन्न हो जाते हैं। शरीर के किसी अंग-विशेष में काले बालों की वृद्धि अथवा कोई अन्य परिवर्तन, जो स्वभावतः नहीं पाये जाते, दिखाई पड़ जा सकते हैं। वातावरण का प्रभाव भी देखा जाता है।

(३) गर्भस्थ-शिशु-काल

नवें सप्ताह से लेकर जन्म-काल तक की अवस्था को गर्भस्थ-शिशु-काल कहा जाता है। इस अवस्था के प्रथम भाग में जीवाणुओं में अभिवृद्धि होती रहती है और दूसरे भाग मे उनके आकार की वृद्धि होती है। जन्म काल के समय लड़के का आकार तीन माह पूर्व के आकार का सात गुना होता है। इस अवस्था के आरम्भ में विकास की गति पहले की अपेक्षा अधिक तीव्र होती है।

स्नायु-तन्त्र का विकास

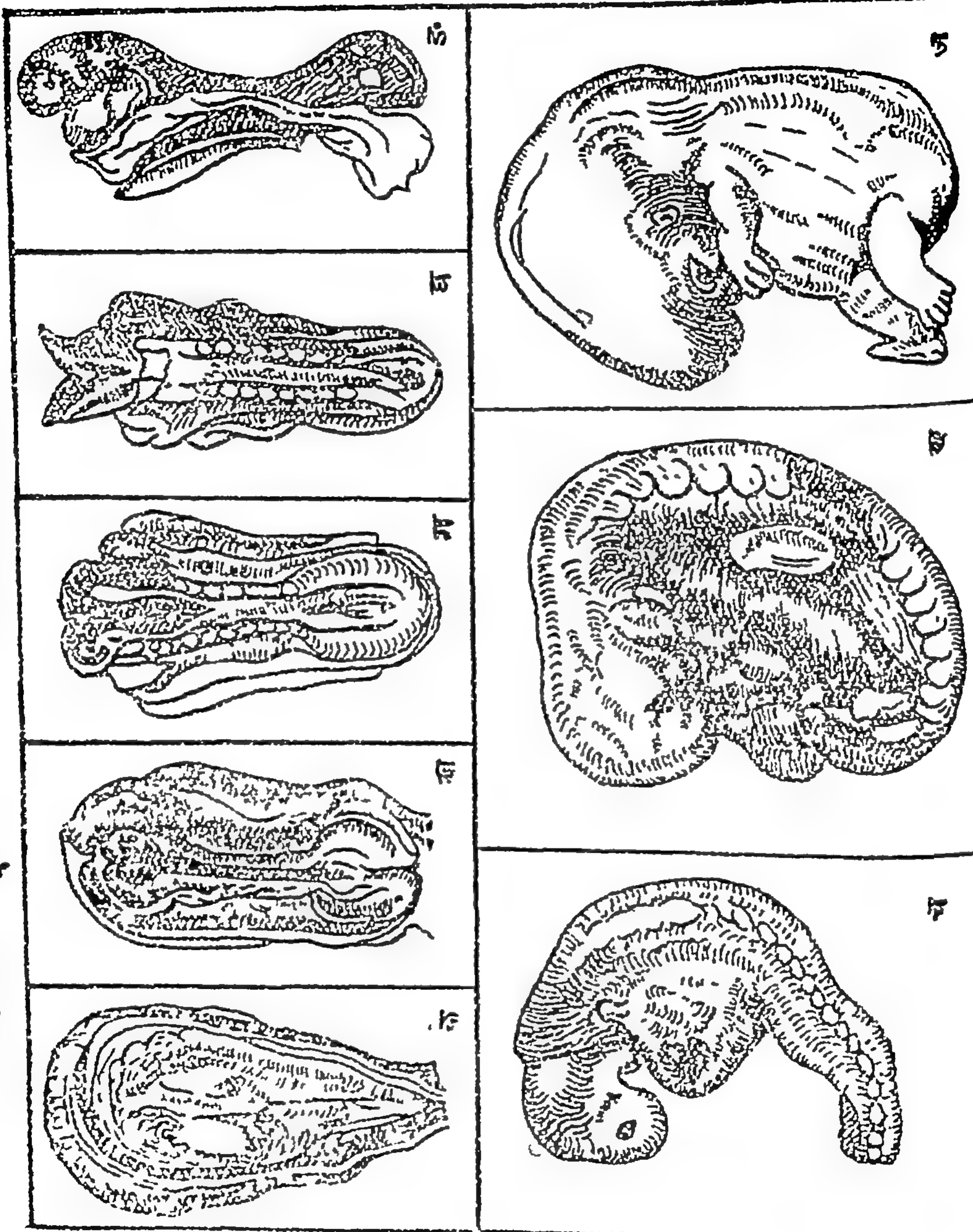
.§. [४] जन्म से पूर्व स्नायु-तन्त्र (The Nervous System) के विकास का मनोविज्ञान में एक विशेष महत्त्व है, क्योंकि शिशु-

व्यवहार का स्नायु-तन्त्र से गहरा सम्बन्ध है। स्नायु-तन्त्र के प्रमुख तत्वों की भूमिका भ्रूणावस्था में ही हो जाती है। एक्टोडर्म में प्रथम एक स्नायु-नली बनती है, जिसका अधिक भाग मेरुदण्ड (Spinal Cord) के रूप में प्रकट होता है, और ऊपरी भाग क्रमशः मस्तिष्क की विशेषता प्राप्त करता है। स्नायु-नली के ऊपरी भाग मे पाँचवें सप्ताह में ही मस्तिष्क का मुख्य ढाँचा, जिसमें मेरुदण्ड की हड्डी के भीतर की गुद्दी, मस्तिष्क का अग्रभाग, मध्यभाग और अन्तिम भाग सम्मिलित रहते हैं, स्पष्ट होने लगता है। तीसरे माह के अन्त में मस्तिष्क अपने प्रमुख भागों के साथ प्रकट हो जाता है। किन्तु लगभग जन्म के समय तक मस्तिष्क की उच्चतर मुख्य क्रियाएँ अधिक प्रभावशाली नहीं हो पातीं।

मस्तक से ही प्रमुख विशेषताएँ नीचे की ओर जाती हैं। धीरे-धीरे उनका प्रभाव केन्द्रीय स्नायु-तन्त्र मे प्रगुम्फित हो जाता है जिसके फलस्वरूप स्नायु-तन्त्र इधर-उधर विस्तारित होने लगते हैं। मासपेशियों तथा इन्द्रियों की पकड़ के पूर्व ही नाड़ियों का विकास होता है। उदाहरणस्वरूप हम हाथ की नाड़ियों को ले सकते हैं। बाहु और पैर में प्रथमतः नाड़ी-तन्त्र जाल बिछाता है तब कहीं क्रमशः मांशपेशियाँ बँधती हैं। गर्भस्थ-शिशु-काल के सम्पूर्ण काल में नाड़ियों का अत्यधिक प्रगुम्फन होता है। यह बात बड़े महत्व की है। सीखने की क्रिया तथा बुद्धि-विकास में इस प्रगुम्फन तथा स्नायु-ढाँचे का महत्व दीख पड़ता है।

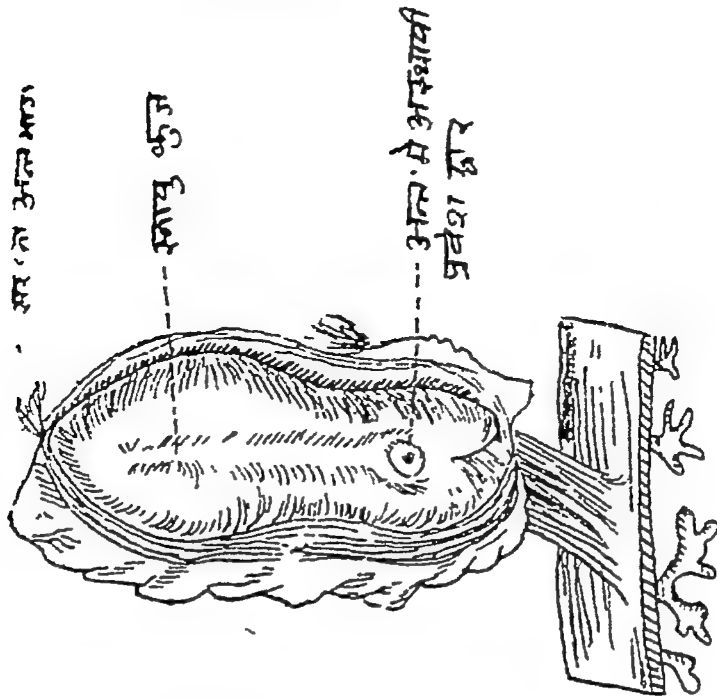
इन्द्रिय-निर्माण का विकास

§. [५] जन्म के पूर्व की अवस्था में इन्द्रिय-निर्माण का विकास (Development of Sensory Mechanisms) भी पाया जाता है। सम्भवतः दूसरे सप्ताह में ही नयन-ढाँचे का रूप बन जाता है, और इसका विकास जन्म के कुछ दिन पश्चात् तक होता रहता है। शरीर-विज्ञान के अध्ययन से यह भी प्रकट होता है कि कर्ण-विवर की क्रियाएँ जन्म के समय विद्यमान रहती हैं। घ्राणेंद्रिय-

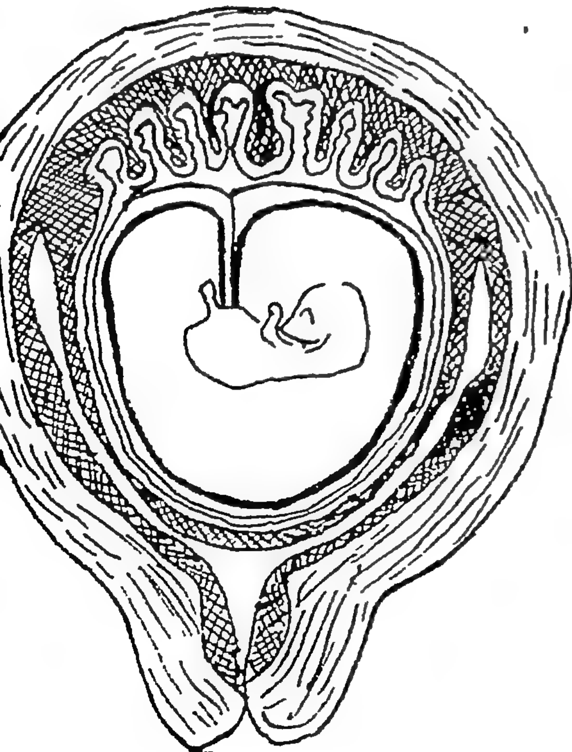


मानवीय भ्रूण की क्रमिक विकासावस्थाएँ

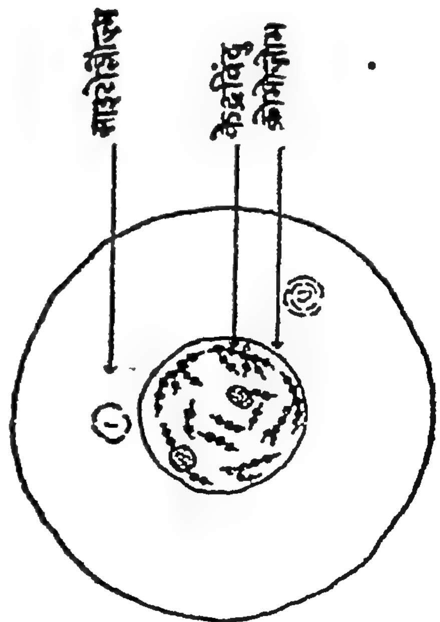
चित्र—२



चित्र ४—दो सप्ताहों का मानवी भ्रूण।



चित्र ५—जननी मे पाला जाता हुआ बाह्य वातावरण से रक्षित भ्रूण।



चित्र ६—मौलिक जीवांश का स्वरूप

होता है, 'एण्टोडर्म' से पाचन-क्रिया तथा श्वास-क्रिया के रूप-प्रतिरूप बनते हैं। इन दोनों पिण्ड-क्रियाओं के समुच्चय से एक तीसरा भाग बनता है जिसे 'मेसोडर्म' कहते हैं जिससे हड्डी का ढाँचा एवं मांस-पेशियाँ निर्मित होती हैं। इस अवस्था में शरीर-आकार क्रमशः परिवर्तित रूप में एक रूप पकड़ता जाता है। सर बहुत बड़ा होता है। हृदय की गति बड़ी तीव्र होती है और इसकी गति तीसरे सप्ताह से आरम्भ हो जाती है। क्रमशः अंगों का प्रस्फुटन हो जाता है। ६ सप्ताह के भीतर गर्भाशय का व्यक्ति २०,००० गुना बड़ा हो जाता है, किन्तु लम्बाई में केवल २५ या ३० मिलीमीटर की, तथा तौल मे दो ग्राम की वढ़ती हो जाती है। तथापि आठ सप्ताह का शिशु मानव-शरीर के स्वरूप को पा लेता है। इस अवस्था में किसी गड़बड़ी के हो जाने से चढ़ाव-उतार की प्रक्रिया में बहुत से पिण्ड इधर-उधर हो जा सकते हैं और विभिन्न आकार-प्रकृतियाँ कहीं और लग सकती हैं। बहुत सम्भव हो, इसी कारण से कभी-कभी किसी स्त्री को राक्षसी रूपवाले लड़के उत्पन्न हो जाते हैं। शरीर के किसी अंग-विशेष में काले बालों की वृद्धि अथवा कोई अन्य परिवर्तन, जो स्वभावतः नहीं पाये जाते, दिखाई पड़ जा सकते हैं। वातावरण का प्रभाव भी देखा जाता है।

(३) गर्भस्थ-शिशु-काल

नवें सप्ताह से लेकर जन्म-काल तक की अवस्था को गर्भस्थ-शिशु-काल कहा जाता है। इस अवस्था के प्रथम भाग में जीवाणुओं में अभिवृद्धि होती रहती है और दूसरे भाग में उनके आकार की वृद्धि होती है। जन्म काल के समय लड़के का आकार तीन माह पूर्व के आकार का सात गुना होता है। इस अवस्था के प्रारम्भ में विकास की गति पहले की अपेक्षा अधिक तीव्र होती है।

स्नायु-तन्त्र का विकास

§. [४] जन्म से पूर्व स्नायु-तन्त्र (The Nervous System) के विकास का मनोविज्ञान में एक विशेष महत्व है, क्योंकि शिशु-

व्यवहार का स्नायु-तन्त्र से गहरा सम्बन्ध है। स्नायु-तन्त्र के प्रमुख तत्वों की भूमिका भ्रूणावस्था में ही हो जाती है। एक्टोडर्म में प्रथम एक स्नायु-नली बनती है, जिसका अधिक भाग मेरुदण्ड (Spinal Cord) के रूप में प्रकट होता है, और ऊपरी भाग क्रमशः मस्तिष्क की विशेषता प्राप्त करता है। स्नायु-नली के ऊपरी भाग मे पाँचवें सप्ताह में ही मस्तिष्क का मुख्य ढाँचा, जिसमें मेरुदण्ड की हड्डी के भीतर की गुद्दी, मस्तिष्क का अग्रभाग, मध्यभाग और अन्तिम भाग सम्मिलित रहते हैं, स्पष्ट होने लगता है। तीसरे माह के अन्त में मस्तिष्क अपने प्रमुख भागों के साथ प्रकट हो जाता है। किन्तु लगभग जन्म के समय तक मस्तिष्क की उच्चतर मुख्य क्रियाएँ अधिक प्रभावशाली नहीं हो पातीं।

मस्तक से ही प्रमुख विशेषताएँ नीचे की ओर जाती हैं। धीरे-धीरे उनका प्रभाव केन्द्रीय स्नायु-तन्त्र में प्रगुम्फित हो जाता है जिसके फलस्वरूप स्नायु-तन्त्र इधर-उधर विस्तारित होने लगते हैं। मासपेशियों तथा इन्द्रियों की पकड़ के पूर्व ही नाड़ियों का विकास होता है। उदाहरणस्वरूप हम हाथ की नाड़ियों को ले सकते हैं। बाहु और पैर में प्रथमतः नाड़ी-तन्त्र जाल बिछाता है तब कहीं क्रमशः माशपेशियाँ बँधती हैं। गर्भस्थ-शिशु-काल के सम्पूर्ण काल में नाड़ियों का अत्यधिक प्रगुम्फन होता है। यह बात बड़े महत्व की है। सीखने की क्रिया तथा बुद्धि-विकास में इस प्रगुम्फन तथा स्नायु-ढाँचे का महत्व दीख पड़ता है।

इन्द्रिय-निर्माण का विकास

§. [५] जन्म के पूर्व की अवस्था में इन्द्रिय-निर्माण का विकास (Development of Sensory Mechanisms) भी पाया जाता है। सम्भवतः दूसरे सप्ताह में ही नयन-ढाँचे का रूप बन जाता है, और इसका विकास जन्म के कुछ दिन पश्चात् तक होता रहता है। शरीर-विज्ञान के अध्ययन से यह भी प्रकट होता है कि कर्ण-विवर की क्रियाएँ जन्म के समय विद्यमान रहती हैं। घ्राणेंद्रिय-

निर्माण तथा उसकी क्रियाओ को, समय से एक माह पूर्व जन्म लिए हुए बच्चों मे, देखा गया है। स्वाद लेने की शक्ति की मुकुल-स्नायुएँ गर्भस्थित-शिशुकाल के तीसरे माह मे प्रकट हो जाती हैं। मासपेशीय तथा दबाव और स्पर्श से संयुक्त इन्द्रियों की क्रियाएँ भी पहले दृष्टि-गोचर होती हैं।

आकार-विकास के नियम
(Laws of Structural Development)

§. [६] भ्रूण-शास्त्रज्ञों (Embryologists) के अनुसार विकास की सक्रियता प्रथमतः मस्तिष्क से प्रारम्भ होती है और क्रमशः अधोमुखी होती जाती है। इस सिद्धान्त को विकास का मस्तकाधोमुखी नियम (The Law of Cephalo-caudal development) कहते हैं। यह नियम विकास की दिशा का द्योतक है। क्रियाएँ चाहे वे शरीर-विकास सम्बन्धी हों, अथवा इन्द्रिय-सवेदन अथवा ज्ञान-सम्बन्धी हों वे पहले मस्तिष्क-भाग में प्रकट होती हैं और फिर क्रमशः निम्न भाग की ओर बढ़ती जाती हैं। पहले बाहु प्रकट होता है और पैरों के निकलने के पूर्व विकसित हो जाता है। मस्तक, पैरों के अन्तिम रूप पकड़ने के पूर्व, परिपक्वावस्था को प्राप्त हो जाता है। कालान्तर में, विकास की अवस्था में मस्तक की ऊँचाई का विकास कुछ मन्द पड़ जाता है, फिर क्रमशः मेरुदण्ड का विकास मन्द पड़ता है। किन्तु अन्त के वाह्य भागों की विकास-गति अति तीव्र हो जाती है। इसका मुख्य कारण, प्रारम्भ के तीन माहों मे मस्तक द्वारा अनुपात के अनुसार सबसे अधिक परिपक्वता का प्राप्त कर लेना है और उन्हीं दिनो में पैरों के विकास का अनुपात सबसे कम होता है।

(१) मस्तकाधोमुखी नियम

केन्द्रीय ढाँचो का पहले और अन्य बाहरी भागों का क्रमशः बाद को विकास होता है। वन्ध-स्थल प्रथम और पुनः उपाङ्ग निर्मित होते

हैं। विकास का यह दूसरा नियम है। भ्रूणावस्था में यह विशेष स्पष्ट दीखता है। इसे निकट-दूर-विकास (The Law of Proximo-distal Development) नियम कहा जा सकता है।

(२) निकट-दूर-विकास नियम

ये विकास सम्बन्धी दो नियम अर्थात् "सेफैलोकॉडल डेवेलेवमेण्ट" तथा "प्राक्जिमोडिस्टल डेवलवमेंट" वहुत महत्व के हैं। वचपन-विकास मे वच्चा की विकास-क्रियाओं के पढने में ये दोनों नियम सदैव काम में आते हैं। वच्चों का शारीरिक एवं मानसिक सीखना इस नियमों को लेकर चलता है जिसका वर्णन हम आगे के अध्याय में करेंगे।

जन्म से पूर्व शरीर-गति-सम्बन्धी व्यवहार

(Prenatal Development of functions)

§. [७] नवजात शिशु (Neonate) को भली-भाँति समझने के लिए जन्म से पूर्व की क्रियाओं के विकास का ज्ञान अपेक्षित है। वहुधा यह सभी जानते हैं कि भ्रूणस्थित शिशु बहुत सी गतियाँ प्रदर्शित करता है। स्टेथेस्कोप से चिकित्सक इसकी जाँच कर सकते हैं। चौदहवें सप्ताह से लेकर सोलहवे तक गति का ज्ञान जान लिया जा सकता है। माता को भी कुछ समय उपरान्त इसका अनुभव होने लगता है। हृदय की गति, जो तीसरे सप्ताह में जाग जाती है, अठारहवें सप्ताह में स्टेथेस्कोप द्वारा जानी जा सकती है। छाती की धड़कन भी विदित हो जाती है। कुछ लोग इसे साँस लेने की क्रिया-मात्र कहते हैं, कुछ लोग इसे केवल हृदय-गति की संज्ञा देते हैं। और तीसरा सिद्धान्त यह बतलाया जाता है कि जन्म के उपरान्त साँस लेने की यह भूमिका-मात्र है। पाचन-सम्बन्धी अंगों का प्रचलन सातवें सप्ताह में परिलक्षित होता है। समय से पूर्व जन्म लेने वाले शिशुओं में यह सब देखा जाता है। पेट का दबना अथवा आकुञ्चन ऐसी अवस्था मे देखा जाता है। छः महीने के गर्भस्थ बच्चों में भी रोने का स्वर पाया जाता है। मस्तक के पास के स्थलों में उत्तेजना

से प्रक्रिया पायी गयी है, किन्तु शरीर के निम्न भाग में इसका बहुधा अभाव होता है। प्रथमतः प्रारम्भिक क्रियाएँ सम्पूर्ण शरीर के प्रकम्पन से द्योतित होती हैं। ज्यों-ज्यो परिपक्वावस्था या विवृद्धि (Maturation) प्राप्त होती जाती है त्यों-त्यों विशेष गतियों में विभिन्नता दृष्टिगोचर होती जाती है।

भ्रूण-स्थित शिशुओं की शारीरिक-क्रियाओं (Prenatal functions) का प्रचुर अध्ययन किया गया है जिनसे यह ज्ञात होता है कि आठवें सप्ताह में स्पर्श से संवेदना उत्पन्न हो सकती है जो क्रमशः चौदहवें सप्ताह तक बढ़ती जाती है जब कि श्वास-क्रिया को छोड़ कर सारी सहज क्रियाएँ (Reflexes) स्पष्ट हो जाती हैं। इस प्रकार छः सप्ताह के भीतर मानव-व्यवहार होने लगता है, जो कुछ सीमा तक परिपक्व होता है। बारहवे सप्ताह से लेकर चौदहवें तक गति-प्रक्रियाओं की विभिन्नता द्रुत गति से बढ़ती है। मुख और चेहरे की प्रक्रियाएँ इस अवस्था मे जानी जा सकती हैं। हाथ तथा अँगुलियों की गति नवजात शिशु की पकड़ की सहज-क्रिया (Grasping reflex) के समान पायी जाती है।

प्रारम्भिक गतियाँ, विशेषतया सहज-क्रियाएँ मेरुदण्ड के नाड़ी-तन्त्रों के द्वारा निखरती हैं। चार महीने के उपरान्त मस्तिष्क का निम्न भाग प्रक्रियाओं को अपने आधीन रखता है; किन्तु उच्चतर मस्तिष्क भाग से संचालित क्रियाएँ कालान्तर में उठती हैं।

गति-विकास के सिद्धान्त
(Principles of Motor Development)

§. [८] ऊपर के अध्ययन से अब हम कुछ निश्चित सिद्धान्तों के निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं। कागहिल (Coghill) के मतानुसार सबसे महत्वकारी सिद्धान्त है विकास के पथ में विशेष-व्यवहार के पूर्व सम्पूर्ण शरीर का एक रूप में प्रचालित होना। किसी उत्तेजना के फलस्वरूप सम्पूर्ण शरीर गतिशील (Mass activity) हो जाता है।

ऐसी गति को सामान्य गति भी कह सकते हैं। ज्यों-ज्यों परिपक्वावस्था प्राप्त होती जाती है, स्थानीय सहज-क्रियाएँ (Local reflexes) विभिन्नता के अनुसार क्रमशः व्यक्त होती हैं। समष्टि से व्यष्टि (From general to specific) का नियम पाया जाता है। इसको कागहिल महोदय व्यक्तिकरण (Individuation) का सिद्धान्त कहते हैं। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है किसी व्यवहार के उपकरण 'सम्पूर्णता' से 'व्यक्तिकरण' को प्राप्त होते हैं। पहले सम्पूर्ण तब विभिन्न भाग।

व्यक्तिकरण, तथा अन्य सिद्धान्त

समष्टि से व्यष्टि, यह नियम 'समन्वय के बाद विश्लेषण (From Synthesis to analysis) की प्रथा' का द्योतक है। नाड़ी-तन्त्र प्रथम सम्पूर्ण व्यक्ति की निर्माण-सत्ता को ध्यान में रखता है, तब धीरे-धीरे स्थानीय सहज-क्रियाओं की ओर अग्रसर होता है। यही नियम जन्म के उपरान्त भी लागू होता है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है यह नियम शारीरिक-विकास में भी कार्यशील रहता है। व्यवहार-विकास मस्तकाधोमुखी नियम (Cephalo-caudal Sequence) को प्रतिपादित करता है। प्रथम क्रियाएँ मस्तक के ऊपरी भाग में जागती हैं और क्रमशः अधोमुखी होती जाती हैं। क्रियाओं के व्यक्ति-करण में निकट-दूर-नियम (Proximo-distal Sequence) भी लागू होता है। पहले प्रक्रियाएँ धुरी (Axis) अथवा अक्ष में प्रारम्भ होती हैं, तब कहीं धीरे-धीरे अन्त के भाग स्वतन्त्र रूप से ठीक-ठीक प्रचालित होने लगते हैं। यह क्रिया जन्म के उपरान्त भी चलती रहती है और जब तक शारीरिक गति अपने वश में नहीं आ जाती तब तक यह नियम अविच्छेद्य रूप मे विद्यमान रहता है।

जन्म के पूर्व इन्द्रिय विकास (Prenatal Sensory Development)

.§ [६] भ्रूण-स्थित शिशु प्रकाश से संवेदित होता है और यह क्रिया आठवें सप्ताह से प्रारम्भ होती है। जन्म से पूव दबाव तथा गर्मी-शीत का प्रभाव पाया जाता है। स्पर्श का संवेदन पहले गर्दन,

और सर में होता है, फिर क्रमशः सम्पूर्ण शरीर में परिव्याप्त होता जाता है। जब किसी अंग पर धीमा स्पर्श या दबाव होता है तो उत्तेजित अंग उत्तेजना की ओर प्रसारित होता है। जब उत्तेजना तीव्र होती है तो प्रतिक्रिया भी तीव्र होती है और लगता है, मानो शिशु अपने को बचाने की चेष्टा में दूर हट रहा है। ये ही चेष्टाएँ जन्म के उपरान्त भी दिखाई देती हैं। आँखों का प्रचालन भी देखा जाता है, किन्तु यह आँखों के स्थल से नहीं होता। ये प्रारम्भिक गतियाँ शारीरिक परिवर्तन के फलस्वरूप देखी जाती हैं। समय से पूर्व उत्पन्न शिशु प्रकाश और अंधकार की विभिन्नता जानता है। घ्राण तथा स्वाद के संवेदन विद्यमान रहते हैं, किन्तु जन्म के पूर्व इनके लिए विशेष उत्तेजनाएँ नही प्राप्त हो सकतीं। समय से पूर्व जन्म लिए हुए बच्चों में घ्राण-प्रतिक्रियाएँ देखी गयी हैं। जन्म के एक माह पूर्व बच्चो को तीव्र स्वर उत्तेजित कर सकता है। सम्भवतः यह कर्णेन्द्रिय की प्रतिक्रिया नहीं है, यह स्वर्श से संयुक्त गुञ्जन हो सकता है, क्योंकि कानों के वाह्य भाग बन्द रहते हैं।

मौलिक प्रकृति-सम्बन्धी धारणाएँ (Views on Original Nature)

§. [१०] हमने प्रथम अध्याय प्रकरण §. [३] मे बाल-स्वभाव-सम्बन्धी कतिपय धारणाओ पर प्रकाश डाल दिया है। हम यहाँ पर बच्चो की मौलिक प्रकृति के प्रति कुछ धारणाएँ उपस्थित करते हैं। प्रथम सिद्धान्त है मूलप्रवृत्तियों (The Instinct Theory) का। इसी सिद्धान्त के अनुसार यह कहा जाता है कि बच्चों के बहुत से जटिल व्यवहार जन्मजात गुणों के फलस्वरूप हैं। ये प्रवृत्तियाँ मानव-जाति की विशेषताएँ हैं। इस सिद्धान्त में विश्वास के कई कारण हैं। मनुष्य जाति तथा पशुओ में यदि कोई अविकल प्रवृत्ति समान रूप से पाई गई तो वह मौलिक प्रवृत्ति (Instinct) कही जा सकती

(१) मूलप्रवृत्तियों का सिद्धान्त

है। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक मैक्डूगल ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन बड़ी मार्मिकता के साथ किया है। भारतीय दृष्टिकोण भी इस सिद्धान्त को स्वीकार करता है। अमेरिका के व्यवहारवादी मनोवैज्ञानिक इसका खण्डन करते हैं। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक वाटसन (Watson) तथा उनके उत्तराधिकारियों ने इस सिद्धान्त की घोर भर्त्सना की है। इस सिद्धान्त के अनुसार बच्चा क्रमशः मूलप्रवृत्तियों के रूप-भेद मे परिमार्जन लाता अपने व्यवहार तथा मानसिक क्रियाशीलता को स्पष्ट करता अपने व्यक्तित्व को बनाता है।

(२) सहज-क्रियाओं का सिद्धान्त

दूसरा सिद्धान्त है सहज क्रियाओं (The Reflex Theory) का। इसके अनुसार जो गुण जन्म के समय पाये जाते है उन्हे जन्मजात कहा जाना चाहिये। किन्तु ये गुण अथवा लक्षण केवल वाह्य उत्तेजनाओं की प्रतिक्रियाओं की प्रक्रिया मात्र कहे जाते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार बच्चों की सहज क्रियाएँ व्यवहार के प्राथमिक जन्मजात परिणाम हैं; और उत्तरकालीन जटिल व्यवहार-क्रियाएँ सरल सहज क्रियाओं के अर्जित शृंखलाबद्ध (Chained Reflexes) समुच्चय हैं। आधुनिक मनोवैज्ञानिकों ने इस सिद्धान्त का सुधार किया है और बहुधा इसको ही प्रामाणिक सिद्ध करने का उद्योग किया है।

मौलिक प्रकृति-सम्बन्धी आधुनिकतम धारणाएँ

§. [११] ऊपर जो कुछ कहा जा चुका है उसके आधार पर यह निर्विरोध कहा जा सकता है कि जन्म के समय जो व्यवहार पाया जाता है उसकी भूमिका में एक लम्बा अतीत है। भ्रूण-शास्त्रज्ञों ने इसे स्पष्ट किया है। इस विषय में दो बातें बड़ी महत्वशाली हैं।

(१) व्यवहार की प्राथमिक अखण्डता

भ्रूण-शास्त्र-विशारदों ने अपने विभिन्न अध्ययन से सिद्ध किया है कि बच्चे का व्यवहार विविध सहज क्रियाओं का असम्बन्धित मिश्रण नहीं है, जो कि बाद को एक-रूपता को प्राप्त होता है, बल्कि प्रारम्भिक

विकास मे भ्रूण-स्थित शिशु समष्टि रूप से प्रक्रियाशील होता है। अतः जो सहज क्रियाएँ जन्म के समय होती हैं वे उसी समष्टि-स्वरूप के व्यष्टि-रूप हैं। इस सिद्धान्त को व्यवहार की प्राथमिक अखण्डता (Primary Integration of Behaviour) का सिद्धान्त कहते हैं जिसके अनुसार नाड़ी-तन्त्र स्वभाव और व्यवहार का संगठनकर्त्ता कहा जाता है। दूसरी बात है समरसता या क्रमबद्धता (Continuity of Development)। जन्म मानवी व्यवहार तथा स्वभाव मे शून्य बिन्दु (Zero point)‡ का द्योतक नहीं है, जहाँ से सारे व्यवहार-रूप का आरंभ होता है। जन्म तो एक घटना है जो कि निरन्तर और अविरल प्रवाहित विकास तथा पृथक्करण में हठात् घटित हो जाता है। इस धारणा से सहज क्रिया और आचरण तथा जन्मजात और अर्जित गुणों के बीच मे पड़ी लम्बी दीवार खिसक जाती है। इन दोनों सिद्धान्तों से जन्म के पूर्व अथवा पश्चात् के विकास पर गहरा प्रकाश पड़ता है।

(२) विकास की समरसता

आज के बचपन-विकास के मनोविज्ञान का कथन है कि बच्चा प्रवाहित अखण्ड जीव है जो अपने में ही चलते हुए भावों प्रभावों में उमड़ना-घुमड़ता तथा अपने ही ढाँचे की विशेषताओं के प्रभावों में झूमता अविरल गति से चला जाता है। वह वातावरण से प्रभावित होता है। ये क्रियाएँ जन्म के पूर्व और उपरान्त दोनों दशाओं में चलती रहती हैं। अतः इन दोनों सिद्धान्तों को ही मनोवैज्ञानिक कहा जाता है। पहले के दोनों सिद्धान्त [प्रकरण §. १०] सीमित रूप में ही ग्राह्य हैं।



‡ Birth is no longer regarded as the Zero Point in Human Conduct.

चौथा अध्याय

वचपन-विकास में सीखने का महत्व एवं सीखने के सिद्धान्त

§. [१] वचपन में सीखना कैसे होता है? सीखना क्या है? नवजात शिशु अपनी शारीरिक विवृद्धि तथा मानसिक शक्तियों एवं समर्थताओं का विकास क्रमशः करता है। इस अध्याय का प्रमुख उद्देश्य है वचपन-विकास में सीखने का महत्व उपस्थित करना एवं सीखने के मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों का उद्घाटन करना। जन्म के समय मानव-शिशु सर्वथा असहाय होता है।

सीखने का महत्व वह अपने वातावरण तथा परिस्थितियों को समझने में अथवा उनके अनुकूल होने में असमर्थ होता है। अतः मानव-शिशु को परिस्थितियों के अनुकूल बनने के लिए सीखना अनिवार्य है। बहुत-से पशुओं के बच्चे जन्म लेने के पश्चात् ही तैरने में समर्थ होते हैं। किन्तु मानव-शिशु ऐसा नहीं कर सकता। जन्म के समय बच्चे के पीछे लगभग नौ महीनों के विकास का इतिहास है। जन्म लेने के पूर्व बच्चा अपने वातावरण के अनुकूल बनने के लिए कुछ सीख लिए रहता है। जैसा कि गत अध्याय में स्पष्ट किया जा चुका है, बच्चा जन्म के समय ही कार्य आरम्भ नहीं करता है। जन्म के द्वारा जो परिवर्तन होता है वह केवल एक नए वातावरण में आना है; उसी समय से जीवन का विकास नहीं प्रारम्भ होता। परिवर्तन तो क्रमोन्नति अथवा क्रम-चिह्नीकरण है, अतएव क्रमशः विकासोन्मुख बच्चा जन्म के समय कोई नया व्यक्ति नहीं होता, प्रत्युत वह नए वातावरण एवं नयी परिस्थितियों में अपनी पैठ पाता है। अपनी जीवन-सत्ता को प्रगतिशील करने के लिए बच्चे के लिए सीखने की क्रिया अनिवार्य है।

जा सकती है। शिर्ले (Shirley) महोदया ने बच्चों के सीखने की क्रिया का अध्ययन करके स्पष्ट किया है कि सीखने के पूर्व विवृद्धि का होना आवश्यक है। चलने और उठने (Locomotion) के पूर्व पैरों पर खड़ा होने की विवृद्धि आवश्यक है।

जन्म के उपरान्त विवृद्धि

इसी प्रकार गेसेल तथा टामसन (Gessell & Thomson) महोदयों ने प्रयोग द्वारा प्रदर्शित किया है कि सीखने की परिपक्वता विवृद्धि पर निर्भर करती है। दो समान जुड़वाँ (Identical twins) बच्चों पर सीढ़ी पर चढ़ने का प्रयोग किया गया। एक को जब वह ४६ सप्ताह का था, सीढ़ी पर चढ़ने के लिये खूब सिखलाया गया, और उसे भाँति-भाँति के प्रलोभन तथा उत्साह-प्रेरणाएँ दी गईं। यह क्रिया ६ सप्ताह तक की गई। दूसरे बच्चे को ५३ सप्ताह की अवस्था में केवल दो सप्ताह की शिक्षा दी गयी। शिक्षा के उपरान्त देखा गया कि दूसरा बच्चा उस सीढ़ी पर ११ ६ सेकेण्ड में चढ़ गया, किन्तु पहले बच्चे ने, बहुत शिक्षा पाने के उपरान्त भी, ५२ सप्ताह की अवस्था में, उसी सीढ़ी पर चढ़ने मे २६ ४ सेकेण्ड लगा दिए।

ऊपर के प्रयोगों से यह स्पष्ट है कि व्यवहार के नए स्वरूपों को सीखने में विवृद्धि का बड़ा महत्वपूर्ण हाथ है। विवृद्धि से अभावात्मक रूप भी प्रकट होता है। पकड़ (Grasping reflex) की तथा बेबिंस्की (Babinski) की सहज क्रियाएँ (हाथ से कुछ पकड़ लेना तथा पैर के तलवों से स्पर्श करने से अँगूठे का बढ़ाव) जन्म के ६ महीनों के उपरान्त अदृश्य हो जाती हैं। इसी प्रकार स्नायु-तन्त्र की अभिवृद्धि से अन्य सहज क्रियाएँ भी सुप्त एवं वृद्ध हो जाती हैं। हमने मस्तकाधोमुखी नियम की परिचर्या पहले कर ली है। जिस प्रकार जन्म के पूर्व उसी प्रकार उस के उपरान्त बच्चों में क्रियाएँ प्रथम मस्तक में प्रकट तथा विकसित होती हैं तदुपरान्त क्रमशः मस्तक से दूर अन्य भागों में अवतरित होती हुई प्रकट तथा विकसित होती हैं। प्रथमतः मस्तक में

मस्तकाधोमुखी अनुगमन

इन्द्रिय-ग्राह्यता तथा अनुभूति-क्षमता होती है, फिर क्रमशः वे निम्न अंगों में फैलती जाती हैं। शर्मस (Shermans) ने बच्चों के साथ हानि न करने वाली सूइयों से प्रयोग किया। पाँच वर्ष के शिशुओं के मस्तक और गर्दन पर केवल पाँच बार गड़ाने से प्रक्रिया स्पष्ट हो गयी, किन्तु वही प्रक्रिया पैरों में दस बार गड़ाने से हुई। शारीरिक क्रियाओं में यह अनुगमन मस्तकाधोमुखी नियमन (Cephalo-caudal Sequence) के अनुसार होता है। यदि एक बच्चे को एक टेबुल पर पेट के बल लिटा दिया जाय, तो वह पहले अपने सर को गर्दन की मासपेशियों की विवृद्धि के उपरान्त उठा लेता है; कालान्तर में क्रमशः अपनी छाती को उठाने में समर्थ होता है। शिर्ले के प्रयोगानुसार यह विदित हुआ है कि प्रक्रियाएँ सर से उठती हुई गर्दन, धड़ और पैरों तक क्रमिक विकास पाती हैं। किन्तु इन क्रियाओं के पहले निम्न भाग की मासपेशियों का समुन्नत होना अपेक्षित है। आँखों की मासपेशियाँ पहले परिपक्व होती हैं, तब सर, गर्दन, कंधा, बाहु, ऊपरी धड़, फिर क्रमशः निम्न धड़ तथा पैरों की मासपेशीय विवृद्धि होती है। अतः विवृद्धि एवं सीखने में मस्तकाधोमुखी नियमन अपरिहार्य रूप से चलता रहता है।

निकट-दूर नियमन (Proximo-distal Sequence) के अनुसार अनुबन्धों की मांसपेशियों पर स्वेच्छापूर्वक अधिकार-योजना प्रथमतः बन्ध-स्थल से प्रारम्भ होती है और कालान्तर में क्रमिक विकास से अन्त के उपागों में फैलती है। बच्चों की पकड़ (Prehension) में पहले ऊपरी बाहु तथा कंधे की विवृद्धि आवश्यक है। ६ महीने के शिशुओं का किसी वस्तु को पकड़ना और उसमें परिपक्वता प्राप्त करना इसी नियमन के अनुसार होता है। अंगुलियों का पृथक्-पृथक् शक्ति-संयोजन धीरे-धीरे होता है। इन क्रियाओं में विवृद्धि तथा सीखना दोनों चलते रहते हैं।

निकट-दूर अनुगमन

मस्तकाधोमुखी एवं निकट-दूर के नियमनों के तथ्यों के साथ-साथ

अन्य जीवों की अपेक्षा मानव-शिशु का बचपन बड़ा लम्बा होता है; किन्तु यह उसके सीखने की उन्मुखता का परिचायक होता है, 'क्योंकि सीखने की समर्थता पर ही मानव उच्चतम प्राणी की संज्ञा पा सका है। जीवन की क्षण-क्षण परिवर्तित तथा आतुर उत्तेजनाओं को उसे अपने अनुकूल बनाना है, क्योंकि उसके शरीर और मन के व्यापार उसे अविकल रूप से आगे बढ़ाने को उत्सुक करते रहते हैं। जन्म के उपरान्त श्वास-क्रिया अवश्य प्रारम्भ होगी और जीवन-पर्यन्त चलती रहेगी अतः उसके लिए एवं उसके जीवन के प्रवाह के लिए शारीरिक-गतियो का उचित-प्रचालन अपेक्षित है। इतना ही नहीं, उसे तो जीवन की बहुमुखी प्रेरणाओं के प्रति जागरूक होना है, जीवन के जटिल तथा विषम वातावरण को सीखना है और पढ़नी है वाह्य तथा अन्तर्मुखी शक्तियों की परिचर्या मे अपनी चेतना की कार्य-विधियाँ तथा झुकाव-रूप रेखाएँ। अतः बचपन-विकास की गतियों को जानने के लिए निम्न सिद्धान्तों का जानना अनिवार्य है।

✓ बचपन-विकास तथा सीखना
(Development of childhood & learning)

§ [२] हमने ऊपर कहा है कि मानव-व्यवहार का विकास एक क्रमिक गति है जो जन्म के पूर्व से चली आती है। अतः इस विषय मे विवृद्धि तथा सीखने (Maturation & Learning) की मान्यताओं की व्याख्या हो जानी चाहिये। यदि स्वभाव अथवा व्यवहार का प्रथम प्रकटीकरण, ढाँचे की विवृद्धि अथवा परिपक्वता के साथ अविछेद्य रूप से पाया जाय तो ऐसे प्रकटीकरण तथा विकास को विवृद्धि-विकास अथवा केवल विवृद्धि कहा जाता है। नाड़ी-तन्त्र की योग्यता तथा समर्थता पर ही इन्द्रिय-संवेदन तथा ज्ञान-परिज्ञान निर्भर करता है। किसी सहज क्रिया के लिए मासपेशियों के आकुञ्चन तथा संकोचन की क्रियाओं की परिपक्वता

विवृद्धि तथा सीखना

अपेक्षित है। इस प्रकार शारीरिक अवस्थिति तथा ढाँचे की आवश्यक विवृद्धि पर ही क्रियाएँ अवलम्बित होती हैं। यह तो हुआ विवृद्धि का अर्थ। व्यवहार के कुछ परिवर्तनों के कारण तो वातावरण अथवा परिस्थितियों तथा तज्जन्य प्रभावों मे पाए जाते हैं। व्यवहार की अनुरूपता तथा उसके रूप-भेदों के संशोधन का सम्बन्ध जब बाह्य उत्तेजनाओं मे पाया जाता है तो ऐसी क्रिया को सीखना कहते हैं। कभी-कभी विवृद्धि की गति इतनी सूक्ष्म होती है अथवा इस प्रकार चलती है कि उसका विश्लेषण सर्वदा सम्भव नहीं है; उसी प्रकार सीखने की क्रिया भी है, जो नाड़ी-तन्त्र के परिपक्व हो जाने पर व्याख्या के ऊपर का विषय हो जाती है। दोनों का सम्बन्ध इतना गहरा है कि कभी-कभी लोग दोनो को एक ही तथ्य के दो रूप समझते हैं। हाँ, दोनों में साम्य अधिक है। अतः इसका विवेचन अनिवार्य है।

§. [३] सीखना जन्म के पूर्व (Prenatal Learning) भी होता है। विवृद्धि केवल जन्म के पूर्व ही नहीं पायी जाती और न सीखना जन्म के उपरान्त ही प्रारम्भ होता है।

जन्म के पूर्व सीखना

विवृद्धि और सीखना विकास की क्रमिक धाराएँ है जो अप्रतिहत रूप से चलती रहती है। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक पेइपर (Peiper) ने भ्रूण-स्थित शिशु पर प्रयोग करके सिद्ध किया है कि सीखने की क्रिया पेट में भी होती रहती है। माता के पेट पर झॉझ के स्वर से उन्होंने यह सिद्ध किया कि बच्चा स्वर को सुनकर प्रक्रियाशील होता है, और स्वर के बार-बार के घात-प्रतिघात से बच्चा शान्त भी हो जाता है। इसी क्रिया को अभावात्मक अनुकूलता (Negative Adaptation) कहते हैं। इसी प्रकार रे तथा हल (Ray & Hull) ने प्रयोग द्वारा भावात्मक अनुकूलता (Positive Adaptation) भी प्रदर्शित की है।

§. [४] जन्म के पूर्व सीखने की क्रिया से अधिक स्पष्ट जन्म के उपरान्त की विवृद्धि (Postnatal Maturation) की क्रिया जानी

एक अन्य विशेषता भी चलती रहती है जिससे बहुधा सीखना विवृद्धि के अनुरूप, तथा जन्म के पूर्व विकास जन्म के उपरान्त के विकास के अनुरूप लगता है। इसी को सामान्य व्यवहारों से विशेष व्यवहारों का प्रचलन (Differentiation of Specific from General Behaviour) कहा जाता है। भ्रूण-स्थित शिशु में उत्तेजना के फलस्वरूप सम्पूर्ण शरीर में गति की उद्भावना देखी जाती है, उस समय पृथक्करण परिलक्षित नहीं होता। ज्यों-ज्यों विवृद्धि तथा सीखने की क्रियाएँ बढ़ती जाती हैं, स्थानीय विवर्धन तथा विशेष व्यवहार स्पष्ट होता जाता है। पहले अनियमित व्यवहार होता है। मनोवैज्ञानिकों ने इसे अपने प्रयोगों से सिद्ध कर दिया है। सहज क्रियाएँ, वास्तव मे, विशेष व्यवहार ही हैं जो अनियमित व्यवहारों से क्रमशः निकली हुई हैं। विकास, अनियमित व्यवहार-प्रक्रियाओं के क्रमशः ह्रास में तथा उससे उद्भूत विशेष व्यवहार मे ही पाया जाता है। ज्यों ज्यों व्यवहार का व्यक्तिकरण होता जाता है, उसके साथ विभिन्न क्रियाओं मे संगठन भी होता जाता है। किसी वस्तु को पकड़ने के लिये चार माह का बच्चा अपने सम्पूर्ण शरीर से बढ़ता दीखता है, और वस्तु को पकड़ने में समर्थ होता है, किन्तु दूसरी वस्तु को देख कर उसकी पकड़ के लिए पहली वस्तु गिरा देता है, तब उसे पकड़ पाता है। किन्तु धीरे-धीरे कई वस्तुओं को साथ पकड़ लेने मे समर्थ हो जाता है। इसी को अखण्डता (Integration) का नियमन कहते हैं, जो संगठन से प्राप्त होता है। दृष्टि-संगठन भी इसी प्रकार होता है। बच्चे पहले बड़ी वस्तु देखते हैं फिर क्रमशः छोटी-छोटी वस्तुओं पर अपनी आँखों को संयोजित कर सकते हैं। मासपेशीय क्रियाओं के अतिरिक्त यह नियम संवेगों के विकास मे भी देखा जाता है। भय, क्रोध, पीड़ा, आदि संवेगों को बच्चों में प्रथमतः पृथक्-पृथक् नहीं देखा जा सकता। ये

सामान्य व्यवहार से विशेष व्यवहार का पृथक्करण

अखण्डता का नियमन

संवेग सामान्य उत्तेजना (General Excitement) से क्रमशः प्रभूत होते हैं। मानसिक तथा शाब्दिक ज्ञान भी इसी नियम के अनुसार चलता है। यहाँ तक कि धारणाओं और मान्यताओं के अवबन्धन में पृथक्करण तथा व्यक्तिकरण का ही संगठन देखा जाता है। बच्चे पहले सब वस्तुओं के प्रति समान व्यवहार करते हैं, किन्तु धीरे-धीरे उन वस्तुओं की विशेषता ग्रहण करते हैं और मनुष्य, पशु में विभेद देखते हुए नारी, पुरुष, बच्चे, गाय, बैल आदि विभिन्न वस्तुओं की पहचान करते हैं और प्रतीकात्मक धारणाएँ (Symbolical Concepts) ग्रहण करते हैं।

पूर्व एवं उत्तर बचपन में सीखने का स्वरूप

§. [४] गत प्रकरण की विवेचना से यह स्पष्ट हो गया होगा कि संगठित व्यवहार विशेष प्रक्रियाओं का संगुम्फन है, जो कि पृथक्करण के नियमन से उपलब्ध होता है। इसी कारण शिशु-अवस्था (Infancy) को पृथक्करण से सीखने (Individuation) का काल कहते हैं और उत्तर बचपन (Later Childhood) के भाग को संगठन (Integration) से सीखने का काल कहते हैं। किन्तु ये क्रियाएँ एक ही समय में होने वाली हैं। बच्चा अपने सामान्य व्यवहार को छोटे-छोटे टुकड़ों मे विभाजित करके फिर से उन्हें नया रूप नहीं देता, प्रत्युत पृथक्करण के साथ संगठन करता रहता है। जब तक सीखना चलता रहता है, पृथक्करण भी चलता रहता है। इसके कारण हैं नया वातावरण तथा नयी परिस्थितियाँ। सम्बद्ध-प्रत्यावर्तन या अभिसंधान (Conditioning) नियम द्वारा सीखने में पहली प्रक्रिया सामान्य होती है, किन्तु सीखने की गति में क्रमशः बहुत-सी उत्तेजनाओं में विशेष उत्तेजना पकड़ में आ जाती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि व्यवहार का नियमन (सामान्य व्यवहार से विशेष व्यवहार के पृथक्करण का स्वभाव) एक सार्वभौम नियम है जो विवृद्धि तथा सीखने में और जन्म के पूर्व तथा उपरान्त के विकास में, समान रूप में व्यवहृत होता है। बचपन-विकास के विद्यार्थियों के लिए ये तथ्य स्मरणीय हैं।

सीखने के सिद्धान्त (Principles of Learning)

§. [५] सीखने के स्वरूप के सम्बन्ध में विविध मनोवैज्ञानिकों के भिन्न-भिन्न मत हैं। एक दल का कहना है कि हमलोग अभिसंधान या सम्बद्ध-प्रत्यावर्तन (Conditioning) से सीखते हैं, दूसरा दल कहता है कि सीखना अन्तर्दृष्टि (Insight) का प्रतिफल है। इन दोनों के अतिरिक्त भी मनोवैज्ञानिकों का एक ऐसा दल है जो सीखने को क्रियात्मक (Learning by Exploration & Manipulation or Trial and Error Learning) बताता है। इन सिद्धान्तों के अतिरिक्त कुछ विशेष नियम भी प्रतिपादित किए गए हैं जिसका उल्लेख संक्षेप में यहाँ किया जायगा। पहले हम सीखने की अभिसंधान-विधि के सिद्धान्त की व्याख्या करेंगे।

(१) अभिसंधानित प्रतिक्रिया का सिद्धान्त (Principle of Conditioned Response)

§. [६] अभिसंधानित प्रतिक्रिया एक विशेष प्रकार का सीखना है जिसमें एक उद्दीपक (Stimulus) के उपस्थित हो जाने पर प्रकृत प्रतिक्रिया (Response) उसी परिस्थिति में अन्य उद्दीपक से भी उत्पन्न हो सकती है। इस सिद्धान्त का प्रतिपादन सर्वप्रथम रूस के शरीर-विज्ञान-वेत्ता पैवलव् (Pavlov) ने किया था। इस सिद्धान्त को लेकर बहुत से प्रयोग किए गए हैं, विशेषतः अमेरिका में इसका बहुत ही चलन है। व्यवहारवादी (Behaviourist) मनोवैज्ञानिकों ने इसकी महत्ता स्वीकार कर ली है। अभिसंधानित प्रतिक्रिया उस उद्दीपक की प्रतिक्रिया है जिसमें, पहले उस प्रतिक्रिया को उभाड़ने की शक्ति नहीं थी। जैसे, प्रारम्भ में शिशु नहीं जानता कि दीपक उष्ण होता है और वह उसे स्पर्श करने से जल जायगा। सम्भवतः वह दीपक को जानने के लिए उसे छूना चाहता है। किन्तु जब उसका हाथ जल जाता है, तो वह हाथ हटा लेता है और पीछे घूम जाता है। अब वह शिशु उस स्थिति से अवगत हो जाता है। एक दूसरा उदाहरण लें; माता बच्चे से बार-बार कहती है "कुत्ते को मत छूआ";

किन्तु बच्चा इस आदेश का तात्पर्य नहीं समझता। जब बार-बार मना करने पर भी बच्चा कुत्ते को छेड़ता है और कुत्ता काट बैठता है, तब वह "मत छूओ" शब्दों का अर्थ समझ जाता है। ऐसी अवस्था में बच्चे में एक नयी प्रतिक्रिया आरम्भ हो जाती है। जब कभी माता कहती है "मत छूओ" तो वह इस नयी उत्तेजना को समझ जाता है। मेरी दो वर्षीया बेटी अनामा केचुओं (चेरों) से निर्भय खेला करती थी, यहाँ तक कि उन्हें लकड़ी से मार दिया करती थी। एक बार केचुओ के बीच उसे एक छोटी सर्पिणी मिल गयी जो उसकी लकड़ी से चिपट गई। पास में बैठी उसकी फूआ ने चिल्ला कर उसे उठा लिया और भाग चलीं। सर्पिणी भी तीव्रता से झपटी और चौखट के दरार में फँसी छिप गई। घर के और लोग वहाँ उपस्थित हो गए और भय की मुद्रा में सर्पिणी को देखने लगे। अनामा रोती-सी सबके चेहरों की ओर देखने लगी। तब से उसने केचुओं से खेलना बन्द कर दिया। जब कोई एक केचुआ उसके सामने रख देता तो वह चिल्ला कर भाग जाती थी। मैंने उसके भय को दूर करने के लिये एक नयी विधि सोची। अनामा मुझसे हिली-मिली है ही। एक दिन मैं एक केंचुए को अपने हाथ में छिपा कर अनामा को गोद में लिए खेल रहा था। उसके सामने ही मैंने केंचुए को हाथ में रख कर अँगुलियों से स्पर्श कर हँसता हुआ पृथ्वी पर रख दिया। अनामा पहले डरी, किन्तु जब मैं दूर हट कर केंचुए को देखता हँसने लगा और अनामा की पीठ थपथपाने लगा तो वह भी हँसने लगी। मैंने यह क्रिया कई दिनों तक कई बार दुहरायी जिसके फलस्वरूप अनामा फिर निर्भीक हो गई और केंचुओं से खेलने लगी। एक दिन वह जब खेल रही थी तो पास ही में दो कुत्ते लड़ते हुए उसके ऊपर गिर पड़े। अब क्या था, अनामा चिल्लाने लगी। लोगों ने दौड़ कर उसे उठा लिया। अब वह फिर केंचुओं से डरने लगी। इस डर को मैंने पुरानी विधि से ही दूर किया।

पैवलव् ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन एक कुत्ते के साथ प्रयोग

करके किया था। उन्होंने उस कुत्ते को भूखा रखा। एक घण्टी बजाने के पश्चात् उसे भोजन दिया। इस क्रिया को उन्होंने कई बार दुहराया, जिसका परिणाम यह हुआ कि घंटी बजने पर खाना न दिए जाने पर भी कुत्ते के मुँह में लार आने लगती थी। भोजन को देख कर कुत्ते के मुँह में लार स्वभावतः आ जाती है क्योंकि वह सहज क्रिया है। अब पैवलव के कुत्ते के मुख में घंटी बजने पर भी लार आने लगी। घण्टी के बजने से लार के आ जाने की प्रतिक्रिया अभिसंधानित प्रतिक्रिया के नाम से प्रसिद्ध हो गयी। यहाँ घण्टी का बजना सम्भावी अभिसंधानित उद्दीपक (Conditioned stimulus) है और घण्टी बजने से लार का आना अभिसंधानित प्रतिक्रिया है (Conditioned Response)। भोजन अभिसंधानित उद्दीपक तथा उसकी प्रतिक्रिया लार का आना अभिसंधानित प्रतिक्रिया (Unconditioned Response) है। अभिसधानित प्रतिक्रिया की स्थापना के लिए एक क्रिया कई बार दुहराई जाती है जिससे कि सीखना व्यवस्थित हो सके, क्योंकि पैवलव ने भोजन देने के साथ घण्टी कई बार बजायी थी। अनामा के भय के सम्बन्ध में सर्पिणी मौलिक अथवा अभिसंधानित उद्दीपक है, केचुआ अभिसंधानित उद्दीपक है और केचुआ-दर्शन से डर कर भागना अभिसंधानित प्रतिक्रिया है। दीपक से जल जाने वाले लड़के के भय में अथवा "मत छुओ" वाले उदाहरण में भी यही बात पायी जाती है।

अब हम इस सिद्धान्त से निसृत रहस्य का मूल्यांकन बच्चों के सीखने की क्रिया से करेंगे। अभिसंधानित प्रतिक्रिया का विलयन (De conditioning) फिर से उसका स्थापित होना (Reconditioning), आदि बातें अनामा के भय की कहानी से ज्ञात की जा सकती हैं। पैवलव ने जब कई बार घण्टी बजायी और भोजन नहीं दिया तो अभिसंधानित प्रतिक्रिया क्रमशः टूट गयी। अर्थात् लार का आना बन्द हो गया। किन्तु पुनः घण्टी बजने के साथ भोजन दिए जाने की क्रिया को दुहराने से पुनरभिसंधानित प्रतिक्रिया (Reconditioned) Response) प्रगट हुई। इस सिद्धान्त के अनुसार सीखना अभि-

संधान, अभिसंधान-विलीनता तथा पुनरभिसंधान से हुआ करता है।

अभिसंधानित प्रतिक्रियाएँ बच्चों की समझ तथा व्यवहार के विकास के सम्बन्ध में अविच्छेद्य रूप से विराजमान रहती हैं। व्यवहार-वादी मनोवैज्ञानिकों के अनुसार बच्चों के सोचने, जटिल कामों को करने और वातावरण को समझने की शक्ति का विकास इस नियमन पर अवलम्बित है। इस सिद्धान्त का प्रयोग अधिकतर पशुओं पर किया गया है, और इसके प्रथम प्रचारक पैवलव ने भी कुत्तों पर ही इसे सिद्ध किया था। किन्तु हाल ही में बहुत-से प्रयोग बच्चों पर भी किये गए हैं जिनके फलस्वरूप अमेरिका में इस सिद्धान्त की उपयोगिता मान ली गई है, तथापि अभी बहुत से मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि मानव की जटिल विचारधारा तथा क्रिया-कलाप आदि सभी इसी सिद्धान्त से निखरे हैं, इसमें सन्देह है। बच्चों में अभि-संधानित प्रतिक्रियाओं से सीखना देखा गया है किन्तु प्रौढ़ लोगों में कुछ सहज क्रियाओं (Reflexes) की अभिसंधानित प्रतिक्रियों को छोड़ अन्य प्रतिक्रियाएँ नहीं स्थापित की जा सकी हैं। बकरी द्वारा चारों पैरों को एक छोटे काठ के टुकड़े पर सटा कर रखना, बन्दर का नृत्य, सरकस में पशुओं के खेल आदि मदारियों एवं शिक्षकों द्वारा उनकी रस्सी, बेंत, डमरू-स्वर आदि के परिगणित संकेतों द्वारा स्थापित अभिसंधानित प्रतिक्रियाएँ ही तो हैं। किन्तु मानव बुद्धिमान् है उसका सीखना अन्य तत्वों पर भी निर्भर करता है।

बच्चे जब किसी शब्द का उच्चारण करते हैं तो उसे स्वयं सुनते हैं। अतः वे अभिसंधानित प्रतिक्रिया के सिद्धान्त से स्वयं उत्तेजित हो जाते हैं। बच्चा कुछ यों ही "माँ, माँ" कहता है। माँ समझती है कि वह उसे "माँ, माँ" कह कर पुकार रहा है। 'माँ'–प्रयोग इस प्रकार अभिसंधानित है क्योंकि बच्चे को कालान्तर में इसी उद्दीपक द्वारा प्रेरणा (Motivation) मिलती रहती है।

[२] सम्बन्ध-स्थापना का सिद्धान्त

§. [७] बच्चों के सीखने के विषय में एक दूसरा सिद्धान्त कहा

जाता है जिसे हम संयोग-सिद्धान्त या सम्बन्ध-स्थापना का सिद्धान्त (Connectionism; Stimulus-Response bonds) कहते हैं। यह उद्दीपक और प्रतिक्रिया के सम्बन्ध को परिलक्षित करता है। यदि किसी प्रतिक्रिया की पुनरावृत्ति आनन्ददायक अथवा सन्तोषप्रद होती है, तो वह स्थिर हो जाती है। एक भूखा लड़का रोता है; यहाँ पर रोना प्रतिक्रिया है, जो माता के ध्यान को उसकी ओर खींचती है। इस प्रकार लड़का जब कभी कष्ट अथवा पीड़ा में होता है, तो वह रो उठता है; क्योंकि रोने के बाद उसे आनन्द मिलता है, जो उसकी माता के अवधान पर निर्भर है। इस प्रकार रोने और आनन्द में एक संयोग स्थापित हो जाता है, जो कि रोने का फलस्वरूप है। इसके विपरीत, जब कभी कोई प्रतिक्रिया दुःख अथवा पीड़ा की द्योतक होती है, तो सम्बन्ध दुर्बल हो जाता है अथवा टूट जाता है। इस नियम को प्रभाव का नियम (Law of Effect) कहते हैं। किन्तु यह सिद्धान्त बहुत प्राचीन है। इस सिद्धान्त का प्रतिपादन प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक थार्नडाइक ने किया था। सन् १९३२ ई० में उन्होंने इसमें सुधार किया और कहा कि पीड़ा देने वाली प्रतिक्रिया भी सीखी जा सकती है। किन्तु उन्होंने केवल सन्तोष-प्रद प्रतिक्रिया पर अधिक बल दिया है। वास्तव में, अभिसंधान और संयोग के सिद्धान्त में कोई विशेष अन्तर नहीं है; केवल शब्दों का ही फेर है।

[३] मैक्डूगल का सिद्धान्त

§. [८] मैक्डूगल ने व्यवहार के लक्ष्यों को अधिक महत्व दिया है। इनका कहना है कि प्रत्येक कार्य निमित्तपूर्ण होता है और उसके पीछे एक विशेष प्रयोजन (Purpose) छिपा रहता है। इसके अनुसार मनोविज्ञान का मौलिक सिद्धान्त 'उद्देश्य की पूर्ति' होना चाहिए। नयी बातें सीखी जाती हैं, क्योंकि उनका जीवन के उद्देश्य के साथ अटूट सम्बन्ध है; पुरानी बातें भुला दी जाती हैं, क्योंकि उनका ध्येय से कोई सम्बन्ध नहीं है। मैक्डूगल का सिद्धान्त व्यवहारवादियों द्वारा चलाई हुई यान्त्रिक प्रणाली का विरोध करता है। व्यवहारवादी

'मन' में विश्वास नहीं करते, वे शरीर को एक यन्त्र समझते हैं, जिसका कोई निश्चित उद्देश्य नहीं है। मैक्डूगल का सिद्धान्त आजकल प्रशंसित नहीं है, किन्तु सीखने की क्रिया की ओर यह एक उद्देश्यपूर्ण संकेत करता है, अतः इसे न मानना हठवादिता है। वास्तव में, बच्चे जो कुछ सीख पाते हैं, वे सब प्रेरणामूलक (Motivated) होते हैं, क्योंकि सीखने के लिए उन्हें मूलप्रवृत्तियाँ (Instincts) उद्वेलित करती रहती हैं। बच्चों का जीवन गतिशील होता है, उन्हें प्रवृत्तियों के उद्वेलन से प्रेरणा मिलती है जिसके फलस्वरूप वे नित नयी अनुभूतियाँ प्राप्त करते हैं और मधु-कटु अनुभवों के समाहार मे अपने लक्ष्य की पूर्ति करते जाते हैं।

[४] अन्तर्दृष्टि द्वारा सीखने का सिद्धान्त
(The Principle Learning by Insight)

§. [६] कोफका (Koffka) ने गेस्टाल्टवाद (Gestalt Theorie) के अन्तर्दृष्टि द्वारा सीखने के सिद्धान्त को, सीखने की सम्पूर्ण क्रिया कहा है। गेस्टाल्टवादियों ने विश्लेषण में विश्वास नहीं किया है। उन्होंने समन्वय, समुच्चय से प्राप्त सहज ज्ञान, प्रज्ञा या सूझ में विश्वास किया है। उन्होंने सीखने के विभिन्न नियमों का खण्डन किया है। उनके अनुसार एक भूखे बालक का व्यवहार उसकी सम्पूर्ण दशा का द्योतक है। यदि हम उसकी दशा को खण्ड-खण्ड कर के उसकी विवेचना करें तो हमें सम्पूर्ण ज्ञान नहीं मिल सकता। सीखना सम्पूर्ण दशाओं की अनुकूल प्रतिक्रिया है। अपने उद्देश्य की पूर्ति मे बालक प्रयत्नशील होता है और उसके उद्योग में उसे अन्तर्दृष्टि मिलती है। यदि यह सहज ज्ञान उसे देर में मिलता है तो इसका तात्पर्य यह है कि परिस्थितियाँ जटिल हैं जो बच्चे की तत्काल विकास-दशा के बहुत ही ऊपर हैं। अन्तर्दृष्टि अथवा सहज ज्ञान किसी सम्यक् क्रिया का अकस्मात् जागरण है; किसी वस्तु की पकड़ अथवा किसी भाव का तात्कालिक ज्ञान है। निस्सन्देह, इस सिद्धान्त से भी हमें बच्चों के सीखने की प्रवृत्ति की झलक मिलती है। "भाव-अर्थों" और

"विचारों" (Meanings & Ideas) का उदय होना किसी वस्तु के परिज्ञान का द्योतक है; और ये अन्तर्दृष्टि से ही उठते हैं।

गेस्टाल्टवादियों का यह सिद्धान्त अभी सभी मनोवैज्ञानिकों को ग्राह्य नहीं है। किन्तु बच्चों की अध्ययन-प्रणाली मे इस सिद्धान्त ने क्रान्ति मचा दी है। 'अन्तर्दृष्टि' के व्याख्याता कोहलर (Kohler) ने अपने दो वनमानुषों, नुएवा एवं सुलतान (Nueva & Sultan) को कठघरे में भूखा रखकर, उनकी पहुँच से दूर केलों को रखकर एक में मिलकर एक डण्डा हो जाने वाली तीन लकड़ियों तथा कुछ हलके स्टूलों को रखकर उनकी अन्तर्दृष्टि की जाँच की थी। इस प्रयोग के उपरान्त वैसी ही स्थितियाँ छोटे-छोटे बच्चों के समक्ष उपस्थित की गयीं। बच्चों ने अपनी पहुँच से बाहर खिलौनों एवं मिठाइयों की प्राप्ति अन्तर्दृष्टि द्वारा की। जब हाथ से खिलौना नहीं मिला तो छड़ियों से खेलते समय, जब वे एक दूसरे में मिल कर एक हो गयीं, उन्होंने सम्पूर्ण स्थिति के परिज्ञान का परिचय दिया। गेस्टाल्टवादियों ने 'विचारों' एवं अर्थों पर अपने सिद्धान्त द्वारा जो प्रकाश डाला है, वह महत्वपूर्ण है। पियाजे (Piaget) ने बच्चों की समझ और बूझ का बड़ा ही सुन्दर विवेचन किया है। उनका कहना है कि बच्चे बहुत ही स्वार्थी होते हैं, वे अपने में ही डूबे रहते हैं। इसी से उनकी भाषा और उनके विचार वैयक्तिक (Egocentric) होते हैं, जो उन्हीं के बारे में कहते-सुनते हैं। वे जो बातचीत करते हैं वह उन्हीं के सन्तोष तक सीमित रहती है। बच्चों की प्रारम्भिक बातचीत दूसरों के अनुकूल नहीं होती, वे केवल बातचीत करने वालों की ही आकांक्षाओं तक सीमित रहती हैं। वातावरण में अपनी वैयक्तिक अकांक्षा-सम्बन्धी बातें वे शीघ्र समझ जाते हैं किन्तु अपने विचारों तथा भाव-अर्थों की व्याख्या स्वयं नहीं कर सकते। यहाँ पर कुछेक उदाहरण दिए जा रहे हैं जिनसे यह स्पष्ट हो जायगा कि बच्चे किस प्रकार विचारों और भाव-अर्थों के संसार में प्रवेश करते हैं। पियाजे के एक छ वर्ष के बच्चे ने झूठ का विरोध किया और कहा

कि यह इसलिए बुरा है कि "मुझे दण्ड मिलता है"। "यदि प्रत्येक मनुष्य मेरा विश्वास करता है, तो वह झूठा नहीं है।" अतः पाठशाला में दिए गये कार्यों के प्रति झूठ बोल कर बच्चे माता से पुरस्कार की अभिलाषा भी करते हैं। किन्तु बच्चे कुत्ते को गाय के इतना बड़ा नहीं कहेंगे, क्योंकि इसका कोई विश्वास नहीं कर सकता। लड़के से उसका बायाँ हाथ पूछा जाय तो वह झट दिखा देगा, किन्तु यदि प्रश्नकर्त्ता उसके सामने खड़ा होकर अपना बायाँ हाथ पूछे तो वह अपने दाएँ हाथ के सामने वाला ही हाथ दिखाएगा। इसका कारण बच्चे की वैयक्तिक प्रवृत्ति है जो उसी की अनुभूतियों को वाह्य-रूप देती है। बच्चों का ससार उन्हीं तक सीमित रहता है। धीरे-धीरे बच्चों का यह व्यक्तिगत संसार वास्तविकता का रूप पकड़ता जाता है और इसमें उनकी अन्तर्दृष्टि तथा सहज ज्ञान, विचारों अथवा भाव-अर्थों के माध्यम से उभरता जाता है। सम्भवतः यह सब विवृद्धि तथा अनुभवों के आधार पर अन्तर्दृष्टियों की एक सरणि का द्योतक है। आलपर्ट (Allpert) ने तीन-चार वर्ष के चालीस बच्चों की अन्तर्दृष्टि के साथ प्रयोग किया। उन्होंने एक कमरे में कई सुन्दर-सुन्दर खिलौने लटका दिए, जिनके नीचे एक छोटा टेबुल रख दिया। खिलौनों तक उनकी पहुँच टेबुल द्वारा ही हो सकती थी और आलपर्ट की अभिलाषा यही थी कि लड़के अपनी अन्तर्दृष्टि से काम लें। कुछ बच्चे क्रियात्मक शैली की भूलभूलैया मे लगे रहे, कुछ ने ठीक विधि से (टेबुल पर चढ़कर) खिलौनों को पकड़ लिया। जिस तत्परता के साथ थोड़े समय में लड़कों ने खिलौनों को प्राप्त कर लिया, उतनी अन्तर्दृष्टि उनमें पायी गयी।

[५] क्रियात्मक सीखने का सिद्धान्त (The Principle of Trial-and-Error Learning)

§. [१०] इस सिद्धान्त के अनुसार कार्य करने की क्षमता त्रुटियों के पश्चात् आती है। सीखने में कार्य-शक्ति कई प्रयासों के पश्चात् आती है। इस सिद्धान्त के प्रमुख उन्नायक मार्गन एवं थार्नडाइक

हैं। इन्होंने अपने सिद्धान्त के प्रतिपादन में चूहों और बिल्लियों के साथ प्रयोग किए। चूहे भूलभूलैया (Maze) में तथा बिल्लियाँ प्रहेलिका-पेटी (Problem-box) में छोड़ी गईं। चूहों ने भूलभूलैया को बहुत प्रयासो तथा त्रुटियों के पश्चात् पार किया। यही बात बिल्लियों में भी पायी गयी। यही सिद्धान्त थार्नडाइक के अनुसार बच्चों पर भी लागू होता है। उनका कहना है कि सीखने के पूर्व न तो पूर्ण परिस्थिति के अध्ययन की अपेक्षा है और न अन्तर्दृष्टि की। वे प्रेरणा (Motives) मे भी विश्वास नहीं करते। उन्हें किसी निर्दिष्टता की भी आवश्कता नहीं है। इस सिद्धान्त के अनुसार हम लोगों की सारी क्रियाएँ-प्रतिक्रियाएँ अनियमित तथा लक्ष्यहीन होती हैं। चूहे और बिल्लियाँ भ्रान्ति-मञ्जूषा तथा भूलभूलैया में उचित पथ को सीख लेते हैं। बच्चों में अक्षर-ज्ञान, साइकिल आदि सीखना सब इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है। किन्तु हम थार्नडाइक के सिद्धान्त की कुछ सत्यता ग्रहण करते हुए भी उनकी आलोचना कर सकते हैं। वास्तव मे, बिल्लियाँ अथवा चूहे अपने कार्य में जब प्रयत्नशील होते हैं तो उन्हें उनकी भूख उद्वेलित करती है अन्यथा वे कार्यशील न हों। इस प्रकार प्रेरणा (Motivation) उन्हे लक्ष्य तक ले जाती है। यहाँ इतना ही अपेक्षित है कि हम यह जान ले कि बच्चों मे यह सिद्धान्त कहाँ तक लागू होता है। हमने ऊपर के सिद्धान्तों की आलोचना करते हुए उनकी सार्थकता भी प्रदर्शित की है और देखा है कि वे कहाँ तक बच्चों के सीखने की क्रिया मे सहायक होते हैं। यही बात क्रियात्मक सीखने के सिद्धान्त के विषय में भी कही जा सकती है। 'क' 'ख' आदि अक्षरों को सीखने के पूर्व बच्चों को बहुत प्रयास करना पड़ता है और त्रुटियाँ होती रहती हैं; किन्तु अभ्यास के पश्चात् वे इस क्रिया में लगे रहने पर उसे सीख जाते हैं। जीवन की सारी क्रियाएँ इसी प्रकार सीखी जाती हैं कि नहीं इस प्रश्न के उत्तर में मनोवैज्ञानिक लोग थार्नडाइक की आलोचना करते हैं और कहते हैं कि प्रयास-त्रुटि के अतिरिक्त सीखने में प्रकृति, प्रेरणा, लक्ष्य, अन्तर्दृष्टि भी सहायक होती हैं।

सीखने के महत्त्वपूर्ण तत्व (Important factors of learning)

.§. [११] सीखने के सिद्धान्तों के अतिरिक्त सीखने के कुछ और उपनियम तथा महत्वपूर्ण तत्व होते हैं, यथा प्रभाव-नियम, अभ्यास-नियम-प्रेरणा, सन्निधि-नियम, तीव्रता-नियम आदि। प्रभाव-नियम की विवेचना संयोग-सिद्धान्त के सिलसिले में हो चुकी है। किसी कार्य के सीखने में सन्तोष, आनन्द तथा पीड़ा, पुरस्कार, दण्ड आदि भी सहायक होते हैं। सचमुच, ये स्वाभाविक उपकरण हैं

प्रभाव का नियम

जो मोहक रूप से बच्चों को प्रेरित करते हैं। किसी कार्य को न करना और न सीखना, अथवा उसे सीखना और उसके लिए प्रयत्न करना विविध प्रभावों पर निर्भर करता है। जब लड़का किसी खिलौने को पा लेता है, उसे आनन्द मिलता है, खिल-खिलाने लगता है; जब उसे किसी काम को करने में पीड़ा होती है अथवा दण्ड मिलता है तो वह उसे छोड़ देता है। किसी कार्य को न करना भी तो सीखना ही है!

.§. [१२] "अभ्यास से ही परिपक्वता मिलती है", एक पुरानी कहावत है (cf. Law of Exercise or frequency)। सचमुच, ज्यों-ज्यों हम किसी कार्य में दत्तचित्त होते हैं,

अभ्यास का नियम

करते जाते हैं, उस में पूर्णता प्राप्त होती जाती है। इसी से शिक्षण-विधि में कार्यों की पुनरावृत्ति (Repetition) पर बल दिया जाता है। बच्चे शारीरिक अथवा मानसिक क्रियाओं को सीखने में जब अभ्यास करते जाते हैं तो उन्हे परिपक्वता मिलती जाती है। यह सहायक नियम है, जो सभी सिद्धान्तों की क्रिया में भी देखा जाता है। अभ्यास के पश्चात् सीखना यन्त्रवत् होने लगता है।

.§. [१३] बच्चे मूलप्रवृत्तियों (Instincts) से उद्वेजित होते ही हैं, उनकी प्रेरणाएँ (Motives) इसी कारण परिपुष्ट होती हैं। ये प्रेरणाएँ उन्हे अग्रसर करती हैं। सीखने में प्रेरणा

प्रेरणा

अपना विशेष महत्व रखती है। चाहे अभि-

संधानित प्रतिक्रिया का सिद्धान्त हो, चाहे क्रियात्मक अथवा अन्तर्दृष्टि का सिद्धान्त हो, सब में प्रेरणा आवश्यक होती है। भोजन पाने की इच्छा, भागकर प्राण बचाने की आशा, पुरस्कार मिलने की अभिलाषा आदि, प्रेरणाएँ ही तो हैं! बच्चा प्रेरित हो क्रमशः सीखने के प्रयोग में शारीरिक तथा मानसिक उन्नति करता जाता है। प्रेरणा-तत्व के विषय में प्रकरण §. [१७] में पुनः विवेचन होगा।

§. [१४] जब दो या अधिक उद्दीपक साथ-साथ घटित होते हैं अथवा उनका सम्बन्ध किसी विशेष प्रतिक्रिया के साथ होता है तो वे स्वयं उद्दीपक का कार्य करते हैं। इसे

साहचर्य के नियम

साहचर्य का नियम (Law of Association) कहते हैं। साहचर्य-सम्बन्ध त्रिधा होता है: सन्निधि, सादृश्य एवं विरोध, जो क्रम से तीन नियमों (The Laws of Contiguity, Similarity, Contrast) के रूप में प्रकट होते हैं। साथ-साथ घटित होने वाले समान रूप वाले एवं विरोधी उद्दीपक सीखे हुए तथ्यों का जागरण कर देते हैं। अभिसंधान-विधि के सिद्धान्त में भोजन लाने वाला, उसका वस्त्र, उसकी चाल, समय, कमरा, घड़ी की टिक-टिक, कोई स्वर आदि बातें उद्दीपक होती हैं। एक का स्मरण दूसरे का बोधक होता है, एक को देख लिया अन्य बातें याद आ गईं। घण्टी बजी, लड़का दूध के लिए छटपटाने लगा क्योंकि उसकी माँ एक घण्टी के स्वर के साथ उसे दूध पिलाती है। अनोमा डर गई, क्योंकि उसके आसपास के लोग भयभीत थे, और सर्पिणी ने उसका पीछा किया, अतः सारी लम्बी रेखाकार चलती वस्तुएँ उसे डरा देंगी। अतः हम देखते हैं कि इसी प्रकार बहुत-सी भावनाओं, विचारों का आपस में गुम्फन हो जाता है। प्रयास-एवं-त्रुटि से या क्रियात्मक सीखने में भी यही बात पायी जाती है।

§. [१५] ऊपर सन्निधि के नियम के अनुसार दो या अधिक उद्दीपक या विचार साथ-साथ घटित होते हैं; किन्तु यह तीव्रता या प्रबलता (Intensity) के कारण सम्भव है। यदि उद्दीपक प्रबल

हुआ, तो प्रतिक्रिया भी प्रबल हो सकती है। भयंकर स्थिति, प्रबल

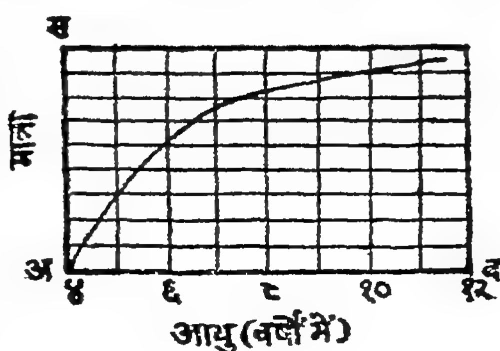
प्रबलता का नियम स्वर, तीव्र गति आदि उत्तेजक स्थितियाँ प्रतिक्रिया को उभाड़ने में समर्थ होती है। किन्तु बच्चों के सीखने की क्रिया में एक बात का स्मरण रखना आवश्यक है। कभी-कभी तीव्र उत्तेजनाओं से अन्य प्रतिक्रियाएँ भी जग जाती हैं; जिससे इच्छित घटना नहीं भी घट सकती। अतः शिक्षक को सतर्क होना पड़ता है। उसे प्रगाढ़, विलम्बित, तथा दुर्दम्य उत्तेजनाओं को सावधानी से काम में लाना चाहिए अन्यथा लेने के देने पड़ सकते हैं। अतः प्रबलता या तीव्रता का नियम (Law of Intensity) भी सीखने का एक प्रमुख तत्व है।

सीखने की व्यवहार-गति की कुछ विशेषताएँ
(Some aspects of learning process)

§. [१६] सीखने की गति-विधि, शारीरिक-विकास के साथ बच्चों को असहायावस्था से क्रमशः आत्म-क्षमता की ओर ले जाती है। इस गति-विधि को हम बच्चों के विभिन्न प्रकार के कार्यों के विकास से, तथा उनके उन्नति-क्रम द्वारा जान सकते हैं। इस तथ्य को हम रेखाओं के आलेखन द्वारा व्यक्त कर सकते हैं।

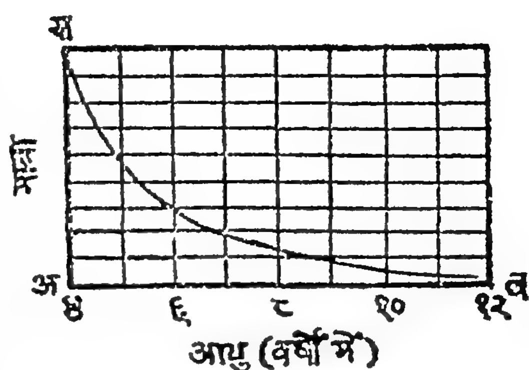
सीखने के रेखा-आलेखन (Curves of learning)

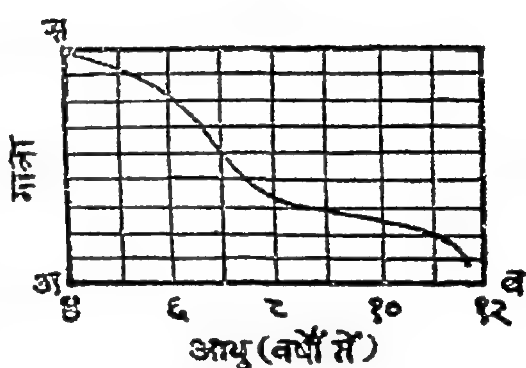
सीखने के रेखा-आलेखनों के कई स्वरूप होते हैं। हम इनका विवेचन करते हैं। क—चित्र में बच्चा द्रुत गति से उन्नति करता है, किन्तु बाद को अभ्यास के साथ उसकी विकास-गति धीमी पड़ती जाती है। इस चित्र मे उन्नति-क्रम अ स रेखा पर, तथा



(क)

समय-गति अ ब पर व्यञ्जित है। कभी सीखने की प्रति क्रियाओं को हम ख और ग के चित्रों द्वारा भी व्यक्त करते हैं जिन मे प्रयास-त्रुटियाँ अ स पर तथा समय-गति अ ब पर व्यञ्जित है। चित्र-ग तो, एक आदर्श चित्र है जो मनोविज्ञान की विभिन्न पुस्तकों के आधार पर खींचा गया है।





चित्र ६–११

ये रेखा-आलेखन व्यक्त करते हैं कि आरम्भ में उन्नति का आकस्मिक वेग दीखता है, जिससे यह प्रकट होता है कि बच्चा अधिक विकासोन्मुख है। [१] इसका पहला कारण प्राथमिक उत्साह है जो नवीन कार्यों के करने मे पाया जाता है। इस प्रकार प्रेरणा का इसमे प्रमुख हाथ है। [२] दूसरा कारण यह है कि बच्चा किसी कार्य को शून्य-विन्दु से नहीं आरम्भ करता, प्रत्युत वह ऐसा करने में अपने प्रकृति-स्वभाव से पूर्व-सञ्चित अनुभूतियों की सहायता पाता है। कुछ समय बीत जाने पर अभ्यास के पश्चात् गति में धीमापन आने लगता है, और कभी-कभी किसी प्रकार की भी गति दृष्टिगोचर नहीं होती। इसको सीखने का पठार (Plateau of Learning) कहते हैं।

विशेषताएँ

(१) बच्चा यहाँ पर सीखने की क्रिया में नयी स्थिति के आ जाने पर

नवीन प्रणालियाँ सीखने लगता है जिसके फलस्वरूप विकास-क्रम में बाधा आ उपस्थित होती है। (२) दूसरा कारण यह हो सकता है कि बच्चा कार्य में कोई नवीनता नहीं पा रहा है अतः प्रेरणा के अभाव में विकासोन्मुख नहीं हो पाता। (३) तीसरा कारण, शारीरिक श्रान्ति हो सकती है। (४) चौथा कारण, संवेगों का चढ़ाव-उतार हो सकता है। (५) पाँचवाँ कारण, उस समय की विवृद्धि का सीमित हो जाना भी है। (६) छठा कारण, कोई शारीरिक रोग का हो जाना है। (७) सातवाँ कारण कोई मानस रोग हो सकता है, जिसके फलस्वरूप बच्चे में कोई निश्चित प्रक्रिया नहीं हो सकती है। इस विषय में मनोवैज्ञानिकों की विभिन्न प्रणालियों में मतभेद है। अन्तर्दृष्टि-सिद्धान्त वाले 'विचारों' और 'अर्थों' की अभिज्ञता का पल्ला पकड़ते हैं, मूलप्रवृत्ति सिद्धान्त वाले प्रेरणा तथा इच्छा-शक्ति का अभाव पाते हैं, अभिसधान के सिद्धान्त के अनुगामी अभ्यास-नियम, प्रभाव-नियम, प्रबलता-नियम आदि के व्यतिरेक को प्रदर्शित करते हैं। कारण, चाहे जो हो, इतना स्पष्ट है कि बहुधा सीखने का पठार दृष्टिगोचर होता है। उसका कारण, उपयुक्त विवेचन में किसी भी विचार-परम्परा में लक्षित हो सकता है। इसी प्रकार एक समय ऐसा आता है कि बच्चा अपनी शक्ति के अनुरूप एक निश्चित शारीर सीमा (Physiological limit) प्राप्त करता है, जिसके ऊपर उसकी गति रुक जाती है। उत्तम प्रेरणाओं से गति में विकास लाया जा सकता है। चित्त-विश्लेषण के सिद्धान्त के अनुसार मानस ग्रन्थियों को दूर करने के उपरान्त विकास लाया जा सकता है। कभी-कभी शारीर सीमा अपनी शक्ति की अबोधता भी सूचित करती है। किन्तु बचपन में क्रमिक विकास पाया जाता है। अतः इसका सम्बन्ध विवृद्धि से ही है। ऊपर जिन आदर्श विकास-रेखा-लेखनों के चित्र दिये हुए हैं वे सभी बच्चों में समान-रूप से नहीं प्रकट होते। विविध कार्यों में विभिन्न रेखाएँ देखी जाती हैं, और विभिन्न बच्चों में विविध रेखाएँ दृष्टिगोचर होती हैं।

सीखने में प्रेरणाओं का स्थान (Place of Motivation in Learning)

§ [१७] मनोवैज्ञानिको के अनुसार सीखने में मूल प्रकृति (Instincts) पर आधारित तथा इच्छाजनित उत्तेजकों से निसृत प्रेरणाओं (Motives) पर सभी कुछ निर्भर करता है। लक्ष्य की प्राप्ति में प्रेरणाओ का होना अनिवार्य है। सीखने तथा प्रेरणाओं के सम्बन्ध में चार सिद्धान्त स्पष्ट होते हैं। (१) सीखने की स्वाभाविक स्थिति में बच्चों में संवेदनशील अनुभवों के आधार पर किसी निश्चित आकांक्षा (Felt need) का होना आवश्यक है। ऐसी स्थिति में बच्चा स्वयं प्रेरित होता है और भाँति-भाँति के अनुसंधान तथा सहज व्यवहार में लग जाता है। (२) जितनी ही संतोषप्रद स्थिति होगी उतनी ही सुन्दर विकास-गति होगी। यदि शिक्षक अथवा अभिभावक उसके कार्यों से प्रसन्न होते हैं, तो बच्चे स्वयं उन कार्यों में दत्तचित्त होते हैं। यदि बच्चों को कार्य से ही सन्तोष (Intrinsic reward) मिलने लगता है तो वे स्वतः कार्यशील होते हैं जिसके फलस्वरूप सीखने की क्रिया अधिक वेगवती होती है। (३) बच्चों को यदि समयानुकूल प्रशंसा मिलती रही तो वे उत्साहित हो आगे बढ़ते जाते हैं। प्रौढ़ लोगों को व्यर्थ की आलोचना में नहीं लगना चाहिये। सफलता पर बच्चों की प्रशंसा (Praise) करनी चाहिए और प्रतिकूलता अथवा विफलता पर भर्त्सना (Reprimand) अपेक्षित नहीं है। हाँ, असफलता से बच्चे स्वयं कार्यफल के लिए उत्साहित हो सकते हैं। (४) प्रतिद्वन्द्विता (Competition) भी इस विषय में अपना मूल्य रखती है। किन्तु इसका महत्व तभी हो सकता है, जब यह सुचारु रूप से प्रवाहित हो (If wisely introduced)। सीमा के भीतर, दक्ष शैलियों से अनुशासित प्रतिद्वन्द्विता उत्तेजक तथा उत्साहवर्धक होती है। इसका अतिचार लड़कों में ईर्ष्या, द्वेष, घृणा, आदि-आदि उत्पन्न कर सकता है और परिणामतः बच्चे असामाजिक हो सकते हैं। अतः प्रतिद्वन्द्विता का परिचालन मनोवैज्ञानिक ढंग से ही अपेक्षित है।

.§. [१८] प्रेरणा और अभ्यास (Motivation and practice- effects) का पारस्परिक सम्बन्ध क्या है ? अभ्यास पूर्णता का द्योतक है। किन्तु यन्त्रवत् पुनरावृत्ति (Mechanical repetition) बिना किसी प्रेरणा के उचित फल नहीं ला सकती। अतः (१) प्रेरणा के साथ अभ्यास का आयोजन लाभप्रद होता है; और फलतः बच्चे प्रवीण अथवा दक्ष हो सकते हैं। अतः अभ्यास में प्रेरणा का स्थान महत्वपूर्ण है। (२) यदि विवृद्धि तथा अनुभव (Maturation & Experience) की सीमा के ऊपर अभ्यास होगा, तो अभ्यास की पुनरावृत्ति किसी काम की नहीं होगी। (३) किसी बच्चे ने किसी कार्य की अन्तिम सीमा (Physiological limit) प्राप्त कर ली है तो आगे का अभ्यास व्यर्थ है। कभी-कभी अभ्यास का अतिचार (Prolonged practice) योग्यता को कम कर देता है। ऐसी स्थिति में बच्चा थकावट (Boredom) का अनुभव करने लगता है जिसके फलस्वरूप अनवधान उत्पन्न हो जाता है और वह अनपेक्षित एवं असामाजिक आचरण सीख सकता है, त्रुटिमय तथा भ्रामक प्रणालियों को काम मे ला सकता है। (४) अतिम बात यह है कि सीखना अत्यन्त आकस्मिक रूप से होता है; ऐसी स्थिति में यदि हमने सीखने की आदर्श-रेखा-आलेखन को ही ध्यान में रखा तो गड़बड़ी उत्पन्न हो सकती है। इसके साथ और भी तो बातें हैं ! यदि सीखने की वस्तुएँ, वास्तव में, बच्चों के मनोनुकूल हैं, और उनका महत्व है, तो बच्चे आकस्मिक अन्तर्दृष्टि (Sudden rise of insight) से अपने विचारों अथवा अर्थों के संसार में प्रवेश कर जाते हैं। अत स्पष्ट है कि अभ्यास के प्रभाव के साथ-साथ प्रेरणाजन्य एवं विवृद्धि-मूलक स्थितियाँ चला करती हैं और बच्चे सीखते जाते हैं। बचपन-विकास इसी प्रकार होता जाता है।

प्रेरणा के साथ अभ्यास के प्रभाव

सीखने में अवस्थाओं का अनुपात तथा अन्तर भाव
(Age difference in rate of learning)

.§. [१६] सीखने की समर्थता शैशव से प्रौढ़ावस्था तक बढती जाती है। किन्तु अवस्था का इस पर क्या प्रभाव पड़ता है यह जान लेना बहुत आवश्यक है। इस विषय में प्रयोग किए गए हैं। ये प्रयोग सीखने के विविध सिद्धान्तों पर आधारित हैं। इङ्गलिश नामक मनोवैज्ञानिक ने अट्ठाईस सप्ताह के शिशुओं में भी अभिसंधानित प्रतिक्रियाएँ (Conditioned Responses) देखी हैं। स्टैनफोर्ड-बिने-माप के सुधारों (The Revised Stanford-Binet-Scale for Intelligence Testing) में ऐसे प्रयोगों का मुख्य हाथ है। स्मृति (Memory) के विषय में जो प्रयोग हुए हैं उनका परिणाम यह है: ढाई वर्ष की अवस्था में दो अंक, तीन वर्ष की अवस्था में तीन, साढ़े चार वर्ष की अवस्था में चार, सात वर्ष की अवस्था में पाँच, तथा दस वर्ष की अवस्था में छः अंक सीखे जा सकते हैं और उनकी अवधारणा होती है। गेट्स तथा ग्रेस ने (Gates and Grace) "दबाव-विधि" (Forcing Method) से बच्चो के एक दल को कुछ सिखाया, किन्तु इसका कुछ भी परिणाम नहीं निकला; कुछ दिनों बाद देखा गया कि उन्हे सब कुछ विस्मृत हो गया है। इससे सीखने में अवस्था का प्रभाव स्पष्ट हो जाता है। विविध अवस्थाओं में सफलताओं की औसत मानसिक विकास तथा काल-क्रम के सम्बन्ध को बतलाती है। वास्तव में, विवृद्धि का सीखने में बहुत महत्व है जिसपर हमने प्रकरण .§. [२] में विचार का लिया है।

प्रयोग-सम्बन्धी-निष्कर्ष

.§. [२०] प्रयोगों के सम्बन्ध में एक बात विचारणीय है। प्रयोगों से यह प्रकट होता है कि मानो विभिन्न कार्य एक दूसरे से पृथक्-पृथक् हैं और उनकी अवधारणा नियमित स्थितियों में ही होती है प्रयोगशाला की स्थितियों तथा वास्तविक

जीवन की स्थितियों में आकाश-पाताल का अन्तर पाया जाता है। सीखने की क्रिया में बच्चे यथार्थ ज्ञान के अतिरिक्त त्रुटिपूर्ण आचरण (Habits) भी सीख सकते हैं। अतः अभिभावकों तथा माता-पिता को चाहिए कि वे ठीक-ठीक वस्तु-दर्शन तथा प्रत्यक्षज्ञान के लिए बच्चों का उचित पथ-प्रदर्शन करें। प्रयोगशाला के बाहर बच्चे अपने किसी ज्ञान की उपलब्धि में अपनी सारी विकसित कार्य-कुशलताओं तथा समझ-बूझों को काम में लाते हैं। वास्तव में, सीखने की क्रिया क्रम-बद्ध होती है और विभिन्न आचरण एक दूसरे से सम्बन्धित होते हैं। एक आचरण को हम दूसरे आचरणों से पृथक् नहीं रख सकते। यह सीखने का एक महत्वपूर्ण तत्व है। बचपन-विकास में ऊपर की बातें कितनी महत्वपूर्ण हैं, पाठकों ने इसे समझ लिया होगा। बच्चों के सारे विकास-क्रमों में इन नियमों-उपनियमों का हाथ है। आगे के अध्यायों मे हम बचपन की विशेष क्रियाओं का अध्ययन इन्हीं मनोवैज्ञानिक आधारों पर करेंगे और देखेंगे कि बचपन-विकास किस प्रकार अपने स्वरूपों में समरसता के साथ खिल उठता है।



पाँचवाँ अध्याय

प्रारम्भिक बचपन तथा शिशु-व्यवहार

(The Infant Behaviour)

§. [१] आदि काल से ही प्रारम्भिक बचपन के विषय में विविध मान्यताएँ प्रचलित हैं। एक मत के अनुसार प्रारम्भिक बचपन एक संक्रमण-अवस्था (Transitional stage) है जिसकी कोई विशेष महत्ता नहीं है और न आगामी अवस्थाओं से इसका कोई घनिष्ट सम्बन्ध ही है, क्योंकि इस अवस्था में वातावरण का कोई विशेष अथवा कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। इस सिद्धान्त के अनुसार इस अवस्था का उत्तरकालीन बचपन तथा किशोरावस्था से कोई विस्तृत सम्बन्ध नहीं है। आजकल इस सिद्धान्त का पूर्णरूपेण खण्डन किया जा चुका है, तथापि बहुत माताओं और पिताओं के व्यवहार तथा आचरण में यह अब भी परिलक्षित होता है। माता-पिता बहुधा विश्वास करते हैं कि बच्चे कुछ भी समझने में असमर्थ हैं। इस सिद्धान्त के प्रतिकूल आधुनिक लोग प्रारम्भिक बचपन को निर्माण-काल (Formative period) कहते हैं, जिसमें व्यक्तित्व के सारे आधार-सूत्र सदा के लिए दृढ़तापूर्वक बँध जाते हैं। आज के नाना प्रकार के प्रमाण यह उद्घोषित करते हैं कि प्रारम्भिक बचपन बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। ये प्रमाण यह भी बताते हैं कि शारीरिक तथा मानसिक विकास में एक क्रम-बद्धता (Continuity) पायी जाती है जो जन्म के पूर्व से प्रौढ़ावस्था तक निर्बाध रूप से चलती जाती है। मानव-शिशु का बचपन बहुत लम्बा होता है और यह उसके प्रभूत विकास का द्योतक है। इसकी व्यापकता को हम पशुओं के बच्चों तथा उनके जीवन-विकास की गतियों से तुलना करके जान सकते हैं। बच्चों को जितना ही समय प्रबुद्धता के निर्माण में लगाना

विविध मत

बढ़ता है उतना ही वे जटिल वातावरण को समझने मे समर्थ होते हैं। निस्सन्देह, मानव-शिशु का प्रारम्भिक बचपन निस्सहाय होता है। यदि उसका वातावरण के अनुकूल समुचित विवर्द्धन तथा, उसकी रक्षा न की जाय तो वह नष्ट हो सकता है। प्रौढ़ लोग बच्चों के शक्ति-परिवर्द्धन के लिए वातावरण का संगठन करते हैं जिससे कि वे अपनी कच्ची शक्ति के अनुरूप उसे अपने अनुकूल बना सकें।

शिशु-व्यवहार-सम्बन्धी सामान्य सिद्धान्त

§. [२] ऊपर के मतों की व्याख्या के साथ बचपन की विशिष्ट बातों को जान लेना आवश्यक है। पराधीनता (Dependence) व्यक्ति-विषमता (Individual differences) तथा परिवर्तनशीलता (Changeability) शैशव की विशेषताएँ हैं। शिशु असहाय होता है। शिशुओं का व्यवहार एक-सा नहीं होता। पशुओं की एक जाति के बच्चों के व्यवहारों मे समानता होती है, किन्तु मानव-शिशुओं में व्यक्ति-विषमता पायी जाती है। तीसरी विशेषता परिवर्तन-शीलता भी है। बच्चे अपने को वातावरण के अनुकूल बनाने में प्रौढ़ लोगों से अधिक क्षमता रखते हैं। शिशुओं की क्रियाओं-प्रक्रियाओं का तथा उनके विकास का क्या स्वरूप होता है? इस प्रश्न के उत्तर में बहुत-से मत हैं। (१) एक सिद्धान्त यह है कि शिशु प्रौढ़ लोगों का अपूर्ण स्वरूप (Incomplete or miniature adult) है, जिसमें भाषा को पुनर्निर्मित करने की शक्ति, गति, अथवा बुद्धि-विकास का अभाव है; उसमें जो कुछ है वह अपूर्ण रूप मे है। इस सिद्धान्त के अनुरूप विकास केवल प्रौढ़ता की क्रियाओं को अर्जित करना है अथवा उनमें से कुछ को पूर्णरूपेण साधना है। यह सिद्धान्त भ्रमात्मक है, किन्तु इसने अभी भी लोगों के मन को पकड़ रक्खा है। (२) दूसरा सिद्धान्त शिशु को केवल सहज क्रियाओं की सृष्टि-मात्र (Creature of reflexes) मानता है। शिशु-व्यवहार में सरल सहज क्रियाएँ, थोड़ी-बहुत जटिल क्रियाएँ, पारस्परिक संवेग और मूलप्रवृत्तियों के स्वभाव-आलेखन पाए जाते हैं। प्रारम्भिक बचपन

से लेकर प्रौढ़ावस्था तक इन्हीं क्रियाओं अथवा वृत्तियों का विकास, संशोधन अथवा पारस्परिक संगुम्फन होता रहता है। (३) शिशु-व्यवहार-सम्बन्धी तीसरा सिद्धान्त शिशु को न तो प्रौढ़ का छोटा आकार मानता है और न उसे विशेष सहज क्रियाओं का समुच्चय ही मानता है। इसका कहना है कि शिशुओं का व्यवहार प्रारम्भ में निर्विकल्प रूप से एक श्रेणी का रहता है, एवं सामान्य रहता है, इसी से क्रमशः विशेष प्रक्रियाएँ उद्भूत होती हैं, या सामान्य से विशेष का बोधीकरण होता है (Specific responses emerge from the original matrix of behaviour-in-general)। इस व्यवहार की उपयोगिता पूर्व के अध्यायों में प्रलक्षित भी हो चुकी है। इसी व्यवहार से कितने वैज्ञानिक नियम भी बन चुके हैं। अब हम नीचे शिशुओं के विभिन्न प्रकार के नियमों को पढ़ें।

शैशव का गति-व्यवहार
(Motor Behaviour in Early Infancy)

अधर चूसने, जन्म-रुदन, श्वास, मल-मूत्र-त्याग, शयन, जागरण आदि की क्रियाएँ

§. [३] हमने दूसरे अध्याय में देख लिया है कि गर्भस्थ शिशु साँस, भोजन तथा व्यर्थ वस्तुओं के परित्याग के लिए माता पर आश्रित होता है। जन्म के उपरान्त ये कार्य उसे स्वयं करने पड़ते हैं। प्रत्यक्ष और प्रकट व्यवहार के बहुत लक्षणों मे एक है जन्म-रुदन (Birth cry) जो सम्भवतः, वाक्-सूत्रों में अचानक वायु-प्रवेश से निसृत होता है। कभी-कभी यह स्वर नहीं फूटता, और इसे शीतल अथवा उष्ण जल मे डुबोने से या हलकी चपत से निकाला जाता है। जन्म-रुदन से ही फेफड़ों में श्वास-क्रिया आरम्भ हो जाती है। जब उसे भूख लगती है तो अधर-स्पर्श से चूसने की क्रिया (Sucking movement) प्रकट होती है। जन्म के कुछ घण्टों में ही मल-मूत्र-त्याग प्रारम्भ हो जाता है। खाना, साँस लेना, और मल-मूत्र-त्याग करना सत्ता को रखने के लिए

अपेक्षित है ही। अधिकतर ये क्रियाएँ जन्म के कुछ पल अथवा घण्टे पश्चात् ही प्रारम्भ भी हो जाती हैं। नवजात शिशु चौबीस घण्टों में बीस घंटे शयन-क्रिया में ही व्यतीत करता है, किन्तु बीच-बीच में भूख अथवा कुछ कष्टदायक दशाओं के फलस्वरूप जागरण होता रहता है। इन आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाने पर अथवा अनुचित व्यवधानों के हट जाने पर वह पुनः गम्भीर शयन में तल्लीन हो जाता है। जाग्रत अवस्था में नवजात शिशु अजस्र रूप से चंचल रहता है। वह अपने हाथों एव पैरों को इधर-उधर खींचने में लगा रहता है। अधरों का प्रकम्पन, हाथों, आँखों, नाक आदि की गतियों में निरुद्देश्य अनियमित क्रियाएँ (Random actions) चलती रहती हैं। इन गतियों में कोई संगठन नहीं होता। शयन-क्रिया के समय यदि शिशु को कोई कष्ट होता है, अथवा उनका बिस्तर अत्यधिक उष्ण या आर्द्र हो जाता है, तो वह जग जाता है। कुछ ही क्षणों में रुदन का व्यापार प्रगाढ़ रूप धारण कर लेता है। रुदन-क्रिया में सम्पूर्ण शरीर आकम्पित होता रहता है, लगता है, शिशु सम्पूर्ण विश्व को अपनी गति से हिला देगा, तोड़ देगा, फोड़ देगा, रौंद देगा और किसी की ओर फूटी आँखों से नहीं देखेगा। जन्म के प्रथम दिनों में प्रत्येक हिटलरी शिशु में, जो स्वस्थ है, जो असाधारण नहीं है, ये क्रियाएँ पायी जायँगी।

शिशु में जन्म के बीस मिनट बाद ही छींकना, जँभाई लेना, आँसू गिराना, माँ के स्तन के अग्र भाग को चूसना, प्रकाश-दीपक पर नयन को एकटक आश्रित करना, अँगूठे को मुँह में डालना, तीव्र स्वर से उछलना, किसी वस्तु को धर पकड़ना, मञ्जूषा-रूप में अधरों को बना कर रोना, मुख के विभिन्न कोणों को गिरा कर चिल्लाना, गतिशील हाथ को आँखों से पीछा करना, मुँह के बल गिर जाने पर श्वास के लिए सर को हटा लेना, तनिक आराम देने पर घूम जाना और तथाकथित आक्रोश में आकर रोना आदि क्रियाएँ देखी जाती हैं। किन्तु ये क्रियाएँ बहुत शिशुओं में बीस मिनट के भीतर ही नहीं भी

देखी जा सकतीं

§. [४] मनोवैज्ञानिकों ने शिशुओं की गति का लेखा-जोखा प्रस्तुत किया है। श्री इरविन (Irwin) ने बताया है कि शिशु पन्द्रह से अठारह घण्टों के बीच १०,००० से लेकर ४५,००० बार गतिशील होता है। इस प्रकार एक मिनट में ११ से लेकर ४२ गतियाँ या प्रति एक या दो सेकण्ड में एक गति देखने में आती है। दस दिन के भीतर ही सर, शरीर, बाहुओं, पैरों तथा स्वर को उत्पन्न करने वाले भागों में गतियाँ देखी जाती हैं। इन्हीं दिनों मे सर को दाएँ, बाएँ ले जाना, पीछे खींच लेना, मुख को बन्द करना और खोलना, अधरों को चूसना, आँखों को बन्द करना या खोलना, मींचना, जँभाई लेना, बन्द आँखों की पलकों को तान देना आरम्भ हो जाता है। उत्तान सोते हुए शरीर को शीघ्रता से इधर-उधर ले जाना, धड़ को ऐंठना अथवा मरोड़ना, हाथों को सर के ऊपर पैर को तान कर और धड़ को एक सीध मे करके ले जाना; तीव्रता से साँस लेना; रोना; काँपना; पकड़ना; शरीर को खट से झटके के साथ फेंकना; और पीठ की अर्द्धवृत्ताकार क्रियाएँ देखी जाती हैं। बाहुओं को खूब घुमाना, उन्हे तानना, इधर-उधर फेंकना, छाती पर कोड़ा के समान मारना, और हाथों और अँगुलियों को चलाना देखा जाता है। शिशु पैरों, तलुओं, अँगूठों को डुलाता है और उन्हे इधर-उधर तानता है, बढ़ाता है, उनसे झटका देता है. और उन्हें गोलाकार घुमाता हुआ कँपाता भी है। मुख से कई प्रकार के स्वर निकलते हैं जिन्हे रोना, खाँसना, छींकना, अधर बजाना, चूसना कहा जाता है। साँस के स्वर सुनाई पड़ते हैं, कंठ-स्वर, बुलबुलाना, कुलबुलाना और भूख-रुदन भी सुने जाते हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण गतियों का लेखा-जोखा यों है: नवजात शिशु के सर की गति का अनुपात अन्य गतियों की अपेक्षा कम होता है। यह लगभग ५ प्रतिशत है। शरीर और पैरों की गति प्रत्येक ३० प्रतिशत है।

दो सप्ताह के भीतर की गतिशीलता का विस्तार

बाहुओं की गति २० प्रतिशत तथा स्वरों की १५ प्रतिशत है इस प्रकार हम देखते हैं, मानव-शिशु अपने दस दिन के जीवन में अथक गतिशील होता है जिसका निरीक्षण बिना किसी यन्त्र के सहारे असम्भव है। सोते समय भी पूरे काल का पाँचवाँ भाग उसकी गति में बीतता है और जाग्रतावस्था का दो-पाँचवाँ भाग भी गति-क्रिया में ही लगा रहता है।

आरम्भिक विशेष प्रतिक्रियाएँ

.§. [५] शैशवावस्था की आरम्भिक क्रियाएँ बहुभेदी होती हैं। इस प्रकरण में कुछ विशेष प्रतिक्रियाओं (Early Specific Responses) का वर्णन किया जाता है। (१) भोजन-सम्बन्धी क्रियाएँ (Feeding movements): चूसने की क्रिया जन्म के समय और कभी-कभी जन्मते समय भी देखी जाती है। यह क्रिया प्राथमिक क्रियाओं में से एक है। भूख की अवस्था मे यह अत्यधिक होती है। अधर के स्पर्श से यह जागती है। मुख के अन्य अंगों से भी यह उत्पन्न की जा सकती है। अँगूठा पीने की क्रिया (Thumb sucking) जन्म के बीस मिनट पश्चात् देखी गई है। बाद को यह क्रिया आचरण का रूप भी ले लेती है। यह क्रिया भूख की द्योतक है, अतएव उचित भरण-पोषण से यह लुप्त हो सकती है। ऐसी क्रियाएँ इस अवस्था में आवश्यक हैं।

(२) पाँव की क्रियाएँ (Foot-leg movements): पाँव के अँगूठों को तानना अथवा बटोरना तब होता है जब तलवे में स्पर्श किया जाय। इस क्रिया को बैबिस्की सहज-क्रिया (The Babinski Reflex) कहते हैं, क्योंकि बैबिस्की महोदय ने इसका पता चलाया था। उनका सिद्धान्त है कि पाँव के तलवों का सीधा सम्बन्ध मस्तिक की क्रियाशील स्नायुओं के मध्य बिन्दुओं से है, और जब यह प्रौढ़ लोगों में पायी जाती है तो इसका तात्पर्य यह है कि मस्तिष्क के उन केन्द्रों में किसी प्रकार की चोट या गड़बड़ी हो गई है। कुछ शिशुओं में इसका भावात्मक अभाव भी पाया जा सकता है।

(३) पकड़ की क्रिया (Grasping Reflex): यदि पतली छड़ी या अँगुली बच्चों के हाथ मे पड़ जाती है तो वे झट उसे दबा लेते हैं। यह क्रिया बड़ी व्यापक है और यह जन्म लेते समय अथवा जन्म के कुछ क्षण बाद ही स्पष्ट हो जाती है। शिशु की यह पकड़ इतनी गहरी होती है कि निरीक्षक या परीक्षक की अँगुलियों के सहारे यह पकड़ शिशु के पूरे भार को कुछ क्षण तक सँभाल भी लेती है। भूख की दशा में यह अत्यधिक जाग्रत हो सकती है। चार महीनों के उपरान्त यह क्रिया समाप्त हो जाती है और धीरे-धीरे यह इच्छाधीन पकड़ में परिवर्तित होती जाती है।

(४) दो सप्ताहों में चलने फिरने की क्रिया (Locomotion): कभी-कभी इस काल मे कुछ शिशुओं को बाहुओं से पकड़ कर चलाया जा सकता है। पैरो मे, शरीर के सम्पूर्ण भार से, टेढ़ापन देखने में आता है। कभी-कभी कुछ शिशुओं मे यह क्रिया अप्रत्याशित रूप से पायी जाती है। किन्तु चलने-फिरने में पहले रेंगने, सहायता से खड़ा होने, और सर को तान देने की क्रियाएँ क्रमशः जागती हैं जिसका वर्णन यथा-स्थान होगा।

(५) वमन करने की क्रिया (Vomiting): यह क्रिया जन्म के समय देखी गयी है। इसमे इसकी मासपेशियों का संगठन अपेक्षित है। कुछ समय उपरान्त यह होता रहता है।

(६) बाहु की क्रियाएँ (Arm movements): यदि शिशु के चिबुक पर या ठोढ़ी पर अँगुली से स्पर्श किया जाय तो बाहु और हाथो की प्रक्रियाएँ देखी जा सकती हैं। जब दोनों हाथों से शिशु परीक्षक की अँगुली को हटाने का उद्योग करता है तो यह स्पष्ट हो जाता है कि उनमें संगठन (Co-ordination) आ गया है। किन्तु नवजात शिशु में यह क्रिया अनियमित रूप से होती है; कभी-कभी परीक्षक की अँगुली को हठात् स्पर्श मिल जाता है। इसका विकास शीघ्रतर होता है और इक्कीस घण्टों में संगठित गति देखी जा सकती है।

इन्द्रियों द्वारा उद्दीप्त प्रतिक्रियाएँ
(Reactions to Sensory Stimulations)

प्रकाश के प्रति, नयन-संगठन, नयन-निक्षेप एवं गतिशील वस्तु को देखने की प्रतिक्रियाएँ

§. [६] यदि किसी साधारण नवजात शिशु के सामने उचित प्रकाश-रेखा लायी जाय तो वह अपने नयनों को केन्द्रित कर देता है (Reaction to light)। तीन घण्टों में नयन पुतलियाँ ईषत् बढ़ती-घटती-सी हैं। तीस घण्टों के उपरान्त अभ्यास से इस क्रिया मे योजना देखी जा सकती है। आरम्भ में एक या दो दिन के भीतर ही विलम्बित उद्दीपकों से शिशु अपने सर को प्रकाश से हटाने के लिए इधर-उधर घुमा लेता है। नयन-संगठन (Co-ordination of the eyes) शैशव में दृष्टिगोचर हो जाता है। नवजात शिशु प्रथम अपनी पृथक् आँखों से स्वतन्त्र रूप से इधर-उधर देखने की प्रक्रिया करता है। किन्तु संगठन का यह अभाव बहुत काल तक नहीं चलता रहता। एक या डेढ़ दिन में द्रुत गति से बढ़ता नयन-संगठन पूर्णता को प्राप्त हो जाता है। किसी वस्तु को दूर से देखना और उसकी गति के अनुसार देखते जाने की क्रिया को चक्षु-निक्षेप (Optic nystagmus in Early Infancy) कहते हैं। निरीक्षण द्वारा सवा ग्यारह, साढ़े ग्यारह, पौने बारह घण्टों के शिशुओं में यह सम्बद्ध क्रिया देखी गयी है। इस से स्पष्ट है कि चक्षु-निक्षेप में इससे सम्बन्धित स्नायु-नियन्त्रण जन्म के समय बहुत कुछ संगठित रहता है। पहले पड़े रूप में (Horizontal) फिर लम्ब रूप मे (Vertical) गतिशील वस्तुओं का पीछा करने की (Ocular pursuit of moving object) क्रिया प्रलक्षित होती है। वृत्ताकार रूप मे देखने की शक्ति उत्तरोत्तर बढ़ती है। जन्म के कुछ मिनट पश्चात् यह क्रिया विफल होती दिखाई पड़ती है। तीन अथवा चार सप्ताह मे कुछ शिशु इसमें सफलता प्राप्त कर लेते हैं किन्तु छ सप्ताह के पूर्व सब लड़को में यह क्रिया अविच्छेद्य रूप से नहीं पायी जा सकती।

उत्तेजना के मुसकराया करते हैं, इसका कारण उनकी स्वस्थता का द्योतक है। सोता हुआ नवजात शिशु मुसकरा देता है। हँसने की क्रिया पाँच से बारह महीनों के बीच में बहुत शीघ्रता से नहीं जगती, किन्तु मुसकराने की संख्याएँ बढ़ती जाती हैं।

शैशव काल की संवेगात्मक क्रियाएँ

§ [११] आरम्भिक शैशव काल में कुछ विशेष उत्तेजनाओं के फलस्वरूप शिशु अकस्मात् उछल पड़ता है, उसकी साँस रुक-सी जाती है, मुट्ठियाँ बँध जाती हैं, ओष्ठों में सिकुड़न आ जाती है, वह चिल्ला उठता है, इधर-उधर उद्वेजित हो पैर फेंकने लगता है। इस प्रकार की अन्तः क्रियाएँ हृदय-गति के परिवर्तन, रक्त-प्रवाह, पाचन-सम्बन्धी क्रियाओं के संक्षोभन के रूप में देखी जाती हैं। इन संवेगात्मक क्रियाओं (Emotional reactions) के रूप-भेद की व्याख्या तथा उनकी संख्याओं के विषय में मनोवैज्ञानिकों में गहरा मतभेद है। सामान्यतः यह मान लिया गया है कि बच्चों का संवेगात्मक व्यवहार आरम्भ में अनियमित, विशेषता-हीन और सामान्य (General Excitement) होता है। भय, क्रोध को स्पष्टतः नहीं व्यक्त किया जा सकता। संवेगों के लिए आकस्मिक और अप्रत्याशित उद्दीपकों (Sudden and unexpected) का होना आवश्यक है। बच्चों के संवेगात्मक विकास का वर्णन एक अध्याय में किया जायगा।

शिशुकाल में, अनियमित एवं विशेष प्रतिक्रियाएँ (Diffuse and Specific Reactions during Early Infancy)

§. [१२] आधुनिक काल में शिशु-सम्बन्धी बहुत से प्रयोगों से ऐसे प्रमाण मिले हैं जिनके आधार पर अब हम निश्चित अनुमान करने में समर्थ हैं। इस विषय में ऊपर बहुत कुछ कहा भी जा चुका है। यदि शिशुओं पर दो सप्ताह के भीतर विशेष इन्द्रियों पर उद्दीपक प्रकट किए जायँ, तो उनकी प्रतिक्रियाएँ केवल उन्हीं उद्दीसेन्द्रिय-

इन्द्रियोद्दीपकजन्य विशेष एवं अनियमित प्रतिक्रियाएँ

सम्बन्धी इन्द्रियों पर नहीं टिकी रहतीं। विशेष इन्द्रिय-जनित प्रतिक्रियाएँ होती अवश्य हैं किन्तु शरीर के अन्य भागों में भी वैसी ही प्रतिक्रियाएँ (Diffuse movements under specific sensory stimulations) जगती हैं। प्रकाशजनित प्रतिक्रियाओं मे केवल पुतलियों का खिंचाव ही नहीं दृष्टिगोचर होता, प्रत्युत सर, धड़, बाहुओं तथा पैरों में भी क्रियाएँ होने लगती हैं। इस प्रकार एक-तिहाई क्रियाएँ शरीर के अन्य भागो में और दो-तिहाई आँखों के संचालन में होती हैं। दो सप्ताह के अन्त में शरीर के अन्य अंगों की क्रियाएँ कम होती जाती हैं। इसी प्रकार स्वर-संघात से दूसरे अथवा तीसरे सप्ताह में कई प्रकार की अनियमित प्रतिक्रियाएँ दीख पड़ती हैं। स्वाद तथा ताप-क्रम-सम्बन्धी प्रतिक्रियाएँ भी इसी प्रकार द्योतित होती हैं।

सम्पूर्ण शरीर-सम्बधी क्रियाशीलता का महत्व

.§. [१२] जिन तथ्यों का उद्घाटन ऊपर हुआ है उससे यह स्पष्ट है कि शिशु-व्यवहार की प्राथमिक क्रियाएँ सम्पूर्ण शरीर-सम्बन्धी (Mass activity) होती हैं जिनमें क्रमश. व्यक्तिकरण (Individuation) होता जाता है। इस अनुसधान को कभी-कभी जीवात्मकानुमान सिद्धान्त (Organismic Hypothesis) कहते हैं। श्री इरविन ने इसकी बड़ी सुन्दर व्याख्या की है। प्रथमतः ढाँचे का विकास क्रमशः जीव-पिण्ड से लेकर स्नायु-रचना, या अङ्ग-निर्माण से होता है, किन्तु इस सृष्टि में एक समरसता होती है। इसी प्रकार साधारण व्यवहार प्रारम्भिक सामान्य गुम्फन से, जिसे सर्वाङ्गीण क्रिया (Mass activity) कह सकते हैं, विशेष व्यवहारों का व्यक्तिकरण (Specification or Individuation) होता है। गर्भस्थित शिशु में यह अपने अधिकतम रूप में होता है, किन्तु उस समय भी व्यक्तिकरण क्रियाशील रहता ही है जिसके फलस्वरूप विशेषता, नियमता, यथार्थता (Specificity,

§. [७] कान के छिद्र जन्म के समय एक प्रकार के द्रव-पदार्थ से बन्द रहते हैं, अतः सुनने की क्रिया (Reactions to sound) सम्भवतः उस समय नहीं पायी जाती। यह क्रिया क्रमशः एक से दस दिन के भीतर उभर जाती है। यह स्पष्ट है कि जन्म के समय शिशु स्वरों के आघात के प्रति कोई निश्चित प्रक्रिया नहीं करता। यह धीरे-धीरे जागती है। कुछ शिशु रोने में इतने संलग्न रहते हैं कि सुनने से उन्हें कोई सरोकार नहीं रहता। किन्तु कुछ निरीक्षणों से यह ज्ञात हो सका है कि तीव्र स्वर इस क्रिया को जगा सकता है। गर्भस्थ शिशु में इस क्रिया को देखने का यत्न किया गया है, और पर्याप्त उत्तर भी मिला है; किन्तु इसमें मतभेद है, क्योंकि इस काल की स्वर-प्रतिक्रिया को कुछ लोग स्वर-गुञ्जन मात्र कहते हैं।

स्वर-प्रतिक्रियाएँ

§. [८] शिशु दूसरे दिन मे ही नमकीन स्वाद के प्रति अपनी प्रक्रिया प्रकट करते हैं। कभी-कभी प्रथम दिन में ही कई स्वादों के प्रति उनका मोह देखा गया है। नवजात शिशु की घ्राणेन्द्रिय-सम्बन्धी प्रतिक्रियाएँ बहुत अल्प होती हैं। दो दिन के शिशुओं में अमोनिया का प्रभाव देखा गया है। दस दिन के भीतर दूध के विभिन्न प्रकारों को समझ लेने में वे असमर्थ होते हैं। वास्तव में, घ्राणेन्द्रिय-सम्बन्धी क्रियाएँ बहुत धीरे-धीरे विकसित होती हैं। तीव्र उष्णता तथा आर्द्रता से एक दिन का बच्चा संक्षोभित होता है। ये क्रियाएँ उद्दीपकों की शक्ति पर निर्भर करती हैं। इन्हे तापक्रम की प्रतिक्रियाएँ कहते हैं। सूई के चुभाने पर तत्क्षण नवजात शिशु तथा कुछ घण्टों का शिशु पीड़ा का अनुभव करता है। चेहरे पर यह क्रिया शरीर के अन्य अंगों के पूर्व जागती है। मस्तकाधोमुखी तथा निकट-दूर के नियमन (Cephalo-caudal & Proximo distal sequences) के अनुसार ये प्रतिक्रियाएँ विकसित होती जाती हैं। जन्म के समय शरीर का सम्पूर्ण

स्वाद, घ्राण, ताप-क्रम, पीड़ा एवं स्पर्श की प्रतिक्रियाएँ

भाग स्पर्श-संवेदन का अनुभव करता है। एँडी को स्पर्श करने से या उसे ठोंक देने से शिशु उन्हे झट से हटा लेते हैं। एक विशिष्ट प्रयोग से प्रकट हुआ है कि एक शिशु ने, जिस को मस्तिष्क का अग्र-भाग नहीं प्राप्त था, पीड़ा, दबाव, संयोग, शीतलता का अनुभव तो किया किन्तु उसमें प्रकाश, गन्ध, स्वाद और उष्णता की प्रतिक्रियाएँ नहीं जगीं। इस बात से मस्तिष्क के विभिन्न अंगो (areas) की स्थानीयता एवं उपयोगिता का पता चल जाता है।

आरम्भिक बचपन की अन्य गत्यात्मक एवं संवेगात्मक प्रतिक्रियाएँ

बचपन की निद्रा

§. [९] निद्रा के काल में एक वर्ष के भीतर क्रमशः ह्रास होता जाता है। पहले माह मे लगभग १६ घण्टे, १२ महीनों के पश्चात् केवल १२ घण्टे की अवधि रह जाती है। आरंभ में तो बच्चा, चौबीस घण्टो मे कुल मिला कर केवल तीन या चार घण्टो तक जाग सकता है और शेष घण्टे सोने में ही व्यतीत करता है। दो वर्ष के बच्चे, बहुधा साढे बारह घण्टे तक सोते हैं, तीन वर्ष के ११ या १२ घंटो तक, चार वर्ष के ११ या १२ घंटों तक सोते हैं। आरम्भ से एक महीने के भीतर शिशु लगातार चार घण्टों तक सो सकता है। यह गति क्रमशः बढ़ती जाती है। तीन महीने का शिशु ६ घण्टो तक लगातार सो लेता है। सात-आठ महीने के उपरान्त नौ या दस घण्टो तक सो सकता है।

बच्चों का मुसकराना तथा हँसना

§. [१०] प्रयोगों द्वारा यह प्रकट किया जा चुका है कि मुसकराना (Smiling) आठवें हफ्ते, तथा हँसना (Laughing) बारहवें हफ्ते में उत्पन्न किया जा सकता है। विभिन्न बच्चों में इन क्रियाओं की अवधि विविध रूप से पायी जाती है। ठोढी को स्पर्श करने से एक, दो, चार और छ दिनों के बच्चों में मुसकराना देखा गया है। बहुधा बच्चे बिना किसी वाह्य

उत्तेजना के मुसकराया करते हैं, इसका कारण उनकी स्वस्थता का द्योतक है। सोता हुआ नवजात शिशु मुसकरा देता है। हँसने की क्रिया पाँच से बारह महीनों के बीच में बहुत शीघ्रता से नहीं जगती, किन्तु मुसकराने की संख्याएँ बढ़ती जाती हैं।

शैशव काल की संवेगात्मक क्रियाएँ

§ [११] आरम्भिक शैशव काल में कुछ विशेष उत्तेजनाओं के फलस्वरूप शिशु अकस्मात् उछल पड़ता है, उसकी साँस रुक-सी जाती है, मुट्ठियाँ बँध जाती हैं, ओष्ठों में सिकुड़न आ जाती है, वह चिल्ला उठता है, इधर-उधर उद्वेजित हो पैर फेंकने लगता है। इस प्रकार की अन्तः क्रियाएँ हृदय-गति के परिवर्तन, रक्त-प्रवाह, पाचन-सम्बन्धी क्रियाओं के संक्षोभन के रूप में देखी जाती हैं। इन संवेगात्मक क्रियाओं (Emotional reactions) के रूप-भेद की व्याख्या तथा उनकी संख्याओं के विषय में मनोवैज्ञानिकों में गहरा मतभेद है। सामान्यतः यह मान लिया गया है कि बच्चों का संवेगात्मक व्यवहार आरम्भ में अनियमित, विशेषता-हीन और सामान्य (General Excitement) होता है। भय, क्रोध को स्पष्टतः नहीं व्यक्त किया जा सकता। संवेगों के लिए आकस्मिक और अप्रत्याशित उद्दीपकों (Sudden and unexpected) का होना आवश्यक है। बच्चों के संवेगात्मक विकास का वर्णन एक अध्याय में किया जायगा।

शिशुकाल में, अनियमित एवं विशेष प्रतिक्रियाएँ (Diffuse and Specific Reactions during Early Infancy)

§. [१२] आधुनिक काल में शिशु-सम्बन्धी बहुत से प्रयोगों से ऐसे प्रमाण मिले हैं जिनके आधार पर अब हम निश्चित अनुमान करने में समर्थ हैं। इस विषय में ऊपर बहुत कुछ कहा भी जा चुका है। यदि शिशुओं पर दो सप्ताह के भीतर विशेष इन्द्रियों पर उद्दीपक प्रकट किए जायँ, तो उनकी प्रतिक्रियाएँ केवल उन्हीं उद्दीप्तेन्द्रिय-

इन्द्रियोद्दीपकजन्य विशेष एवं अनियमित प्रतिक्रियाएँ

सम्बन्धी इन्द्रियों पर नहीं टिकी रहतीं। विशेष इन्द्रिय-जनित प्रतिक्रियाएँ होती अवश्य हैं किन्तु शरीर के अन्य भागों में भी वैसी ही प्रतिक्रियाएँ (Diffuse movements under specific sensory stimulations) जगती हैं। प्रकाशजनित प्रतिक्रियाओं में केवल पुतलियों का खिचाव ही नहीं दृष्टिगोचर होता, प्रत्युत सर, धड़, बाहुओं तथा पैरों में भी क्रियाएँ होने लगती हैं। इस प्रकार एक-तिहाई क्रियाएँ शरीर के अन्य भागों में और दो-तिहाई आँखों के संचालन में होती हैं। दो सप्ताह के अन्त में शरीर के अन्य अंगों की क्रियाएँ कम होती जाती हैं। इसी प्रकार स्वर-संघात से दूसरे अथवा तीसरे सप्ताह में कई प्रकार की अनियमित प्रतिक्रियाएँ दीख पड़ती हैं। स्वाद तथा ताप-क्रम-सम्बन्धी प्रतिक्रियाएँ भी इसी प्रकार द्योतित होती हैं।

सम्पूर्ण शरीर-सम्बधी क्रियाशीलता का महत्व

.§. [१३] जिन तथ्यों का उद्घाटन ऊपर हुआ है उससे यह स्पष्ट है कि शिशु-व्यवहार की प्राथमिक क्रियाएँ सम्पूर्ण शरीर-सम्बन्धी (Mass activity) होती हैं जिनमें क्रमशः व्यक्तिकरण (Individuation) होता जाता है। इस अनुसधान को कभी-कभी जीवात्मकानुमान सिद्धान्त (Organismic Hypothesis) कहते हैं। श्री इरविन ने इसकी बड़ी सुन्दर व्याख्या की है। प्रथमतः ढाँचे का विकास क्रमशः जीव-पिण्ड से लेकर स्नायु-रचना, या अङ्ग-निर्माण से होता है, किन्तु इस सृष्टि में एक समरसता होती है। इसी प्रकार साधारण व्यवहार प्रारम्भिक सामान्य गुम्फन से, जिसे सर्वाङ्गीण क्रिया (Mass activity) कह सकते हैं, विशेष व्यवहारों का व्यक्तिकरण (Specification or Individuation) होता है। गर्भस्थित शिशु में यह अपने अधिकतम रूप में होता है, किन्तु उस समय भी व्यक्तिकरण क्रियाशील रहता ही है जिसके फलस्वरूप विशेषता, नियमता, यथार्थता (Specificity,

ડેફિનિટનેસ પ્રેસીનેસ

Definiteness and Preciseness) स्पष्ट होती जाती है और क्रिया परिपक्वावस्था तक चलती जाती है। अभिसंधानित प्रतिक्रियाएँ, जिनके विषय मे हमने गत अध्याय मे पढ़ लिया है, इसी प्रकार परिपुष्टि को प्राप्त होती हैं। प्रथमतः सामान्य क्रिया होती है, फलतः क्रमशः विभिन्न रूप दृष्टिगोचर होते हैं।

निष्कर्ष

§. [१४] शिशु-व्यवहार के विभिन्न स्वरूपो की व्याख्या के उपरान्त हम निम्न निष्कर्ष पर पहुँचते हैं। (१) नवजात शिशु सर्वांगीण क्रियाशील होता है जिससे उसके सम्पूर्ण शरीर से प्रक्रियाओं की झलक देखी जाती है। (२) इसके उपरान्त आरम्भिक बचपन में इस सम्पूर्ण क्रिया से निश्चित विशेष तथा अनुकूल प्रतिक्रियाएँ प्रकट होती हैं। (३) व्यक्तिकरण की यह गति जन्म के पूर्व से लेकर निरन्तर क्रम-बद्ध चलती जाती है। (४) जन्मजात प्रकृति के साथ वातावरण-सम्बन्धी प्रभावों की विवृद्धि शिशु को एक बच्चे का स्वरूप देती है। और (५) इस प्रकार बचपन का विकास क्रमशः विशेषता, नियमता एवं यथार्थता के रूप में प्रकट होता जाता है।



छठाँ अध्याय

बचपन में शारीरिक विकास तथा क्रियावाही समर्थता

.§. [१] बचपन के व्यवहारों तथा उसकी विविध क्रियाओं का ज्ञान बच्चों के शरीर की बनावट तथा उसके विकास के समुचित ज्ञान पर निर्भर है। शरीर-आकार तथा अन्य क्रियाएँ एक दूसरे से सम्बन्धित हैं। इस अध्याय में जन्म से लेकर बारह वर्ष की अवस्था तक शरीर के आकार-प्रकार के विकास का वर्णन किया जायगा। गत वर्षों में जो वैज्ञानिक खोजें हुई हैं अथवा जो तथ्य तथा सिद्धान्त निर्धारित किए गए हैं उनसे बचपन-विकास पर बहुत प्रकाश पड़ा है और आज हम इस विषय में वैज्ञानिक ढङ्ग से सोचने की शक्ति रखते हैं।

प्रारम्भिक शारीरिक विकास

.§. [२] शारीरिक विकास एक क्रम-बद्ध विकास है जो गर्भाधान से प्रौढ़ावस्था (From conception to adulthood) तक चलता जाता है। अतः शारीरिक विकास को विविध अवस्थाओं में बाँटना उचित नहीं है। किन्तु अध्ययन की सुविधा के लिए ऐसा करना पड़ता है। गर्भाधान से मृत्यु तक शरीर में क्रमिक परिवर्तन होते हैं, इसलिए किसी विशेष अवस्था का प्रकटीकरण तथा उसकी व्याख्या जीवन-विकास की भूमिका में भ्रामक है। जब तक शिशु अर्थयुक्त शब्दों का प्रयोग नहीं करता तब तक की अवस्था को शिशु-अवस्था (Infancy) कहते हैं। इसी अवस्था में बच्चा खड़ा होना सीखता है और उसकी शारीरिक गतियों के विभिन्न स्वरूप देखे जाते हैं जो क्रमशः व्यक्तिकरण और संगठन के फलस्वरूप होते हैं। १ महीने का शिशु अपने मुख को उठा सकता है। ४ माह की अवस्था में वह अपनी माँ की गोद में बिना सहारे बैठा रह सकता है। ७ माह की अवस्था में वह अकेला बैठ सकता है। ६ महीने में वह गच पर रेंग सकता है। १५ महीने में वह बिना किसी सहारे के चल सकता

है। शारीरिक विकास एक निश्चित अवधि के अनुरूप चलता है और धीरे-धीरे पुरानी प्रक्रियाएँ छूटती जाती हैं।

जन्म से बारह वर्ष तक ऊँचाई का विकास

.§. [३] ऊँचाई में सब लड़के समान नहीं होते। हाँ, लड़कियों से लड़के ऊँचे होते हैं। किन्तु कभी-कभी इस नियम का अपवाद भी देखा जाता है। विभिन्न जातियों तथा माता-पिताओं की ऊँचाई, अन्तर के कारण हैं। ऊँचाई पाँच वर्ष तक बड़ी तीव्रता से बढ़ती है। किन्तु जन्म से २ वर्ष तक विकास विशेष वेगवान् होता है। इसके उपरान्त विकास-क्रम एक-सा हो जाता है। ११ या १२ वर्ष की अवस्था तक लड़के लड़कियों की अपेक्षा अधिक लम्बे होते हैं। सम्पूर्ण ऊँचाई (Total stature) का विकास बचपन के पूर्व भाग में उत्तर भाग की अपेक्षा अधिक देखा जाता है। जन्म से एक साल तक लगभग ३० या ४० प्रतिशत बढ़ती होती है, किन्तु इसके उपरान्त बढ़ती मे कमी पड़ जाती है और ६ वर्ष से लेकर १२ वर्ष तक बढ़ती केवल ५ या ६ प्रतिशत होती है।

नवजात शिशु की ऊँचाई, उसकी बढ़ती

प्रथम दो वर्षों के भीतर बैठने की ऊँचाई (Growth in sitting height) का अत्यधिक विकास होता है। लड़के लड़कियों से इस माप में बढ़ जाते हैं। बैठने की ऊँचाई की बढ़ती का क्रम, खड़े होने की ऊँचाई अथवा सम्पूर्ण ढाँचे के क्रम से, कम होता है। जन्म के समय बैठने की पूरी ऊँचाई, पूरी ऊँचाई की दो-तिहाई होती है। इसका कारण यह है कि इन दिनों सर तथा धड़ की बढ़ती कम होती है और अन्य अन्त के अंगों में बढ़ती द्रुततर होती है।

जन्म से बारह वर्ष तक तौल

.§. [४] साधारण नवजात शिशु की तौल ६ पौंड से लेकर ८ पौंड तक होती है। लड़के लड़कियों की अपेक्षा अधिक भारी होते

हैं। प्रथम १२ महीनों में तौल शीघ्रता से बढ़ती है, उसके उपरान्त १२ वर्ष तक की गति क्रमशः धीमी होती है। ६ या १० वर्ष के लड़कों की तौल उसी अवस्था की लड़कियों की तौल से अधिक होती है किन्तु व्यक्ति-विषमता भी पाई जाती है। किशोरावस्था के पूर्व शेष वर्षों में (१० वर्ष के उपरान्त से १४ वर्ष तक) लड़कियों की औसत तौल, लड़कों से अधिक होती है। जन्म से एक वर्ष तक तौल दूनी हो जाती है। किन्तु ५ वर्ष से ११ वर्ष तक की बढ़ती केवल १० प्रतिशत प्रति वर्ष होती है। तौल की घटती-बढ़ती पर बहुत-सी दशाओं का प्रभाव पड़ता है। अवस्था के अतिरिक्त, जाति-विशेष, माता-पिता भोजन-सामग्री आदि का भी महत्व है।

बारह वर्ष तक सर, धड़ तथा अन्त के भागों का विकास

§. [५] बचपन में शरीर के अन्य अंगों की अपेक्षा सर धीरे-धीरे बढ़ता है। इसका कारण सर के आकार का बहुत पहले से बड़ा होना है। यदि अपनी पुरानी गति से सर बढ़ता जाय तो प्रौढ़ावस्था तक राक्षसी रूप धारण कर ले। सर शरीर की पूर्ण ऊँचाई का २२ प्रतिशत भाग होता है। अतः शरीर की पूरी ऊँचाई, सम्पूर्ण तौल तथा बाहुओं और पैरों की अपेक्षा सर की बढ़ती का क्रम बहुत धीमा होता है। प्रथम वर्ष से ८ वर्ष तक सर ऊँचाई में १५ प्रतिशत बढ़ जाता है और चौड़ाई में केवल १० प्रतिशत बढ़ती होती है। इस बीच में सर की गोलाई में अन्तर पड़ जाता है, और वह कुछ लम्बाकार हो जाता है। १ महीने की अवस्था में इसकी परिधि, ३ वर्ष की अवस्था की परिधि से, केवल दो-तिहाई होती है। ६ वर्ष की अवस्था में प्रौढ़ावस्था के सर से लम्बाई-चौड़ाई ६० प्रतिशत होती है। १२ वर्ष में यह ६५ प्रतिशत होता है। ६ वर्ष की अवस्था में सर की बढ़ती सम्पूर्ण शरीर की ऊँचाई तथा तौल से धीमी होती है। ३ वर्ष की अवस्था तक शिशु का ढाँचा ८० प्रतिशत बढ़ जाता है और तौल २०० प्रतिशत बढ़ जाती है। ६ वर्ष के पहले

सर तथा उसकी बढ़ती की तुलना

ऊँचाई पौने तीनगुनी हो जाती है और तौल पाँचगुनी हो जाती है। शेष ६ वर्षों में ऊँचाई २३/४ गुनी और तौल दसगुनी हो जाती है। जन्म के समय सर की ऊँचाई पर ढाँचे से साढ़े चार गुनी होती है, पाँच या छः वर्ष की अवस्था में पाँच गुनी, दस वर्ष में ६ गुनी से अधिक, १५ वर्ष और उसके उपरान्त सात गुनी हो जाती है। जन्म से लेकर प्रौढ़ावस्था तक सर की ऊँचाई दूनी हो जाती है, किन्तु उनका सम्पूर्ण ढाँचा साढ़े तीस गुना हो जाता है। लड़कों के सर की लम्बाई, चौड़ाई, मुटाई लड़कियों के सर से अधिक होती है। यही दशा चेहरों की लम्बाई और चौड़ाई के विषय में भी पायी जाती है।

धड़ तथा अंत के भाग की बढ़ती

§. [६] नवजात शिशु की धड़ और सर के भाग सम्पूर्ण शरीर से अधिक होते हैं। ६ तथा ७ वर्ष की अवस्था में धड़ की लम्बाई-चौड़ाई जन्म की दूनी हो जाती है। ६ और १२ वर्षों के बीच इनकी बढ़ती ६ वर्ष की बढ़ती की केवल आधी होती है। जन्म से प्रौढ़ावस्था तक धड़ तीगुनी बढ़ जाती है। धड़ का आकार ढाँचे और तौल से सम्बन्धित है। जन्म के समय छाती का औसत घेरा १२ इञ्च होता है। ३ वर्ष में यह २० इञ्च हो जाता है। आरम्भिक वर्षों में इसकी बढ़ती तीव्र होती है। २ वर्ष से ८ वर्ष तक बच्चों के ऊपरी तथा अग्रिम बाहु-अंग और सम्पूर्ण हाथ एक गति से बढ़ते हैं। जन्म से २ वर्ष तक इनकी बढ़ती तीव्र होती है और वह ७५ प्रतिशत हो जाती है। ८ वर्ष में २ वर्ष की अपेक्षा यह अंग ५० प्रतिशत बढ़ जाते हैं। अति दूर के अंग (Extremities) आरम्भ के २ वर्षों में ४० प्रतिशत तथा आगे के ६ वर्षों में ५० प्रतिशत बढ़ जाते हैं। जन्म के समय हाथों की लम्बाई का अनुपात पैरों से अधिक होता है। यह अनुपात वेग से २ वर्ष से ६ वर्ष के भीतर घट जाता है। १३ वर्ष बाद इनकी बढ़ती होती है, जो क्रमशः एक-सी रहती है। निकट-दूर के नियमन (Proximo-distal Development) के अनुसार इनका बढ़ाव होता है। परिधि के पार्श्ववर्ती

अंग मध्य तथा धड़ के अंगों के पश्चात् विकास को प्राप्त होते हैं। लड़कियों में पैरों की वार्षिक बढ़ती बाहुओं की बढ़ती से ९ वर्ष और ११ वर्ष के भीतर अधिक होती है, किन्तु यह अन्तर लड़कों में ९ वर्ष और १३ वर्ष के बीच देखा-जाता है। लड़के और लड़कियों में चाहे वे ऊँचे, साधारण अथवा छोटे ढाँचे के हों, इस प्रकार का अन्तर बचपन के सभी वर्षों में देखा जाता है।

ऑसिफिकेशन डेन्टीशन

अस्थि-वृद्धि तथा दन्त-वृद्धि (Ossification and Dentition)

§. [७] बचपन के विकास का ज्ञान अस्थियों की वृद्धि तथा दाँतों के पुनर्विकास द्वारा भी जाना जा सकता है। एक्स-रे द्वारा अस्थियों का निर्माण देखा गया है। जन्म के समय २७० अस्थियों के केन्द्र देखे गए हैं। आगे के २-३ वर्षों मे इनकी संख्या में कमी होती जाती है, क्योंकि कई केन्द्र आपस मे संयोजित हो जाते हैं। इसके उपरान्त फिर १४ वर्ष की अवस्था तक वृद्धि होती है, जिसके फलस्वरूप ३५० विविध अस्थियों के रूप देखने में आते हैं। इसके पश्चात् संख्या में फिर घटती होने लगती है और २० वर्ष के उपरान्त की अवस्था मे ही अस्थियाँ प्रौढ़ावस्था की परिपक्वता प्राप्त करती हैं और उस समय उनकी संख्या २०६ या २०८ होती है। जन्म के समय कुछ अस्थियों और उनके विभाग औरो की अपेक्षा अधिक वृद्धि को प्राप्त होते हैं। पैर के ऊपर की अस्थि सभी शिशुओं मे बन जाती है। जन्म के समय लड़कियों मे लड़कों की अपेक्षा अस्थियों के अधिक केन्द्र पाए जाते हैं और उनकी अस्थियों की वृद्धि मे शीघ्रता भी पाई जाती है। ६ वर्ष की अवस्था में अस्थि-ढाँचे में लड़कियाँ लड़को की अपेक्षा अधिक प्रबल होती हैं। आरम्भिक बचपन में ही दाँतों का निकलना आरम्भ हो जाता है। दूध के दाँतों के निकलने की गति क्रमिक होती है। लड़कियों मे दाँतों का निर्माण लड़कों की अपेक्षा अधिक देर मे होता है। ६ महीने में दूध के दाँत निकलते हैं और ढाई वर्ष तक निकलते जाते हैं। उत्तरकालीन बचपन मे यह टूटने

लगते हैं और नये दाँत निकलते हैं।

मांसपेशियाँ (The Muscular System)

§. [८] बचपन में सम्पूर्ण शरीर की तौल की अपेक्षा मांसपेशियों की वृद्धि अनुपाततः धीमी होती है। जन्म के समय मांसपेशियों की तौल सम्पूर्ण शरीर की एक चौथाई होती है; ८ वर्ष की अवस्था में एक चौथाई से अधिक होती है, १५ वर्ष की अवस्था में एक तिहाई, तथा १६ वर्ष की अवस्था में $\frac{3}{4}$ भाग से अधिक होती है।

रक्त-संचालन तथा श्वास-क्रिया

§. [९] बचपन में रक्त की मोटी नालियाँ लम्बाई तथा व्यास में बढ़ जाती हैं और उनकी दीवारें मोटी और शक्तिशाली हो जाती हैं।

हृदय तथा रक्त-नाड़ियाँ, रक्त-दबाव आदि

६ वर्ष की अवस्था में, एक साधारण बच्चे के हृदय की तौल जन्म के समय से पाँच गुनी हो जाती है, १२ वर्ष की अवस्था में सात गुनी तथा प्रौढ़ावस्था में बारह-गुनी हो जाती है। हृदय का आकार विभिन्न बच्चों में विभिन्न होता है। लड़कों तथा लड़कियों का रक्त-दबाव अवस्था के अनुसार बढ़ता जाता है। आरम्भ में लड़कों और लड़कियों के रक्त-दबाव में कोई अन्तर नहीं होता, किन्तु १० और १३ वर्ष की अवस्था के बीच में लड़कियों में लड़कों की अपेक्षा अधिक पाया जाता है। इसी कारण लड़कियों में यौवन पहले प्रस्फुटित होता है। १६ वर्ष के उपरान्त लड़कियों में रक्त-दबाव कम हो जाता है। दोनों प्रकार के बच्चों में प्रबल रक्त-दबाव यौवन-काल में पाया जाता है। बचपन में हृदय तथा नाड़ी-गति बहुत धीमी पड़ती जाती है, विशेषतया आरम्भिक वर्षों में ह्रास-गति अधिक वेगवती होती है।

§. [१०] एक लड़का कितनी वायु अपने फेफड़े के भीतर भर सकता है? जन्म के समय से लेकर कुछ वर्षों तक इसकी जाँच नहीं हो सकती अतः ६ वर्ष के पहले की गति के बारे

में हमें कुछ नहीं ज्ञात है। ६ वर्ष से १२ वर्ष तक लड़कों और लड़कियों की वायु की धारणा-शक्ति (Breathing Capacity) दूनी हो जाती है। लड़के इस क्रिया में लड़कियों से आगे रहते हैं। १२ वर्ष की अवस्था के पश्चात् लड़कों की धारणा-शक्ति ६ वर्ष में फिर दूनी हो जाती है, किन्तु लड़कियों की धारणा-शक्ति में केवल ५० प्रतिशत बढ़ती पायी जाती है। श्वास लेने तथा वायु-धारणा-शक्ति का ऊँचाई तथा तौल से घनिष्ट लगाव है। ऊँचे और भारी लड़कों को आक्सीजन की अधिक आवश्यकता पड़ती है। यह सम्बन्ध लड़कियो की अपेक्षा लड़कों में अधिक पाया जाता है।

श्वास लेने की धारणा-शक्ति

स्नायु-तन्त्र (The Nervous system)

§. [११] स्नायु-तन्त्र की अधिकतम वृद्धि जन्म के पूर्व ही होती है। यह क्रिया जन्म के पश्चात् ३ या ४ वर्ष तक चलती रहती है। जन्म के पूर्व स्नायुयों के आकार और प्रकार में वृद्धि होनी है। सम्भवतः जन्म के उपरान्त स्नायुओं की विवृद्धि मात्र होती है। मस्तिष्क-वृद्धि के विपय में ठीक-ठीक ज्ञान अभी नहीं ज्ञात हो सका है। इसके विषय में हमे या तो मरे हुए बच्चों के मस्तिष्क की काट-छाँट-क्रिया से कुछ ज्ञात होता है अथवा मस्तिष्क की वाह्य जाँच से। प्रथम प्रमाण से यह ज्ञात है कि मस्तिष्क की अधिकतम वृद्धि गर्भस्थित अवस्था में होती है जो जन्म के उपरान्त ३-४ वर्ष तक चलती जाती है। मस्तिष्क की तौल, ४ वर्ष की अवस्था में प्रौढ़ावस्था की तौल की ⅘ भाग होती है। इसके उपरान्त धीमी पड़ जाती है और किशोरावस्था तक पहुँचते-पहुँचते अपनी अन्तिम सीमा तक पहुँच जाती है। लघु मस्तिष्क (Cerebellum) गर्भ-स्थिति में बहुत तीव्रता से बढ़ता है और जन्म के उपरान्त २ महीनो तक कम चाल से किन्तु उसी प्रभाव से बढ़ता है। इसके पश्चात् गति मे मन्दता आ जाती है। जन्म के समय मस्तिष्क का

मस्तिष्क की वृद्धि

निम्न भाग मस्तिष्क की सम्पूर्ण तौल का ६ प्रतिशत होता है और प्रौढ़ावस्था में ११ प्रतिशत से कुछ कम हो जाता है। प्रौढ़ावस्था में मस्तिष्क जन्म के समय का ४ गुना होता है किन्तु हृदय, कलेजा, फेफड़े १० से १८ गुने तक बढ़ जाते हैं।

सामान्य शरीर-वृद्धि (General Bodily Growth)

§. [१२] वास्तव में, शरीर की सम्पूर्ण वृद्धि उसके अंगों और उपांगों की वृद्धि का समाहार है। शरीर के विभिन्न अंगों के तीव्र-गामी विकास की भिन्न-भिन्न अवधियाँ हैं। शरीर की वृद्धि मस्तकाधोमुखी नियम के अनुसार होती है जिसका वर्णन विस्तार में हमने बहुत पहले ही देख लिया है। ऊपर के विवरणों से यह ज्ञात हो चुका है कि शरीर के भिन्न-भिन्न अंगों की वृद्धि, भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में भिन्न-भिन्न माप-मात्राएँ रखती हैं। ऊँचाई और तौल की वार्षिक प्रतिशत मात्रा प्रारम्भिक दिनों में उत्तरकालीन बचपन की अपेक्षा अधिक होती है।

वृद्धि की प्रकार-दशाएँ

स्केमॉ ने तौल तथा ऊँचाई के विभिन्न रेखा-आलेखनों से चार प्रकार की गतियाँ (Types of Growth) प्रकट की हैं जो हैं (१) द्रव-पदार्थ-सम्बन्धी प्रकार-दशा (The Lymphoid type): इस अवस्था मे तौल ११ या १२ वर्ष तक द्रुत गति से बढ़ती है और उसके उपरान्त प्रौढ़ावस्था (१८-२० वर्ष) तक घटती जाती है; २० वर्ष की अवस्था में १८ वर्ष की अवस्था की केवल आधी होती है। इसे द्रव-पदार्थ-सम्बन्धी कोटि इसलिए कहते हैं कि यह क्रिया कंठ-ग्रन्थि (Thymus glands) तथा रसवाही ग्रन्थियो (Lymph nodes) के फलस्वरूप होती है। (२) दूसरी प्रकार-दशा स्नायु-सम्बन्धी (The Neural type) कही जाती है। इसमें स्नायुओं की वृद्धि ३ या ४ वर्ष तक द्रुत वेग से होती है, और उसके उपरान्त १२ या १४ वर्ष की अवस्था तक धीमी पड़ती प्रौढ़ावस्था को प्राप्त हो जाती है। (३)

सामान्य प्रकार-दशा (The General type): ऐसी अवस्था में वेगवती गति प्रारम्भिक बचपन में होती है और फिर वही किशोरावस्था में देखी जाती है। इसके अनुसार श्वास-भोजन-सम्बन्धी अंग, प्लीहा तथा सम्पूर्ण हड्डियों का ढाँचा आदि वृद्धि करते हैं। (४) लिंग-सम्बन्धी प्रकार-दशा (The Genital type): इसमे वृद्धि किशोरावस्था के पूर्व कम होती है, किन्तु उसके बाद बड़ी तीव्र हो जाती है।

वृद्धि में व्यक्ति-विषमता (Individual differences in Growth)

§. [१३] शरीर-विकास में व्यक्ति-विषमता किस प्रकार की होती है? हम देखते हैं कि कुछ बच्चे १० वर्ष की अवस्था में बड़े हैं, कुछ छोटे हैं। छोटी ऊँचाई वाले क्या प्रौढ़ावस्था में अपने साथियों के समान होने के लिए तीव्र गति से वृद्धि पाते हैं? वे बच्चे, जो किसी अवस्था में विकास-स्थिति में समान होते हैं क्या अन्य दशा में भी समान होते हैं? क्या वे बच्चे जो किसी दशा में औरो से भिन्न होते हैं, सब दशाओ में भिन्न होते हैं? इन प्रश्नों के उत्तर में यह कहा जा सकता है कि वे लड़कियाँ जो शीघ्र प्रौढ़ हो जाती हैं अपनी अवस्था की अन्य लड़कियों से जो बहुत दिन बाद प्रौढ़ होती हैं, अधिक लम्बी और भारी होती हैं। यह अन्तर किशोरावस्था के बहुत पूर्व बचपन के मध्य भाग में दृष्टिगोचर होता है। वे लड़कियाँ, जो १३ वर्ष के पूर्व प्रौढ़ हो जाती हैं, ६ से १४ वर्ष की प्रत्येक अवस्था में उन लड़कियों से जो १४ वर्ष में प्रौढ़ होती हैं, अधिक लम्बी तथा भारी होती हैं। ऊपर के उदाहरण में दूसरे प्रकार की लड़कियाँ १३ के बाद प्रौढ़ होने वाली लड़कियों से ६ वर्ष से १५ वर्ष की अवस्था में, अधिक लम्बी तथा भारी होती हैं। यह अन्तर अस्थियों तथा शरीर के अन्य भागों की वृद्धि में बड़ा महत्त्वपूर्ण है।

बचपन में क्रियावाही समर्थताओं का विकास (Development of Motor Capacities)

§. [१४] जीवन को साधारण क्रियाओं के पूर्व उनके यथार्थ

परिचालन के लिये शिशुओं तथा बच्चों को अपने शरीर को अपने वश में करने की आवश्यकता पड़ती है। क्रियावाही विकास से ही बच्चों को प्रचुर शक्ति मिलती है जिसके फलस्वरूप वे जीवन-क्रियाओं को भली भाँति सम्पादित करने में समर्थ हो सकते हैं। इस विकास का ज्ञान, बचपन को भली-भाँति समझने के लिए अपेक्षित है। सर तथा नयन-संचालन, वस्तुओं के प्रति शरीर-अंगो का संगठन-पूर्ण व्यवहार, बैठना, खड़ा होना, रेंगना, चलना और कूदना-फाँदना मानसिक तथा सामाजिक विकास के मूल में है। शब्द-स्वर की उत्पत्ति क्रियावाही गति के विकास पर निर्भर है। लिखावट के मूल मे गतिवाही व्यवहार की योग्यता है जिसके फलस्वरूप वह बौद्धिक बल बन सकती है। बचपन-विकास तथा सामाजिकता के विकास में क्रियावाही भूमिका का विशेष महत्व है। इन्हीं क्रियावाही गतियों से बच्चा, असहायावस्था से क्रमशः शक्ति, गति तथा यथार्थ और निश्चित उपक्रियाओं की ओर उन्मुख होता है। जीव-सत्ता की उपकरण-विधियाँ शारीरिक तथा क्रियावाही विकास-गतियों में ही निहित हैं। प्रौढ़ लोग भी क्रियावाही गतियों पर निर्भर करते हैं। औद्योगिक, व्यावसायिक, सामाजिक, मनोरंजन-सम्बन्धी सभी क्रिया-कलापों और विचारों को उन्हे कार्य-रूप मे परिणत करना पड़ता है। हमारे मानसिक विचार तथा तथ्य बोलकर अथवा लिखकर ही व्यक्त किए जाते हैं। अपने विचारों को प्रभावशाली बनाने के लिए गतिशील होना आवश्यक है। पागलपन के भय के बाद लकवा का ही भय सब से अधिक है, क्योंकि इससे हम सदा के लिए जीवन की महत्तर गतियों से विमुख हो जाते हैं। सुखद जीवन के लिए बचपन से बुढ़ौती तक क्रियावाही गति-संयम अपेक्षित है। बच्चों की शिक्षा दीक्षा सब कुछ इसी पर निर्भर करती है। सौभाग्यवश इस विषय में महत् प्रयोग किये गये हैं, अनुसंधान हुए हैं। श्री कारमाइकेल (Carmichael) ने बहुत-सी खोजें की हैं, जिनमें जन्म के पूर्व की

क्रियावाही व्यवहार की महत्ता

अवस्थाओं के विषय मे तथा पशुओं के बारे में उनके २५४ अनुसंधान महत्वपूर्ण हैं। प्रारम्भिक पाठशालाओं, शिशु-विद्यालयों (Nursery schools) में किए गये अनुसंधान अगणित हैं।

क्रियावाही संगठन (Motor Co-ordination)

§. [१५] हमने देख लिया है कि शरीर की बहुत-सी मांसपेशियों में दो का संयोग है, और उनकी रचना-व्यवस्था ऐसी है कि एक के खिचाव में दूसरी विस्तारित अथवा ढीली पड़ जाती मांसपेशीय संयमन है। जब इन दोनों में एक साथ विस्तार बढ़े अथवा ये दोनों एक साथ ही समान वेग से ढीली पड़ जायँ तो गति नहीं हो सकती। ऐसी स्थिति में जटिल स्थिरता अथवा ढीलापन आ जाता है। जटिल स्थिरता या तनाव शिशुओं में विशेषतया तथा जब वे क्रोध के आवेश में आ जाते हैं अथवा भयाकुल हो जाते हैं, पाया जाता है। इन दो प्रकार की मांसपेशीय विरोधी क्रियाओं के संतुलन में ही क्रियावाही संयमन पाया जाता है। मांसपेशीय संयमन (Muscular Control) की अभिवृद्धि तो स्नायुओं की विवृद्धि, मांसपेशीय ढाँचे तथा अभ्यास के ऊपर आश्रित है। सरल तथा साधारण सहनियम को सीखते समय बच्चों को स्वतन्त्रता की आवश्यकता होती है। उनकी नाना-प्रकार की क्रिया-गतियों को यथेष्ट अवसर मिलना चाहिये। कुछ माता-पिता बच्चों से बहुत पहले ही गति-संतुलन की अपेक्षा करते हैं। ऐसा करने में वे बच्चों के प्रति निरर्थक रूप से निर्देशित होते हैं और फलतः लाभ के स्थान पर हानि करते हैं। बच्चों को, सहनियम तथा यथार्थ संतुलन के लिए प्रारम्भ में अनियमित गति-संचालन तथा असंयमित रूपभेद (Random activities) प्रदर्शित करने पड़ते हैं जिनके फलस्वरूप उन्हे शारीरिक अनुभूतियाँ प्राप्त होती हैं जो क्रमशः चर्म, स्नायु-मज्जा, मांसपेशियों तथा बन्धों-अनुबन्धों (Tendons and joints) से उद्भूत होती है। अतः बच्चों को शारीरिक अनुशासन में रखना हानिकारक है। उनकी

स्वाभाविक गति में किसी प्रकार का अवरोध भयंकर है ।

सरलता से जटिलता

§. [१६] बहुधा प्रौढ़ लोग बच्चों पर बिगड़ते हैं, क्योंकि वे सरल से सरल कार्य करने मे असमर्थ होते हैं । वास्तव में, बच्चे सरलता से ही जटिलता (From Simple to Complex) की ओर उन्मुख होते हैं । जटिल कार्यों के लिए सूक्ष्म सहनियम का होना आवश्यक है और साथ-ही-साथ बृहत् मासपेशी-दलों का संगुम्फन भी । माता-पिता तथा अध्यापकों को बच्चों के सभी कार्य स्वयं नहीं कर देने चाहिये और न उन्हें जटिल कार्य करने को उपदेशित करना चाहिये ।

कार्यवाही समर्थता में मस्तकाधोमुखी का नियम

§. [१७] हमने दूसरे अध्याय में बतलाया है कि कार्यवाही समर्थता यों ही अनियमित ढङ्ग से नहीं आती, प्रत्युत उसमें एक नियम है । बच्चों मे पहले पैरों में संयम नहीं आता और न उसके बाद आँखों, सर और फिर पाँवों, बाहुओं तथा गर्दन आदि अंगों में होता है । यह सब विकास एक-नियम के अनुरूप चलता है । पहले आँखों में, तब सर, गर्दन में, तब कहीं जाकर बाहुओं और धड़ के ऊपर के भागों में विकास आता हैं और इसके उपरान्त अन्त में धड़ के निम्न भागों, पैरों तथा अँगुलियों में सहनियम-उपस्थित हो पाता है । यह सब मस्तक से पाँव तक (मस्तकाधोमुखी नियम) के नियम के अनुसार चलता है । ये क्रियाएँ जन्म के पूर्व और उपरान्त दोनों अवस्था मे चलती हैं । कार्यवाही विकास हड्डियों, मासपेशियों, तथा नाड़ी-तन्त्रों की विवृद्धि (Maturation) पर आश्रित है । साथ ही-साथ यह विकास पैर, धड़, तौल, ऊँचाई के विकसित अनुपात-सम्बन्ध पर भी निर्भर है । ये तथ्य बड़े महत्व-पूर्ण हैं जिनपर माता-पिता शिक्षकों आदि को ध्यान देना चाहिये ।

शरीर-स्थिति (Posture)

§ [१८] नवजात शिशु (Neonate) अपने सर को सँभाल

नहीं सकता। बिना सहारे उसका सर संयमित (Head control) नहीं होता। किन्तु कुछ शिशुओं में जन्म लेने के कुछ घण्टों के उपरान्त ही यह क्रिया देखी गयी है। अधिकतर एक मास का बच्चा पीठ के बल पड़ा हुआ अपने सर को ऊपर नहीं रख सकता। २ माह की अवस्था में यह सम्भव होता है। एक मास में चित पड़े रहने पर पेट और छाती के बल से बच्चा अपने सर को ऊपर उठा सकता है। ४ माह में वह अपने सर को ऊपर उठाने मे समर्थ हो जाता है। ४ माह के शिशु तीन-चौथाई संख्या में तथा ६ माह के सभी शिशु तीन-चौथाई संख्या मे तथा ६ माह के सभी शिशु किसी की गोद में बैठे रहने पर, उचित टिकाव के पाने पर, अपने सर को सीधा रख सकते हैं। वास्तव में, यह क्रिया नाड़ी-तन्त्र की विवृद्धि पर आश्रित है।

सर-संयमन

.§. [१६] बहुधा सभी शिशु ४ माह की अवस्था में मेरुदण्ड के सीधेपन तथा कड़ेपन को दिखाने मे समर्थ होते हैं। ऐसी बात दस दिन के शिशुओं में भी पायी गई है। किन्तु यह प्रारम्भिक अवस्था में बहुत कम होता है। पट पड़े रहने पर शिशु बहुधा अपने सर को और कंधों को उठाने का उद्योग करते हैं। ४ माह की अवस्था में लगभग २० प्रतिशत या दो-तिहाई शिशु बैठ सकते हैं। ६ माह में सभी साधारण शक्ति वाले बच्चे बैठ जाते हैं।

बैठना

.§. [२०] सभी शिशु साधारणतः १८ महीनों में खड़े हो जाते हैं, किन्तु कुछ २० प्रतिशत से लेकर ५० प्रतिशत तक एक वर्ष की अवस्था में भी खड़े हो सकते हैं। इस समर्थता के लिए उचित भोजन बहुत सहायक होता है। हाथ के सहारे से कुछ शिशु ६ महीने में, और सभी १२ महीने में खड़े हो जाते हैं। बीमारी, भोजन इत्यादि का प्रभाव इस क्रिया में निहित है। उठने की क्रियाओं की अथवा सीधे खड़े होने की छ अवस्थाएँ हैं:

बिना सहारे खड़ा होना

(१) पड़े-पड़े सर को उठाना,
(२) क्षण भर के लिए बिना सहारे बैठ जाना,
(३) बिना सहारे बैठ जाना,
(४) किसी वस्तु को पकड़ कर खड़ा रहना,
(५) किसी वस्तु के सहारे स्वयं खड़ा होने की क्रिया करना, तथा
(६) खड़े-खड़े बैठ जाना।

चलने-फिरने की गति (Locomotion)

§. [२१] आरम्भिक बचपन में चलना विकास का द्योतक है। ६ और १८ महीनों के बीच में यह क्रिया व्यवस्थित होती है। तीन विविध अवस्थाएँ देखने में आती हैं: घुसकना, रेंगना, तथा चलना (Crawling, Creeping and Walking)। पहली अवस्था में शिशु अपने हाथों-पैरों को चलाता है, किन्तु शरीर को उठाने में समर्थ नहीं हो पाता। (१) घसकने की क्रिया में शिशु गति-शील होता है, वह पड़ा-पड़ा बढ़ता है, ऐसी स्थिति में एक पैर को काम में लाता है, और दूसरा मुड़ा रहता है अथवा फैलाए रहता है। कुछ शिशुओं में बाहुओं और हाथ का प्रयोग भी देखा गया है। शिशु पट-अवस्था में सर और कधों को ऊपर उठा कर एक या दोनों पैरों को घिसकी देकर अपने को आगे खींचता है। कभी-कभी हाथों की सहायता से भी अपने को आगे ठेलते हैं। रेंगने में शिशु अपने बाहुओं और पैरों को चलाता रहता है और उसकी धड़ उठी रहती है। चलन में ऊपरी खिंचाव की स्थिति पायी जाती है।

विभिन्न अवस्थाएँ: घसकना, रेंगना, चलना

रेंगने के विकास में निम्न दशाएँ देखी जाती हैं: (१) पेट के बल पड़े रहने पर सर और चिबुक का उठाना, (२) पेट के बल, सर और छाती को उठाना, (३) घुटनों को फेंकना या तैरने के समान क्रिया करना, (४) गोलाकार घूम जाना, (५) एक ही स्थान पर हिलना, एक ही स्थिति में इधर-उधर घूम जाना तथा कीड़ों-सा रेंग जाना, (६)

हाथ के बल पीछे चला जाना, और (७) आगे बढ़ जाना। चलने की क्रिया के विकास में निम्न अवस्थाएँ दृष्टिगोचर होती हैं: (१) पद नापने की आरम्भिक क्रियाएँ करना, (२) किसी व्यक्ति के सहारे खड़ा हो जाना, (३) किसी के सहारे चलना, (४) अकेले खड़ा हो जाना, और (५) अकेले चलना। चलने की क्रिया में शिशु अपनी शक्ति का विकास करता है जो कि निम्न ढङ्ग से परिलक्षित होती है: (१) चलने की गति में क्रमशः चाल बढ़ती है, (२) पगों की लम्बाई बढ़ती है, (३) पगों की चौड़ाई में कमी होती है, (४) पगों के कोणों में कमी होती है, और (५) चलने में अगूठों को आगे बढ़ाने की अपेक्षा पगों को सीधे ले जाने की प्रवृत्ति में बढ़ती होती है।

घसकने, रेंगने एवं चलने की क्रियाओं में सदैव एक नियम नहीं पाया जाता। कुछ बच्चों में अनियमितता देखी जाती है। कुछ बच्चों में चलने की क्रिया घसकने अथवा रेंगने के पूर्व ही देखी गयी है। किन्तु यह अनियमता असामान्य रूप से ही घटित होती है।

§. [२२] ऊपर जो तथ्य उपस्थित किये गये हैं वे सामान्य हैं। माह चार के कुछ बच्चों में पट पड़े रहने पर इधर-उधर घूम जाने की क्रियाएँ देखी जाती हैं। ६ माह में कुछ शिशु पट दशा में रेंगने लगते हैं। कुछ ६ माह में ही इस क्रिया में समर्थ हो जाते हैं और १२ माह में सभी बच्चे रेंग लेते हैं। उचित भोजन की कमी से विकास में अवरुद्धता पायी जाती है। कसे कपड़े, रोग, उचित भोजन की कमी, तथा वातावरण के तत्व इस क्रिया में बहुत अंश में लगे रहते हैं, और इन्हीं कारणों से चलने-फिरने के विकास में ठीक से अभिवृद्धि नहीं हो पाती। ६ माह के शिशु किसी के हाथ को पकड़ कर एक लय में चल लेते हैं। १२ माह में बहुत संख्या में साधारण शिशु बिना सहायता के चल पाते हैं। १८ माह के उपरान्त सभी साधारण शिशु चलते हैं। यदि इस विकास में कोई गड़बड़ी पायी जाय तो इसका तात्पर्य रोगादि का होना है।

चलने-फिरने की अवस्थाएँ

बच्चों के चलने की गतियाँ और उनका महत्व

§ [२३] बचपन के चलने-फिरने के विकास में विशेष गतियाँ देखी जाती हैं जो अनियमित होती हैं। शिशु केवल एक पैर आगे बढ़ा सकता है और उसपर बल देने के उपरान्त दूसरे पैर को बढ़ाता है। यह गति क्रमशः चलती रहती है और इसी से एक लय में हाथों तथा पैरों का संचालन होता है जो बाद को सहनियम (Co-ordination) का रूप पकड़ लेता है। सहनियम के पूर्व पैरों, तलवों, अँगूठों, शरीर, बाहुओं की विभिन्न क्रियाएँ होती हैं। शरीर-सन्तुलन (Postural control) इसीसे आता है। लगता है, पूरी गति के पहले शिशु विभिन्न प्रकार के अनुसंधान में लगा हो। जब समयानुकूल चलने की क्रिया का अभाव होता है तो माता-पिता विभिन्न प्रकार की कल्पनायें करने लगते हैं। जब कुछ बच्चे प्रारम्भिक कक्षाओं में पढ़ने मे विकास की कुछ कमी दिखाते हैं, तो माता-पिता यह कहते हैं कि इसका कारण उनके शरीर के विकास का समयानुकूल न होना है और वे कालान्तर में ठीक हो जाएँगे। इस मत के विरुद्ध कुछ लोग बच्चों के देर से चलने का कारण उनकी बुद्धि-हीनता (Feeblemindedness) बताते हैं। अतः जब किसी के बच्चे शीघ्र नहीं चल पाते हैं तो उनके माता-पिता चिन्तित हो जाते हैं। इस में सन्देह नहीं कि बच्चों की बहु संख्या १३ या १४ महीनों में और सभी बच्चे एक या डेढ़ वर्ष में चलने लगते हैं; यह भी सत्य है कि साधारण बच्चे बुद्धिहीनों से पहले चलने में समर्थ होते हैं किन्तु अनुसंधानों से यह ज्ञात हुआ है कि कुछ बच्चे जो प्रारम्भिक अवस्था में शीघ्र चलने में असमर्थ थे, वे साधारण बुद्धि के अथवा तीक्ष्ण बुद्धि के थे। अतः इस सम्बन्ध में सावधान हो जाना चाहिये क्योंकि अटकल लगाने से व्यर्थ की चिन्ता बढ़ जाती है और माता-पिता के बार-बार कहने से बच्चों के मस्तिष्क पर बुरा प्रभाव पड़ता है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, शीघ्र चलने के अभाव का कारण, या तो कोई रोग रहा है, जैसा सूखा रोग या भोजन-सम्बन्धी कोई कमी अथवा

वातावरण की प्रतिकूलता रही है।

सीढ़ियों, पेड़ों आदि पर चढ़ना

.§. [२४] ऐसा देखा जाता है कि उचित प्रेरणा से बच्चे सीढ़ियों पर घसकते या रेंगते हुए चढ़ जाते हैं। यह क्रिया चलने के पूर्व भी हो जाती है। कभी-कभी बच्चे उतर भी जाते हैं। यदि कोई संवेगात्मक आवेश न हो अथवा शारीरिक गड़बड़ी न हो तो बच्चे किसी के हाथ को पकड़ कर सीढ़ियों पर चढ़ जाते हैं। यह क्रिया ३ वर्ष मे परिपक्व हो जाती है। यह क्रिया क्रमशः एक पैर को जमा-कर दूसरे पैर को रखने से आरम्भ होती है। ४ वर्ष की अवस्था में बहुधा बच्चे प्रौढ़ लोगों के समान सीढ़ियों पर आ-जा सकते हैं। यदि लड़कों को पर्याप्त स्वतन्त्रता अथवा उचित अवसर दिया जाय तो वे इस क्रिया को भली भाँति करने के योग्य हो जाते हैं। यदि अवसर मिले तो बच्चे पाठशाला जाने के पूर्व पेड़ पर भी चढ़ सकते हैं। पेड़ पर चढ़ने के लिये बाहुओं, पैरों, शरीर तथा सर के संचालन में संगठन की आवश्यकता होती है। यदि किसी दुर्घटनावश यह क्रिया बन्द नहीं हो गई तो कालान्तर में इसमें पूर्णता प्राप्त की जा सकती है। देहाती बच्चे इस क्रिया में बहुत पहले दक्ष हो जाते हैं। ८ या १० वर्ष के बच्चे कभी-कभी पेड़ों के शिखरों पर आसीन दीख पड़ते हैं। लड़कियाँ भी यह कार्य कर सकती हैं और देहात में उन्हें लड़कों के समान ही पेड़ों पर देखा जाता है।

दौड़ना, कूदना, फाँदना

.§. [२५] बच्चे अकेले चल सकने के उपरान्त दौड़ने में प्रयुक्त होते हैं। आरम्भ में शीघ्रता के कारण वे बुरी तरह से गिर भी जाते हैं। अवस्थानुसार चलने में अभ्यास से यह क्रिया बढ़ती जाती है। खेल-कूद से यह क्रिया उत्तरोत्तर विकसित होती जाती है। २ वर्ष के बच्चे थोड़ी ऊँचाई से कूद सकते हैं। वे प्रारम्भिक अवस्था में आगे नहीं जा सकते किन्तु क्रमशः शरीर को आगे-पीछे फेंकने में समर्थ हो जाते हैं। इस क्रिया में विकास शीघ्रतर होता है।

४ वर्ष के बच्चे इसमें योग्य हो जाते हैं। वास्तव में, चलने-फिरने कूदने-फाँदने आदि शारीरिक समर्थताओं में विवृद्धि का विशेष हाथ है।

पकड़ (Prehension or Grasping)

इसकी गतियाँ तथा विकास

§ [२६] वास्तविक पकड़ के पूर्व पकड़ की सहज क्रिया (Grasping reflex) होती है। वास्तविक पकड़ में तीन क्रियाएँ क्रमशः संयमन से परिलक्षित होती हैं: (१) किसी वस्तु का नयनेन्द्रिय-ज्ञान, (२) उस वस्तु की ओर हाथ बढ़ाना, और (३) उस वस्तु को हाथ में बन्द करना। इस पकड़ को पकड़ की सहज क्रिया से, जो सभी नवजात शिशुओं में पायी जाती है, विभिन्न समझा जाना चाहिए। कुछ लोगों का कहना है कि पकड़ की क्रिया का आरम्भ अँगूठे या हाथ को मुख में डालने से होता है। यह क्रिया जन्म के २ या ३ महीनों में पायी जाती है। किसी वस्तु को जान-बूझ कर उठा कर मुँह में डालने का समय ६ से १६ सप्ताह तक है। दूसरे सप्ताह में शिशु स्थिर वस्तु पर एकटक देखते हुए पाए गए हैं। ४ माह की अवस्था में शिशु उस वस्तु को, जिसे उसने पकड़ लिया है, देखता है, अथवा उस हाथ पर, जिसने उस वस्तु को पकड़ कर रखा है, आँख गड़ा कर देखता है। किसी वस्तु के लिए उद्योग करना ८ वें से १६ वें सप्ताह में देखा जाता है, यद्यपि बच्चा कोई निश्चित गति देने में असमर्थ होता है। ४ माह के बच्चे अपने बँधे हाथों को किसी वस्तु को पकड़ने के लिए, बढ़ाते हुए देखे गये हैं। ६ माह के पूर्व सभी शिशुओं में किसी देखी हुई वस्तु को पकड़ना सम्भव नहीं है। पकड़ का विकास निम्न बातों पर निर्भर है: (१) समय की अवधारणा पर; जितनी देर तक बच्चा किसी वस्तु को ध्यान से देख सके। (२) उस वस्तु तक पहुँचने के लिए वह जिस प्रकार की क्रियाएँ करता है, (३) अनिश्चित क्रियाओं की संख्या, और (४) उस वस्तु की पकड़ में प्रतिशत त्रुटियाँ। इस क्रिया में विशेष विकास ४ से १२ महीनों के भीतर देखने में आता है।

ऐच्छिक क्रियाओं की गति तथा विशुद्धता
(Speed and Accuracy of Voluntary Movement)

§. [२७] बच्चों की ऐच्छिक क्रियाओं की गति-चाल तथा विशुद्धता का अध्ययन चार वर्ष के पूर्व भली भाँति नहीं किया जा सकता, क्योंकि इसके पूर्व बहुत-से बच्चों में समय तथा चाल की धारणा का उचित ज्ञान नहीं होता। ऐच्छिक क्रिया की जाँच के लिए 'खट-खटाना' (Tapping) काम में लिया गया है। सारी ऐच्छिक क्रियाएँ जटिल होती हैं, खटखटाना भी सरल नहीं है। गुडइनफ तथा टिंकर के अनुसंधानो से यह व्यक्त हुआ है कि खटखटाने की चाल की वृद्धि बचपन में क्रमिक होती है। गेट्स तथा स्कॉट ने अपने अनुसंधानों से बताया है कि पाठशाला जाने के पूर्व बच्चों की साधारण कार्य-सम्बन्धी चाल उनके क्रियावाही विकास की द्योतक है। बटन लगाना, खोलना आदि सूक्ष्म तथा सहनियमित क्रियाओं (Speed of fine & well co-ordinated movement) की चाल भी, अध्ययन करके निकाली गई है। छिद्रों में लकड़ियों का डालना आदि बातें लड़कों की क्रियावाही समर्थताओं के द्योतक हैं। मनोवैज्ञानिक प्रयोगशालाओं में बच्चों द्वारा खींचने तथा लक्ष्य करने के प्रयोग किए गए हैं। पाठशाला जाने के पूर्व लड़कों में ऐच्छिक क्रियाओं में बड़े वेग से प्रवीणता (Accuracy of voluntary movement) आती है। उन्नति क्रमशः किशोरावस्था तक चलती जाती है। ६ वर्ष की अशुद्धता से १२ वर्ष की अशुद्धता आधी हो जाती है। लड़कियों और लड़कों में कोई विशेष अन्तर नहीं दीखता।

मांसपेशीय शक्ति (Muscular Strength)

§. [२८] बचपन में मांसपेशीय शक्ति का विकास बच्चों की कार्यवाही विवृद्धि (Motor maturation) का द्योतक है और इसी से बच्चे अपने को जीवन की विविध दशाओं तथा समस्याओं के अनुरूप बनाते हैं। बच्चों की मूठ-शक्ति को जाँचने के लिए एक विशेष प्रकार

का यन्त्र है जिसे हैण्ड डाइनैमोमीटर (Hand Dynamometer) कहते हैं। बच्चे उसे भरपूर शक्ति से दबाते हैं।

मांसपेशीय शक्ति का माप, मूठ-शक्ति

इसी प्रकार पैरों की शक्ति, पीठ-शक्ति आदि की जॉच होती है। किन्तु बच्चे इन यन्त्रों के महत्व को उतना अधिक नही समझते, अतः अब तक माप के चिह्न उतने संतोषजनक नहीं कहे जा सकते। पूरे बचपन भर और २० वर्ष के पहले मूठ-शक्ति (Strength of grip) बढ़ती जाती है। ७ वर्ष की अवस्था की मूठ-शक्ति से १२ वर्ष की अवस्था वाली दूनी होती है, और १७ वर्ष वाली चौगुनी हो जाती है। लड़कियों में भी १२ वर्ष की शक्ति ६ वर्ष वाली शक्ति से दूनी होती है, किन्तु १७ वर्ष वाली से केवल ५० प्रतिशत बढ़ती होती है। लड़के लड़कियों से इन अवस्थाओं में अधिक शक्तिशाली होते हैं। पाठशाला जाने के समय के बच्चों में मांसपेशीय शक्ति में अधिक लक्षण-परिवर्तनशीलता (Variability of traits) पाई जाती है। ऐसी बात ऊँचाई, छाती-घेरा, सर-परिधि तथा शरीर-सम्बन्धी माप-

शारीर लक्षणों में परिवर्तनशीलता

जॉच में नहीं पाई जाती है। श्वास-शक्ति, तौल, मांसपेशीय शक्ति में शरीर के ढॉचे तथा सर-छाती की परिधि से अधिक परिवर्तनशीलता देखी जाती है। सामान्यतः, अधिक स्थिर देखे जाने वाले मापों में (ऊँचाई आदि में) परिवर्तनशीलता कम होती है, किन्तु इससे अधिक क्रियाशील गतियों में (शक्ति आदि में) परिवर्तनशीलता अधिक पाई जाती है। यह एक महत्वकारी प्राणि-शास्त्र सम्बन्धी सिद्धान्त है।

ऊँचाई तथा तौल की शक्ति का अनुपात एवं वातावरण-प्रभाव

§. [२६] बच्चों की शक्ति उसकी ऊँचाई तथा तौल से ७ वर्ष से लेकर १२ वर्ष तक, और २० वर्ष तक भी अधिक तीव्रता से बढ़ती है। लड़कों की शक्ति-तौल का अनुपात लड़कियों से अधिक होता है। लड़कों की शक्ति तथा तौल का शक्ति तथा ऊँचाई से पारस्परिक सम्बन्ध बहुत अधिक होता

है, किन्तु ऐसी बात लड़कियों में नहीं पाई जाती। शक्ति तथा सहनशीलता वातावरणमूलक हैं। इन परिस्थितियों में विशेष महत्वकारी हैं: कसरत, नींद, आराम, स्वच्छ वायु, भोजन। अभिभावकों तथा माता-पिताओं को इस तथ्य को जानकर बच्चों का उचित परिवर्द्धन करना चाहिए, नहीं तो बचपन-विकास मे गड़बड़ी हो सकती है।

थकावट

.§. [३०] शारीरिक समर्थता तथा थकावट का सम्बन्ध क्रियावाही अयोग्यता नहीं है, प्रत्युत यह बच्चों की अभिरुचि पर निर्भर करता है। बच्चों की अभिरुचि बहुभेदी होती है। ६ वर्ष से लेकर ६ वर्ष के बच्चे थकावट के शिकार हो जाते हैं। ६ वर्ष से १२ वर्ष तक उनमें थकावट उतनी तीव्रता से नहीं आती। मासपेशीय शक्ति की जाँच-पड़ताल प्रत्येक अवस्था में कठिन है, किन्तु प्रारंभिक बचपन मे तो असम्भव-सी है। बच्चों की रुचि दौड़ती रहती है, वे बहुत शीघ्र ही श्रान्ति का अनुभव कर सकते हैं और एक छोड़ दूसरी वस्तु में लग जाते हैं और फलतः क्रियावाही समर्थता मे कमी पड़ जाती है। किन्तु थकावट का सम्बन्ध शारीरिक सीमा (Physiological limit) से भी है। निरन्तर क्रिया से मासपेशियों मे श्लथता आ जाती है।

क्रियावाही शक्तियों में प्रकृत तथा वातावरणीय विकास

.§. [३१] क्या शिशुओं का क्रियावाही विकास विवृद्धि पर निर्भर है, या शिक्षा पर आश्रित है? क्या उनकी क्रियावाही शक्ति-सम्बन्धी योग्यता में शिक्षा अथवा अभ्यास (Nature and Exercise) से समय से पूर्व विकास लाया जा सकता है? प्रयोगात्मक रूप से इसकी जाँच के लिए दो दल प्रस्तुत किए जाते हैं। एक दल को प्रयोग-दल (Control group) तथा दूसरे दल को अछूता-दल कहते हैं। ऐसा करने मे दोनों दलों की समानता की जाँच-पड़ताल कर ली जाती है। इस विषय में गेसेल तथा टामसन के प्रयोग प्रसिद्ध हैं जिन्होंने जुड़वाँ बच्चों की जाँच की है। इन लोगों ने अपनी खोजों से विवृद्धि

तथा सामान्य वातावरण को विशेष महत्व दिया है। शिर्ले ने क्रियावाही विकास के विषय में तीन अनुमान स्थापित किये हैं, जिन्हे क्रमशः (१) विवृद्धि, (२) सीखना, और (३) प्रकृत योग्यता कहते हैं। वास्तव में, तीनों, क्रियावाही योग्यता, विवृद्धि तथा सीखना बच्चों के क्रियावाही विकास में महत्वपूर्ण हैं। जिस बच्चे में मौलिक योग्यता होगी वह उचित वातावरण मे अच्छी विवृद्धि प्राप्त कर सकेगा। जिसमें विवृद्धि होगी वह सीखने का अच्छा लाभ उठा सकेगा और जिसे सिखाया जायगा वह मौलिक प्रकृति तथा विवृद्धि के बल पर बहुत कुछ सीख सकता है। अतः क्रियावाही समर्थता में नैसर्गिक एवं वातावरणजन्य प्रभाव साथ-साथ चलते रहते हैं। शारीरिक एवं मानसिक विकास में मौलिक प्रकृति एवं वातावरण (Nature and Nurture) दोनो अप्रतिहत रूप से विराजमान रहते हैं।



सातवाँ अध्याय

बचपन में भाषा-विकास

.§. [१] मानव की मनोवैज्ञानिक क्रियाओं में भाषा-व्यवहार का एक विशिष्ट महत्व है। बचपन-विकास की महान् योजनाओं में भाषा-ज्ञान तथा उसका प्रवर्द्धन, परिमार्जन एवं नियमन अपनी पृथक् उपयोगिता रखते हैं। बोलने की शक्ति मौलिक है, किन्तु उसका विकास सीखने पर निर्भर करता है। इस अध्याय में हम बचपन के भाषा-विकास पर मनोवैज्ञानिक प्रकाश डालेंगे। बचपन से लेकर प्रौढ़ावस्था तक बच्चा भाषा-सम्बन्धी योग्यता और प्रवीणता की प्राप्ति में निरन्तर लगा रहता है। बच्चा कालान्तर में जो कुछ सीखता है वह सब कुछ उसकी भाषा-समर्थता पर आश्रित है। बच्चे के अध्ययन-सम्बन्धी कार्य तथा कर्तृत्व-विकास और उसके चरित्र तथा व्यक्तित्व के विविध रूप उसकी भाषा तथा वाक्शक्ति पर निर्भर करते हैं। भाषा व्यवहारों को सूक्ष्म रूप देती है, और नाना प्रकार की अनुभूतियों को दूसरा रूप देती चली जाती है। भाषा सामाजिक आदान-प्रदान का प्रमुख उपकरण है। बचपन-विकास के विविध स्वरूपों पर भाषा-सम्बन्धी आचरणों (Language Habits) का विशेष महत्व है।

भाषा का सीखना

.§. [२] हमने चौथे अध्याय में सीखने के जिन महत्वपूर्ण सिद्धान्तों एवं तत्वों का वर्णन किया है वे सभी भाषा-प्राप्ति के विभिन्न उपकरणों के रूप में देखे जा सकते हैं। वास्तव में, भाषा-विकास सीखने की एक क्रमिक क्रिया है जिसमें मौलिक प्रकृति के साथ वातावरण-प्रभाव अविच्छेद्य रूप में विराजमान रहते हैं। ऐसा कहा जाता है कि सीखने में बच्चे स्वभावतः अनुकरण-शील (Imitative) होते हैं, किन्तु आरम्भिक भाषा-सम्बन्धी क्रियाओं के विषय में ऐसा सोचना

भ्रामक है। यदि बच्चे 'बाबा' शब्द को सुन कर स्वयं 'बाबा' कहते हैं तो इस क्रिया में अतीत क्रिया-विकास भी सन्निहित है। विभिन्न उत्तेजनाओं के फलस्वरूप बच्चों की सामान्य प्रतिक्रियाओं में अनियमित वाक्-क्रियाएँ (Random Vocalizations) भी पायी जाती हैं और बोलने की शक्ति का आरम्भ इन्हीं से होता है। आरम्भिक वाक्-प्रक्रियाएँ किसी विशेष स्थिति-उत्तेजनाओं द्वारा नहीं उत्पन्न होतीं, वरन् वे सामान्य क्रियाओं के समष्टि रूप के व्यष्टि रूप हैं। जब बच्चा 'माँ' कहता है, तो वह उसे स्वयं सुनता है। इस समय अभिसंधान-विधि (Conditioning in Verbal Learning) से सीखने का संगठन हो सकता है। 'माँ' अथवा 'दादा' कहने से बच्चे स्वयं उत्तेजित हो स्वर तथा वाक्-क्रियावाही गति (Vocal motor acts) के सम्बन्ध को समझने लगते हैं। इस प्रकार का स्वानुकरण (Self Imitation) बार-बार होता देखा जाता है। बच्चा एक स्वर अथवा शब्द को बार-बार दुहराता है। बहरे बच्चे ऐसी क्रिया में असमर्थ होते हैं। स्वानुकरण के पश्चात् प्रौढ़ लोगों की सहायता अपेक्षित है। जब बच्चा किसी शब्द-खण्ड को उच्चारित करता है, और उसी समय प्रौढ़ लोग उसे दुहरा दें अथवा उसके आगे तदनुरूप शब्द-खण्ड जोड़ दें तो इससे सम्बद्धता स्थापित हो जाती है। जैसे 'मा' शब्द के आगे 'दा' या 'बा' जोड़ दिया जाय तो बच्चा 'मादा' या 'माबा' कहने लगेगा। किन्तु यह भी स्पष्ट अनुकरण नहीं है, प्रत्युत यहाँ प्रौढ़ स्वयं अनुकरण करता है और बच्चा प्रेरणात्मक भाव से प्रभावित हो आगे कुछ कह जाता है। यह मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि बच्चा अपनी स्वाभाविक वाक्-क्रिया के विकास की भूमिका में ही अपना भाषा-विकास करता है। वास्तव में, बचपन विकास में भाषा-विकास एक प्रमुख तत्व है।

अनुकृति करना

§. [२] ऊपर की बातों से यह स्पष्ट है कि बच्चा प्रथमतः 'कहता है', 'सुनता है', और फिर 'सुनकर कहता है'। इस "सुनकर कहने की क्रिया" के उपरान्त बच्चा, शब्द-ज्ञान तथा

उसके विकास की ओर उन्मुख होता है। यदि बच्चे के आगे एक पाती रख दी जाय, तो वह पाती के रूप आकार, रंग आदि का क्रमशः प्रत्यक्षज्ञान कर लेता है। यदि उसके साथ-ही-साथ 'पाती' शब्द का उच्चारण कर दिया जाय तो बच्चा 'पाती' कह देता है। कालान्तर में पाती देखने पर बच्चा 'पाती' कह सकता है, क्योंकि पहले का अनुभव काम मे आता है।

वस्तु-नामों को सीखना, सामान्य-से-विशेष का नियम

किसी रूप आकार तथा तज्जनित घटनाओं से सम्बन्धित होने पर किसी शब्द का अर्थ भी द्योतित हो जाता है। वह शब्द स्वयं एक उत्तेजना का रूप पकड़ लेता है जिससे भाव-प्रक्रिया उत्पन्न होती है; और यही उस शब्द का अर्थ है। आरम्भिक काल मे शब्द-उद्दीपक के फलस्वरूप जो प्रक्रिया होती है, वह सामान्य समष्टि-मूलक होती है। यदि बच्चे ने 'बाबू' शब्द सीख लिया तो वह आरम्भ में सब वस्तुओं तथा लोगों को 'बाबू' ही समझेगा। किन्तु यह प्रक्रिया क्रमशः अर्थ-विकास के साथ विशेषता पकड़ती जाती है।

.§. [४] बचपन में एक ही बार के दुहराने से उच्चारण अथवा अर्थ समझ मे नहीं आता क्योंकि अनुकरणात्मक प्रक्रिया (Imitative activities) में बच्चे कुछ-का-कुछ कह जाते हैं, तथा 'आँख' को 'आँक' 'रम्मू' को 'अम्भू' 'कौआ' को 'कोका', 'गाना' को 'माना' या 'गॉगॉ' आदि। धीरे-धीरे उच्चारण-शक्ति के विकास से शब्दो की विशेषता को वे पकड़ते जाते हैं। यह प्रयास-एवं-त्रुटि (Trial-and-Error in Verbal learning) के सिद्धान्त पर आधारित हैं, जैसे भाषा सीखने का क्रियात्मक ढंग कहा जा सकता है। अतः यह स्पष्ट है कि भाषा-विकास में भी सामान्य विकास-सम्बन्धी नियम घटित होते देखे जाते हैं, जिनका विवेचन गत अध्यायों में हो चुका है। भाषा-विकास में भी समष्टि से व्यष्टि अथवा सामान्य से विशेष का व्यक्तिकरण (From General to Speci-

भाषा सीखने में क्रियात्मक ढंग

fic) देखा जाता है। इतना ही नहीं, भाषा के सीखने में अनुकृति, अभिसंधान तथा प्रयास-एवं-त्रुटि की विधियाँ चला करती हैं।

भाषा-सम्बन्धी कार्य (Language Functions)

§. [५] भाषा-सम्बन्धी कार्य के विषय में रग, कुएगर, सॉएडर-गार्ड तथा पियाजे आदि प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिकों ने अपने प्रयोगों द्वारा व्यापक निष्कर्ष निकाले हैं। इन लोगों के अनुसार बच्चे आरम्भ में सामाजिकता से बहुत दूर होते हैं, इनके शब्द उनकी शक्ति, उनके ही रूप-व्यवहार, उनकी ही आशाओं, पुकारों आदि के द्योतक होते हैं बच्चों की सारी वाक्-क्रियाएँ दो प्रकार की होती हैं। उनमें से एक वैयक्तिक (Egocentric) तथा दूसरी सामाजिक (Socialized) कही जाती है। वैयक्तिक भाषा-क्रियाओं में बच्चा किसी और से बातें नहीं करता उसकी बातचीत तो उसी की क्रियाओं मे केन्द्रित होती है।

वैयक्तिक एवं सामाजिक बातचीत

यदि आप बहुत से छोटे-छोटे बच्चों को एक साथ खेलते हुए देखें तो उनका संसार निराला मिलेगा। वे अपने पृथक्-पृथक् विश्व मे स्थित, बोलते रहते हैं, किसी अन्य से सम्बन्ध नहीं दीखता। सर फ्रांसिस गालटन के लाक्षणिक शब्द में वे ऐसे 'बैल' हैं जो एक झुण्ड में तो रहते हैं किन्तु सामाजिक नहीं होते (Golton's figurative ox—gregarious, but not social)। सामाजिक बातचीत का भाषा-विकास में वस्तुतः विशेष महत्व है। सामाजिक बात-चीत भाषा-विकास की अधिक विकसित अवस्था का द्योतक है। यद्यपि बच्चे वैयक्तिक स्वार्थ-सम्बन्धी-क्रियाओं में तल्लीन तो अवश्य रहते हैं, किन्तु सामाजिक बातचीत में वे एक-दूसरे की ओर भी उन्मुख होते हैं। ऐसी स्थिति मे बच्चे एक दूसरे से प्रश्न करते हैं, उत्तर देते हैं, झगड़ा करते हैं, विरोध करते हैं, किसी एक काम करने को साथ ही उद्यत हो जाते हैं और एक दूसरे से किसी काम को करने अथवा न करने के लिए उद्बोधित करते हैं। सामाजिक बातचीत के आरम्भ हो जाने

पर वास्तविक विकास आरम्भ हो जाता है। पिजाये (Piaget) ने एक प्रयोग द्वारा साढ़े छ वर्ष के दो बच्चों के साथ प्रयोग करके सिद्ध किया कि उनकी नाना प्रकार की १५०० उक्तियों में ३८ प्रतिशत वैयक्तिक तथा ४५ प्रतिशत सामाजिक थीं। मैकर्थी (McCarthy) ने सिद्ध किया है कि वैयक्तिक उक्तियाँ शीघ्र घटती जाती हैं। पियाजे के भाषा-सम्बन्धी प्रयोग अति विख्यात हैं।

भाषा-विकास की विविध अवस्थाएँ (Stages in Language Development)

§. [६] प्रयोगों से तथा निरीक्षण से पता चला है कि बचपन के भाषा-सम्बन्धी विकास में अधिकतर पाँच अवस्थाएँ दृष्टिगोचर होती हैं :

(१) आरम्भिक निरर्थक वाक्-क्रियाओं (Random Vocalizations) की अवस्था,

(२) भाषा की समझ (Language Comprehension) की अवस्था,

(३) एक-शब्द (One-word) की अवस्था,

(४) एक शब्द-वाक्योच्चारण (One-word Sentences) की अवस्था और

(५) जटिल वाक्योच्चारण (Complex sentences) की अवस्था।

भाषा-सम्बन्धी पहली क्रिया जन्म-पुकार (Birth Cry है। जन्म-स्वर कंठ-सूत्रों में अचानक वायु-प्रवेश से उत्पन्न होता है। सम्भवतः

प्रारम्भिक वाक्-क्रियाएँ

यह क्लैरटन के कथनानुसार एक सहज क्रिया (Reflex action) है जिसमें किसी संवेगात्मक अथवा मानसिक भाव का सर्वथा अभाव है। कुछ निरीक्षकों ने २ सप्ताह के भीतर बच्चों में 'न' 'ङ' या विस्तारित 'अ' की स्वर-पुकारें जिसे 'अङ्' या 'अ'

कहा जा सकता है, देखा है। ये वाक्-क्रियायें क्रमशः विशेषताएँ ग्रहण करती हैं। ज्यों-ज्यो बच्चा बड़ा होता जाता है, उसकी वाक्-शक्तियाँ क्रमशः स्पष्ट होती जाती हैं। निरर्थक वाक्-क्रियाए एक या डेढ़ वर्ष के उपरान्त ३ या लगभग ३½ वर्ष तक बड़ी द्रुत गति से घटती हैं। १ या १½ वर्ष के बच्चों की लगभग चौथाई उक्तियों समझ में आ जाती हैं। २ वर्ष की अवस्था में लगभग सभी वाक्-क्रियाएँ स्पष्ट हो जाती है। दूसरे की बोली को कुछ समझना भाषा-सम्बन्धी दूसरी अवस्था का द्योतक है। स्वयं बोल सकने के पूर्व बच्चा सुन कर समझने में लगा रहता है। यही बात कालान्तर के निश्चेष्टात्मक तथा सचेष्टात्मक (Unintentional & Intentional) शब्द ज्ञान-भाण्डार के अन्तर में भी लागू होती है। गेसेल महोदय ने इस अवस्था के विषय में व्यापक खोजें की हैं।

भाषा-समझ

प्रारम्भिक वाक्-क्रियाओं तथा भाषा-समझ के उपरान्त बच्चे एक शब्द को उच्चारित कर अपने भावों को व्यक्त करने में लग जाते हैं। किन्तु यह स्थिति एक शब्द के पूर्ण ज्ञान की नहीं है। मेरी लड़की अनामा दो वर्ष की अवस्था मे भी 'बाबूजी' शब्द से बहुत-सी वस्तुओं तथा सभी नर-नारी को पुकारती थी। उसकी माँ ने समझा कि उसकी बेटी अनामा अपने पिता जी को 'बाबूजी' पुकार लेती है किन्तु जब मेरे अन्य साथियों को भी अनामा ने 'बाबूजी' ही कहकर सम्बोधित किया तो उसने अपने भ्रम को समझा। ऐसी भ्रामक समझ बहुत से माता-पिताओं में पायी जाती है। वास्तव में, एक शब्द के पूर्ण ज्ञान के लिए बहुत-सी विशेष उत्तेजनाओं की आवश्यकता पड़ती है। बच्चों के प्रथम शब्द 'पापा', 'मामा', 'दादा', 'बत्ता' आदि हैं। एक वर्ष की अवस्था में अधिकतर साधारण बच्चे अपने सचेष्टात्मक शब्द-भाण्डार में दो या तीन शब्द जोड़ लेते हैं। स्वानुभूतियों के आधार से विविध वस्तुएँ, घटनाएँ, व्यक्ति या सरल तथा जटिल परिस्थितियों बच्चों को विशेष

एक-शब्द की अवस्था

अर्थ देती जाती हैं। प्रारम्भिक बचपन में बच्चा, वस्तुओं को फेंकता है, खींचता है, मारता है, उनका स्वाद लेता है, रगड़ता है, तोड़ता-मरोड़ता है, उन्हे सुनता है, और देखता है, उनकी गन्ध लेता है, उन्हें उठाता है, फेंकता है, गिराता है, और घुमाता है।

शब्द-अर्थ का विकास

इन क्रियाओं से अथवा उनके प्रभाव से वह उन वस्तुओं का अर्थ समझने लगता है। जब वह वस्तुओं को संज्ञाएँ देने लगता है, तो उसके उपरान्त उनकी क्रियाओं के संघात से उत्पन्न भावों-अर्थों को भी समझने लगता है। यदि बच्चों से, उनके प्रारम्भिक बचपन में, जब वे चार या पाँच वर्ष के होते है, कुर्सी, जूते, आदि शब्दों का अर्थ पूछा जाय तो वे यही कहेंगे, 'कुर्सी पर वैठा जाता है', 'जूता पहना जाता है'। अतः शब्दों के अर्थ में क्रिया की सभी सम्भावनाएँ सन्निहित हैं। बच्चे उन शब्दों को, जिन्हे वे प्रयोग में लाते हैं, अथवा जिनकी वे परिभाषा दे सकते हैं, भलीभाँति समझ जाते हैं इसके अतिरिक्त वे कुछ और शब्दों को भी समझते हैं भले ही वे उन्हें प्रयोग में न लाते हो। वाक्-शक्ति के विकास में किसी आवश्यकता की पूर्ति भी प्रेरणा देती है। जैसे 'पानी' और 'पीना' शब्दों में बच्चों को पानी मिल जाता है, अतः ये शब्द उसके लिए बड़े महत्त्व के हो जाते हैं। आरम्भिक अवस्था में बच्चा एक शब्द से एक वाक्य का अर्थ व्यक्त करता है। वास्तव में, एक शब्द के साथ उसके हाव-भाव, भगिमाएँ देखने में आती हैं अतः हम उसे समझ लेते हैं। वह केवल 'गेंद' शब्द का उच्चारण कर गेंद की ओर देखेगा, माता उसके भावों को समझ उसे गेंद दे देती है। 'गेंद' कहने से "मुझे गेंद दो", "गेंद खेलूँगा", "यह सुन्दर गेंद है" "मैं इसे पसन्द करता हूँ", "यही मेरा गेंद है", आदि वाक्यों का अर्थ समझा जा सकता है। एक शब्द के उपरान्त क्रमशः दो शब्द का वाक्य बनता जाता है। १८ महीने के कुछ बच्चे इस क्रिया में

एक शब्द-वाक्योच्चारण की अवस्था

समर्थ पाए गए हैं। २ वर्ष की अवस्था वाले ५० प्रतिशत बच्चे दो शब्दों के वाक्य बनाकर अपने भाव व्यक्त कर लेते हैं। दो वर्ष के कुछ बच्चे 'मैं', 'तुम', "मुझे" आदि सर्वनामों का भी प्रयोग कर लेते हैं। यदि घर का वातावरण ठीक है तो ३ वर्ष के ७५ प्रतिशत बच्चे ऐसा कर सकते हैं। ४ वर्ष के ५० प्रतिशत साधारण बच्चे 'कुर्सी', 'घोड़ा', 'चम्मच', 'गुड़िया', 'पेंसिल', आदि शब्दों में कम-से-कम चार की परिभाषा बता सकते हैं। पञ्चवर्षीय बच्चों की तीन-चौथाई संख्या ऐसा बिना किसी कठिनाई के कर सकती है। १८ माह के कुछ बच्चे चित्र में देख कर एक वस्तु का नाम संस्करण कर लेते हैं। तीन वर्ष के कुछ साधारण बच्चे दो-एक वर्णन करने वाले शब्दों को जानते हैं। पाँच वर्ष के कुछ बच्चे एक चित्र को देख कर उसका वर्णन कर लेते हैं। शब्दों की संख्या से बच्चों की भाषा-सम्बन्धी बुद्धि देखी जाती है।

वाक्य

४ या ४½ वर्ष तक की अवस्था वाले बच्चों के विकास को उनके भाषा-विकास से जाना जा सकता है। एक वाक्य में शब्दों की संख्या १८ माह की अवस्था में १.२ से लेकर ४, ४½ वर्ष में ४.६ तक जा सकती है। बच्चों की मानसिक योग्यता के अनुसार वाक्यों की सरलता अथवा जटिलता देखी जाती है। बच्चों की भाषा की उन्नति उनके वाक्यों की बनावट से जानी जाती है। ज्यों-ज्यों बच्चा बढ़ता है उसके वाक्य सुन्दर रूप पकड़ते जाते हैं।

वाक्यों की लम्बाई

मैकर्थी के अनुसार १८ माह और ४½ वर्ष के बीच में वाक्यों की बनावट में कई प्रकार के परिवर्तन देखे जाते हैं। आरम्भ में वाक्यों की बनावट अपूर्ण और ऊबड़-खाबड़ होती है, यद्यपि उनसे काम चल जाता है। किन्तु क्रमशः यह दुर्बलता दूर होती जाती है। आरम्भ में सरल, किन्तु क्रमशः मुहावरों से पूर्ण वाक्य निकलने लगते हैं। ग्यारह तथा बारह वर्ष के बच्चे बड़े-बड़े वाक्यों का प्रयोग करते हैं।

वाक्यों की बनावट

मेरे छोटे भाई डा० सरयू प्रसाद चौबे एड० डी० (इण्डियाना यूनिवर्सिटी, अमेरिका) ने अपनी पुस्तक 'बाल-मनोविज्ञान' में निम्नलिखित भाषा-सम्बन्धी एक प्रयोग उपस्थित किया है। मेरी ४ वर्ष की भतीजी गिरिजा ने भाषा-सम्बन्धी निम्न प्रतिक्रियाएँ उपस्थित कीं :

(१) माँ तुम्हारे बाबू जी की क्या लगती है ?

[उसने अपनी माँ का नाम बतलाया]

(२) बाबू जी तुम्हारी माँ के क्या लगते हैं ?

[उसने कहा, 'सर्जुन के भैया' क्योंकि उसकी माँ अपने पतिदेव को इसी प्रकार पुकारती हैं]

(३) मैं तुम्हारे बाबू जी का क्या लगता हूँ ?

[उसने कहा, 'भीम' क्योंकि उसके पिता उसके छोटे चाचा को इसी नाम से पुकारते हैं]

(४) तुम मेरी क्या लगती हो ?

[उसने कहा, 'गिरिजा']

(५) तुम्हारे बाबू जी मेरे क्या लगते हैं ?

[उसने कहा, 'भैया']

(६) तुम्हारी माँ मेरी क्या लगती हैं ?

[उसने कहा, 'भौजी']

(७) [अमरूद दिखा कर] यह किस लिए है ?

[उसने कहा, 'खाने के लिए']

(८) [कलम दिखा कर] यह किस लिए है ?

[उसने कहा, 'लिखने के लिए']

(९) [घड़ी दिखा कर] यह क्या है ?

[उसने कहा, 'घड़ी, इसे नहीं छूना चाहिए']

इसी प्रकार गिरिजा ने सभी प्रश्नों का ठीक-ठीक उत्तर दिया।

शब्द-भाण्डार का विकास (Growth of Vocabulary)

§. [७] बचपन के शब्द-भाण्डार में कई प्रकार के शब्द पाए जाते हैं यथा, बातचीत-सम्बन्धी, सुन कर समझ में आनेवाले, लिखकर

प्रयोग में लाए जाने वाले, तथा पढ़ कर समझ में आने वाले। ये प्रकार बच्चो मे बैठ कर अथवा उनकी परीक्षा करके जाने जा सकते हैं। मनोवैज्ञानिकों ने प्रयोग करके, खिलौनों, चित्रों, पुस्तकों तथा विविध प्रश्नों द्वारा बच्चो के शब्दों के विभिन्न प्रकार जाने हैं। बच्चे भाषा-विपयक क्रियाओं में इतने सचेष्ट तथा कार्यशील होते हैं कि उनके शब्दों का लेखा-जोखा लेना कठिन-साध्य है। १ वर्ष की अवस्था मे एक साधारण बच्चा २ या ३ शब्दों से बातचीत करता है। २ वर्ष की अवस्था में उसके शब्दों की संख्या ३०० हो जाती है, और ३ वर्ष में ६००। इसके उपरान्त विकास का क्रम तीव्र हो जाता है। ४ वर्ष होते-होते १५००, ५ वर्ष मे २००० तथा ६ वर्ष में २५०० की संख्या पहुँच जाती है। ६ वर्ष के उपरान्त इन संख्याओं की गिनती अभी तक ठीक-ठीक नहीं हो सकी है। इन शब्दों की सख्याएँ विविध विधियों से जानी गयी हैं। श्री टर्मन ने स्टैनफोर्ड-बिने के शब्द-भाण्डार-माप परीक्षा-पत्र (Terman : The Stanford-Binet Vocabulary Test) से यह जाना है कि ८ वर्ष की अवस्था में शब्दों की संख्या ३६०० है, १० वर्ष में ५४००, और १२ वर्ष में ७२०० है। स्मिथ महोदय ने बच्चों की क्रमशः शब्द-प्रतिक्रियाओं से यह उपस्थित किया है कि १८ से लेकर ४½ वर्ष तक जो शब्द-विकास होता है वह महत्त्वपूर्ण है।

शब्द-वृत्तियों के प्रकार तथा अवस्था-विशेष में शब्द-भाण्डार

§ [८] मनोवैज्ञानिकों ने निरीक्षण से उद्घोषित किया है कि २ वर्ष की अवस्था में बच्चों के शब्दों में ५० प्रतिशत "संज्ञाएँ" (Nouns) पाई जाती हैं, कभी-कभी कुछ विशेष बच्चों में इसकी संख्या ६० प्रतिशत होती है। इसका कारण आरम्भ से वस्तुओं की संज्ञाओं का परिज्ञान है। इन शब्दों में उनकी वस्तु-अनुभूतियों का मूल पाया जाता है। ये शब्द, जैसा कि पहले देख चुके हैं, वाक्यों का भी काम करते हैं। संज्ञाओं के उपरान्त

शब्द-भाण्डार में विभिन्न व्याकरण-सम्बन्धी शब्द

विकास-क्रम से "क्रियाओं" की बढ़ती होती है और ऐसी अवस्था में संज्ञाओं में कमी हो जाती है। ५ या ६ वर्ष की अवस्था में क्रियाओं का आधिक्य हो जाता है, और अनुपाततः संज्ञाएँ कम होती जाती हैं। इसी प्रकार संज्ञा के बाद क्रिया तथा तदुपरान्त सर्वनाम, विशेषण, क्रिया-विशेषण, संयोजक आदि शब्दों का विकास होता जाता है। शब्द-विकास मे क्रमशः प्रत्यक्षीकरण से परोक्षीकरण की अनुभूतियों का विकास सहायक होता है।

बारह वर्षों तक पढ़ने का विकास

पढ़ना तथा उसकी क्रिया

§. [६] बचपन के भाषा-विकास की क्रियाओं मे पढ़ना (Reading) एक विशेष महत्व रखता है। पढ़ने के लिए इस के पूर्व का विकास अनिवार्य है। पाठशाला में जाकर पढ़ने के पूर्व साधारणतः प्रत्येक बच्चे की शब्द-संख्या लगभग २५०० रहती है। उसके वाक्य सामान्यतः पाँच शब्दों के बने होते हैं। पढ़ने के लिए शब्दों का लिखाना तथा उनको ठीक-ठीक से लिखा कर पढ़ाना आरम्भ काल में हानिकारक समझा गया है। पढ़ना एक जटिल कार्य है। इसके लिए विचार, भावनाएँ और मानसिक झुकाव अपेक्षित हैं। इतना ही नहीं, इस कार्य के लिए कार्यवाही आचरणों (Motor habits) का उद्बोधन भी आवश्यक है। पढ़ने में प्रत्येक बच्चे को कई प्रकार की क्रियाएँ करनी पड़ती हैं। अक्षिपट (Retina) पर नयन-प्रभाव (Visual impressions) पड़ते हैं, जिससे विशेष स्नायुएँ मस्तिष्क के भाग तक दौड़ जाती हैं, जिसके फलस्वरूप सम्बन्ध गतियाँ बँधती हैं (Associations are established) जो उन स्नायुओं को अर्थ-भाव देती हैं। इसके उपरान्त वे क्रियाएँ नयन-केन्द्रों (Visual Centres) से मस्तिष्क के कार्यवाही वाक्-केन्द्रों (Motor Speech-centres of the Brain) पर पहुँच जाती हैं, तब इन अन्तिम केन्द्रों से गतियाँ अधरों, जिह्वा, कण्ठ-सूत्रों आदि

पर जाती हैं, जिसके फलस्वरूप स्वराघात होता है और बच्चे शब्दों का उच्चारण करते हैं। जब बच्चा पढ़ना सीखता है और वह अध्यापक के शब्दों को श्रवण करता है तो अध्यापक के शब्द-स्वराघात का सम्बन्ध बच्चों के नयन-रूप-भेदों से भी होता है। श्रवण-प्रभाव (Auditory impressions) प्रथम कान में पहुँचते हैं, फिर वहाँ से मस्तिष्क के श्रवण-केन्द्रों में जाते हैं जहाँ से वे श्रवण-केन्द्रों तथा नयन-केन्द्रों के बीच में पहुँचते हैं और इस प्रकार की संगति-क्रिया (Corresponding process) शब्द के रूप और स्वर में स्थापित करते हैं। चुपचाप पढ़ते समय अन्तिम तीन क्रियाएँ लुप्त रहती हैं (जब तक कि लड़का मन में न पढ़ता जाता हो), किन्तु प्रथम क्रियाएँ अवश्य होती हैं। पढ़ने की क्रिया का सम्बन्ध इस प्रकार स्नायु-तन्त्र से सम्बन्धित है।

पढ़ने में कार्यवाही आचरण

§. [१०] हमने गत प्रकरण में देख लिया है कि पढ़ते समय आँखो का सचालन होता है। इस क्रिया में छपे हुए शब्दों को देखना और कई रुकावटों के उपरान्त आगे बढ़ते जाना होता है। एक पंक्ति के समाप्त होते ही नीचे की दूसरी पंक्ति तक झटके से पहुँच जाना होता है। आगे बढ़ने की गति में जो स्थिर-स्थल (Fixations; pauses) आते हैं वे अधिकतर पढ़ने वाले को अज्ञात रहते हैं। यदि पढ़ने में पर्याप्त अभ्यास की न्यूनता है, तो बच्चा बहुत देर तक स्थिर-स्थल पर रुकता है। नयन के स्थिर-स्थल बहुत छोटे होते हैं, ये बहुधा एक सेकण्ड के ३/१० या १/६ भाग तक होते हैं। स्थिर-स्थलों मे लिखित शब्द देखे जाते हैं। अच्छे पाठक कई शब्दों या वाक्यांशों को एक साथ देखते हैं। बच्चों की नयन-परिज्ञान-लम्बाई (Visual perception span) छोटी होती है। ज्यों ज्यों अवधानता बढती जाती है नयन-परिज्ञान-लम्बाई बढ़ती जाती है। इस प्रकार स्पष्ट होता है कि पढ़ने मे क्रियावाही आचरण (Motor Habits in Reading) पाया जाता है।

.§. [११] यदि हम भाषा की विशेषताओं पर ध्यान दें तो पता चलेगा कि शब्दों के स्थान-विशेष में कई अर्थ होते हैं। किन्तु एक वाक्य में इनका साधारणतः एक अर्थ ही द्योतित रहता है। किसी वाक्य के वास्तविक अर्थ के लिए बच्चों को उन्हीं अर्थों को पकड़ना होता है जिनकी वहाँ आवश्यकता होती है। अतः जब एक बच्चा भाषा सीख रहा है अथवा पढ़ या सुन रहा है तो उस समय शब्दों के विभिन्न उपाधि-क्रम या अर्थ-क्रम (Sequence of attributes and meanings) में यथार्थ शब्द-अर्थ का आचरण करने का उद्योग करता है। इस क्रिया में अभ्यास-वश वह अनायास अर्थ-वरण करता है और अर्थ का विपर्यय नहीं होने पाता। कभी-कभी अभ्यास की कमी अथवा विपरीत अर्थ के शब्दों के कारण रुकावट पड़ती है, किन्तु यह अवस्था तो बड़ों में भी पायी जाती है।

वाक्यों तथा वाक्य-समूहों को समझना

.§. [१२] मनोवैज्ञानिकों ने परीक्षा द्वारा यह देखा है कि आरम्भ में पढ़ने का विकास द्रुत गति से होता है; या तो त्रुटियाँ कम होती जाती हैं अथवा शब्द अधिक बढ़ते जाते हैं। किन्तु इस अवस्था में आगे चलकर परिवर्तन हो जाता है, गति धीमी पड़ जाती है। मन-ही-मन पढ़ने (Silent Reading) में भी उपर्युक्त बात पायी जाती है। आरम्भ में बच्चा अधिक सतर्कता से बढ़ता है और उसकी समझ भी द्रुत होती है, किन्तु कालान्तर में अवस्था बढ़ने से विकास-क्रम में धीमापन आ जाता है।

पढ़ने में विकास-क्रम; एवं मन-ही मन पढ़ना

बातचीत में अपूर्णता अथवा दोष (Speech Defects)

.§. [१३] बचपन में भाषा के विकास में कुछ बच्चों में समान गति नहीं पायी जाती। बातचीत का दोष इसमें मुख्य है। इस विषय में

विस्तारपूर्वक अध्ययन किया गया है, जिसके फलस्वरूप बहुत-सी बातें ज्ञात हो सकी हैं। हम उन्हें संक्षेप मे देते हैं।

हकलाना और वाक्-शक्तियों की अवरुद्धता तथा इनके कारण

बातचीत-सम्बन्धी दो प्रकार के दोष पाये जाते हैं : हकलाना एवं वाक्-शक्तियों की अवरुद्धता (Sluttering and Stammering)। बहुधा इन दोनों दोषों को लोग हकलाना ही कहते हैं, किन्तु वास्तव में, दोनों दो दोष हैं। हकलाने में एक स्वर, शब्द या वाक्यांशों का बार-बार आना होता है, जैसे, प-प-प-प....कर-र-र....आदि; और वाक्-शक्ति की अवरुद्धता में बातचीत मे लगातार रुकावट अथवा उसका कुछ समय के लिए लुप्तप्राय हो जाना पाया जाता है। अनुसंधानो से ज्ञात हुआ है कि पाठशाला जाने वाले बच्चों में एक प्रतिशत हकलाते हैं। अंधे और बहरे बच्चों की निश्चित संख्या से हकलाने वाले बच्चों की संख्या अधिक होती है। वालिन (Wallin) ने बताया है कि पढ़ने वाले बच्चों मे हकलाने वालों की संख्या प्रथम कक्षा से आठवीं कक्षा तक बढ़ती जाती है। २ वर्ष और ४ वर्षों के बीच हकलाना अधिक देखा जाता है। हकलाने वालों में ८५ प्रतिशत बच्चे ८ वर्ष के पूर्व ही पाये जाते हैं। इन बच्चों के पठन-पाठन में कमी पायी जाती है; एक वर्ष का पिछाड़ देखा गया है। यह दोष लड़कियों की अपेक्षा लड़कों में अधिक पाया जाता है। इन दोषों के मूल में क्या है अभी भली-भाँति नहीं जाना जा सका है। विद्वानों मे इस विषय मे मतभेद है। दो कारण विशेष उल्लेखनीय हैं। एक को स्नायु-सम्बन्धी गड़बड़ी (Neurological disturbances) कहते हैं और दूसरे को मानसिक अस्वस्थता (Mental Hygiene) कहते हैं। दूसरे कारण को सामाजिक एवं अवरोधजनित कहा जाता है। भय, कायरता, क्षुद्रता का भाव (Feeling of Inferiority), बुरा-भला कहे जाने का भय आदि बातचीत की रुकावट में सहायक होते हैं। ३ या ४ वर्ष की अवस्था मे, जब कि बहुत से जटिल आचरण

(Complex habits) बनने लगते हैं, हकलाने का प्रारम्भ होना बहुत ही बुरा है। इस दोष को दूर करने के लिये संवेगात्मक तथा भयात्मक वृत्तियों को दूर करना अपेक्षित है। स्नायु-सम्बन्धी तुतलाने के कारण को वल्क-सम्बन्धी क्रिया (Cortical functions) कहते हैं। यह हम जानते हैं कि मस्तिष्क मे वाक्-शक्ति के मुख्य केन्द्र प्रबल भाग (Dominant side) में रहते हैं, यह विशेष भाग दक्षिण-हस्त-प्रचालक व्यक्तियों (Right-handed persons) में बायीं ओर तथा वाम-हस्त-प्रचालक व्यक्तियों (Left-banded persons) में दाहिनी ओर पाया जाता है। कुछ प्रमाणों से यह ज्ञात हो सका है कि हकलाने का कारण स्नायु-क्रियाओं की अपूर्णता है जो मस्तिष्क के प्रबल भाग के इधर या उधर होने से होता है। कभी-कभी वंश-परम्परागत दोषों, जन्म-संघातों, अथवा विषम ज्वरोद्भत रोगों (Severe febrile diseases) में इसकी उत्पत्ति पायी जाती है। मेरे छोटे भाई में, जो आज एक कालेज में मनोविज्ञान के प्रोफेसर हैं, तुतलाने का दोष है। यह दोष उनमें विषम ज्वर से हुआ था। कभी-कभी हकलाने वाले बच्चों के हाथों की परिवर्तन-क्रिया द्वारा हकलाने की गति को ठीक से जानने के लिये अथवा उस दोष को दूर करने के लिये प्रयोग किए गए हैं।

हस्त-प्रचालन तथा बातचीत-सम्बन्धी दोष

दो विभिन्न परिणाम मिले हैं। बाएँ हाथ से लिखने वाले बच्चों को दाहिने हाथ से लिखाया गया और दाहिने हाथ से लिखने वाले को बाएँ हाथ से लिखने का अभ्यास कराया गया। दो अध्ययनों से दो निष्कर्ष निकले। एक अध्ययन से हकलाने में कोई परिवर्तन नहीं देखा गया और दूसरे अध्ययन से स्पष्ट परिवर्तन देखा गया। अतः अभी तक यह प्रश्न विवाद-ग्रस्त माना गया है।

भाषा-सम्बन्धी विकास के प्रमुख तत्व

§. [१४] बचपन-विकास के मनोविज्ञान-वेत्ताओं ने अन्वेषणों से

बच्चों के भाषा-सम्बन्धी विकास के प्रमुख तत्वों का पता चलाया है। ये तत्व हैं : अवस्था, शारीरिक दशा, लिंग भेद, बुद्धि और सामाजिक एवं आर्थिक परिस्थितियाँ। इसमे सन्देह नहीं कि

अवस्था, शारीरिक दशा, कार्यवाही योग्यता, लिग-भेद, बुद्धि, वातावरण आदि

भाषा-विकास मे (१) अवस्था (Age) की गति महत्वपूर्ण है। ज्यों-ज्यों बच्चा बढ़ता जाता है उसकी भाषा-शक्ति बढ़ती जाती है। विशेष अवस्थाएँ, विकास की प्रमुख सीढ़ियाँ हैं। किन्तु केवल अवस्था ही सब कुछ नहीं है। वाक्-शक्ति-सम्बन्धी अंगो की विवृद्धि, कार्यवाही क्रियाओ का विकास तथा बुद्धि का भी महत्व है। अवस्था से अनुभूतियाँ बढ़ती हैं जो शब्द-ज्ञान तथा उसके रूप-भेद के अर्थों को समझने मे सहायक होती हैं। स्वस्थ बच्चा अधिक स्फूर्तिवान् होता है, उसमे अधिक शक्ति होती है, अतः अपनी स्वस्थ तथा बहुमुखी गतियों से उसे विशेष अनुभव प्राप्त होते हैं जिनके फलस्वरूप अस्वस्थ बच्चो से वह बाजी मार ले जाता है। (२) स्वस्थ शारीरिक दशा (Physiological condition) भाषा-विकास में सहायक है। जब तक (३) क्रियावाही शक्तियाँ (Motor Ability) प्रबल नहीं हो पातीं तब तक विकास नहीं होता। शिर्ले (Shirley) के अनुसंधान से ज्ञात हुआ है कि जिन दिनों बच्चों में क्रियावाही क्रियाएँ विवृद्ध होती रहती हैं और इनकी इस गति में तीव्रता होती है, उन दिनों बच्चे वाक्-शक्ति मे उतने संलग्न नहीं होते। किन्तु इस विषय में विभिन्न परिणाम वाले प्रमाण मिले हैं, अतः इस सम्बन्ध में हम विशेष निश्चित नहीं हो सकते। भाषा-विकास में (४) लिंग-भेद (Sex-difference) भी पाया जाता है। शब्द-भाण्डार, छोटे-छोटे वाक्यों के निर्माण और बातचीत की समझ में लड़कियाँ लड़कों से अधिक विकासोन्मुखी होती हैं। पढ़ने की अवस्था मे लड़कियाँ लड़कों से भाषा-सम्बन्धी क्रियाओ मे बहुत आगे होती हैं। याद करने, शब्द-निर्माण, वाक्य की पूर्णता मे लड़कियाँ लड़कों से आगे होती हैं। लड़कों मे गणित-

सम्बन्धी समझ लड़कियों से अधिक होती है, किन्तु लड़कियाँ लम्बे लेख लिखने अथवा लम्बे-लम्बे वाक्यों के निर्माण में लड़कों से अधिक तीक्ष्ण होती हैं। बहुत निरीक्षकों के प्रमाण के आधार पर यह कहा जाता है कि भाषा-विकास में और (५) बुद्धि (Intelligence) में बहुत सादृश्य है। बुद्धिहीन (Feebleminded) बच्चे साधारण बुद्धि वाले बच्चों से देर मे बातचीत करते हैं। किन्तु कुछ प्रमाणों द्वारा यह सिद्ध हो चुका है कि कुछ लड़के जो, वास्तव में, बुद्धिमान् थे बहुत देर में बातचीत मे प्रवीण हो सके। ब्रुक्स (Brooks) ने कुछ बच्चों के साथ प्रयोग किया और स्टैनफोर्ड-बिने-बुद्धि-मापक-परीक्षा-पत्र द्वारा उनकी बुद्धि मापी और यह सिद्ध किया कि आरम्भिक विकास के न होने पर भी बाद को लड़कों ने पर्याप्त विकास प्राप्त किया और उनकी बुद्धि में कोई दोष नहीं था। इसमें सन्देह नहीं कि साधारण और असाधारण बुद्धि वाले लड़के भाषा-विकास में अधिक गतिशील होते हैं, किन्तु कुछ साधारण अथवा असाधारण बुद्धि वाले लड़के पर्याप्त देरी में भी भाषा-विकास कर सकते हैं। बुद्धि का, वास्तव में, भाषा-विकास में एक प्रमुख हाथ है। बुद्धिमान लड़कों को पर्याप्त सुविधाएँ प्राप्त हैं, क्योंकि वे निरीक्षण में प्रवीण होते हैं; शब्दों के पारस्परिक भेदों-प्रभेदों को उनके सम्बन्धों तथा उनके अर्थों को वे शीघ्रतया समझ लेते हैं। अतः भाषा-विकास उनके लिए सरल है। उनमें अनुभूतियों का बल होता है। मानसिक विकास तथा भाषा-विकास साथ-साथ चलता है। एक विकास दूसरे का सहायक होता है। संकेतों (Symbols) का अर्थ शीघ्र स्पष्ट होता है और फलतः दोनों क्रियाएँ एक दूसरी की पूरक होती हैं। उपर्युक्त कारणों के अतिरिक्त (६) परिस्थितियाँ (Environments) भी भाषा-विकास में महत्त्व रखती हैं। जो बच्चे धनी घराने के होते हैं अथवा जिनके माता-पिता अथवा अभिभावक पढ़े-लिखे होते हैं उनका शब्द-ज्ञान, शब्द-भाण्डार तथा भाषा-सम्बन्धी आचरण प्रभूत मात्रा में विकसित होता है। यह आश्चर्य का विषय नहीं है, क्योंकि भाषा का

आचरण अर्जित गुण है और यह उतना ही खुल-खिलेगा जितनी ही प्रबल उत्तेजनाएँ होंगी। दुभाषिए घरों (Bilingual homes) में बच्चों को भाषा-विकास में कुछ अवरुद्धता आ जाती है, किन्तु इस विषय मे कुछ अपवाद भी हैं। प्रौढ़ लोगों की संगति मे लड़के भाषा-विकास में अधिक सहयोग पाते हैं। संक्षेप में, भाषा-विकास के सम्बन्ध में विवृद्धि और सीखने (Maturation & Learning) का अविभाज्य प्रभाव होता है। भाषा-विकास में उत्कर्षता अथवा अवरोधता, शरीर-ढाँचे की विवृद्धि तथा वातावरण-सम्बन्धी अनुभूतियों में देखी जाती है। गत अध्यायो में जिन व्यापक सिद्धान्तों की विवेचना की गई है उनका भाषा-विकास मे उतना ही महत्व है जितना शारीरिक अथवा क्रियावाही विकास में। विकास तो सरल, सुसंगठित रूप से जटिल, संशोधित रूप के आवर्तन-विवर्तन के क्रमिक नियम में है। बचपन-विकास के विविध पहलुओं पर भाषा-विकास का प्रभाव अविभाज्य रूप से होता है।

———

आठवाँ अध्याय

बचपन में संवेगात्मक विकास

.§. [१] बचपन से लेकर जरावस्था तक के सारे मानव-व्यवहार संवेगों (Emotions) से प्रभावित होते रहते हैं अतः इनका जीवन में अत्यधिक महत्व है। मानव-जीवन का कल्याण तथा आनन्द संवेगो की सुचारु व्यवस्था तथा उनके परिचालन में है। हमारे आनन्द, हमारी चिन्ताएँ सभी संवेगमूलक हैं। हमारी इच्छाएँ और अभिरुचियाँ संवेगात्मक आचरणों में निहित हैं। व्यक्तित्व के प्रमुख तत्वों में मनुष्य की संवेगात्मक क्रियाएँ अविच्छेद्य रूप से विद्यमान रहती हैं। पूर्ण संगठित व्यक्तित्व की व्यवस्था में, चरित्र के विकास में, सामाजिक कार्य-कलापों में, मानसिक उद्बोधनों मे, संवेगों का प्रमुख हाथ है। बच्चों में संवेगात्मक विकास किन-किन रूपों से होता है, इनका अध्ययन किस प्रकार किया जाता है, आदि प्रश्नों का उत्तर इस अध्याय का उद्देश्य है।

संवेगों का महत्व

.§. [२] मनोवैज्ञानिकों में संवेगों के स्वरूप के विषय में बड़ा मतभेद रहा है। मनोविज्ञान की विभिन्न परिपाटियाँ इन्हीं मतभेदों पर अवलम्बित हैं। (१) अमेरिका के मनोवैज्ञानिक विशेषतः व्यवहारवादी (Behaviourists) हैं। इन लोगों ने मनोविज्ञान की सारी क्रियाओं तथा उनसे सम्बन्धित दशाओं को शरीर-मूलक माना है। इनके अनुसार मन तो केवल मस्तिष्क के विभिन्न भागों से निकली हुई शारीरिक सत्ता का द्योतक है; जो कुछ है, वह शरीर है जो यन्त्र की भाँति चला जा रहा है। (२) मनोविज्ञान की इस परम्परा के विरुद्ध एक दूसरा मत है जो मूलप्रवृत्तियों (Instincts) में विश्वास करता है। इस मत के अनुसार जो कुछ है, वह मन है जो अपनी

संवेग-विषयक विभिन्न मत

अचिन्त्य सत्ता रखता है, और जिसके क्रिया-कलापों के मूल में मौलिक वृत्तियाँ हैं। मन की ज्ञानात्मक, भावात्मक तथा क्रियात्मक गतियों (Thinking, feeling and striving processes) में सर्वश्रेष्ठ क्रियात्मक गति है जो सबको आगे बढ़ने के लिए प्रेरित करती है। जीवन, लक्ष्य की ओर मूलप्रवृत्तियों द्वारा ही प्रेरणात्मक हो बढ़ता जाता है। इस मत के अनुसार प्रत्येक मूलप्रवृत्ति के साथ एक संवेग चलता है। मूलप्रवृत्ति के तीन रूप होते हैं : ज्ञानात्मक, संवेगात्मक तथा क्रियात्मक (Perceptual, Emotional & Behavioural)। किसी प्रवृत्ति के प्रकटीकरण के मध्य की स्थिति में एक संवेग अवश्य रहता है। जैसे किसी बच्चे ने एक भयानक वस्तु देखी, यह देखना उसका प्रत्यक्ष ज्ञान है, इसके उपरान्त उस ज्ञान से उसमे भय का संवेग जगा, जिसके फलस्वरूप उसकी आँखे बढ़ गईं अथवा ढँप गईं या वह थर-थर काँपने लगा (Emotional excitement)। तीसरी स्थिति में वह बच्चा भगेगा अथवा चिल्ला कर गिर जायगा। यह तीसरी स्थिति क्रियात्मक है। इसी प्रकार अन्य तेरह मूलप्रवृत्तियों मे एक-एक संवेग पाया जाता है। अतः भोजन ढूँढ़ना, भागना, लड़ना, उत्सुकता, रचना, संग्रह, विकर्षण, शरणागत होना, काम-प्रवृत्ति, शिशु-रक्षा, दूसरों की चाह, आत्म-प्रकाशन, विनीत भाव और हँसना चौदह मूल-प्रवृत्तियों में क्रमशः भूख, भय, क्रोध, आश्चर्य, रचनात्मक आनन्द, संग्रह-भाव, घृणा, करुणा, कामुकता, स्नेह, अकेलापन, उत्साह, आत्म-हीनता और प्रसन्नता के संवेग पाए जाते हैं। इस मत के प्रवल उन्नायक प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक मैकडूगल (McDougall) थे। किन्तु इस मत का घोर विरोध होता है। जैसा कि बहुत पहले द्वितीय अध्याय मे कहा जा चुका है, अमेरिका के मनोवैज्ञानिक इस सिद्धान्त का खण्डन करते हैं। उनका कहना है कि ये तथाकथित वृत्तियाँ जन्म-जात नहीं हैं, प्रत्युत अर्जित गुण अथवा आचरण हैं। वाटसन (Watson) इसके घोर विरोधी हैं। (३) संवेगों के सम्बन्ध में सबसे पुराना सिद्धान्त संवेगों को चेतनावस्था (Conscious

State) की उद्भृति कहता है। किन्तु यह भी त्रुटिपूर्ण कहा गया है। (४) संवेगों के विषय में एक अति प्रचलित सिद्धान्त है, जिसे जेम्स-लैंग का सिद्धान्त (The James-Lange Theory of Emotions) कहते हैं। इस सिद्धान्त से संवेग संवेदनाओं का पुञ्ज (A mass of sensations) है और है वाह्याभिव्यञ्जन (Overt Response)। इसके अनुसार भय का सवेग केवल भागने की क्रिया मात्र है। हम भागते हैं अतः डरते हैं, हम पीटते हैं अतः क्रोध करते हैं। अब इस सिद्धान्त के दोष स्पष्ट हो गये हैं। (५) एक अन्य मत संवेगो को अन्तः शरीर-स्थिति (Inner Organic State) मानता है। इसके अनुसार संवेग शरीर-जन्य क्रिया मात्र है। संवेग में शरीर के भीतर वहुत से परिवर्तन होते हैं। जीवों में केवल वाह्य क्रियाएँ ही नहीं होतीं, उनके भीतर वहुत-सी अज्ञात क्रियाएँ उमड़ने-घुमड़ने लगती हैं; जैसे पाचन-क्रियाओं का अचानक वन्द हो जाना, वक्ष-स्थान से वाह्यागों मे रक्त का आ जाना, थूक का सूख जाना और अन्तःप्रवाहित वहुत से ग्रन्थि-जन्य तरल पदार्थों का घूर्णन आदि। शरीर-विज्ञान-वेत्ता (Physiologist) इन अन्तः परिवर्तनों को मनुष्य तथा इतर प्राणियों में देख तो लेता है, किन्तु उसे यह नहीं ज्ञात कि संवेगात्मक स्थिति भय की है, क्रोध की है, अथवा पीड़ा की है। वह हृदय-गति-प्रगति को जान लेता है, श्वास के आरोह-अवरोहकी गति का निरीक्षण कर लेता है, कलेजे अथवा और ग्रन्थियों के तरल-प्रवाह से उत्पन्न व्यतिक्रम को पढ़ लेता है, किन्तु वह यही नहीं वता सकता कि ये अन्तः क्रियाएँ किस संवेग की सूचक हैं। शरीर-विज्ञान हमें और आगे ले जाता है। (६) स्नायु-तन्त्र की स्वयंसंचालित स्थिति (Autonomic Nervous System) मेरुदण्ड की अनगिनत स्नायुयों पर अवलम्बित है। अन्तांगों की कोमल मांसपेशियो पर इन नाड़ियो का स्वतन्त्र अधिकार है। अतः व्यक्ति-विशेष इन गतियों को कोई विशेष संज्ञा देने में असमर्थ होता है। मस्तिष्क के मध्य-केन्द्रों से स्वयसंचालित गतियों का अविच्छेद्य सम्बन्ध होता है। मेरुदण्ड

तथा मस्तिष्क-जड़ (Spinal cord and Brain-stem) से मुख्य तन्तु (Axon) अपने गति-प्रवाह को नस-सम्बन्ध (Synapse) के द्वारा नाडी-तत्व (Neuron) के शिखा-तन्तुओं (Dendrites) में ले जाता है। स्वयंसंचालित नाड़ी-तत्व से मुख्य तन्तु अन्तःअंगों आमाशय, अँतड़ियों, हृदय, फेफड़ों, रक्त-कोष की दीवारों, प्लीहों, थूक-ग्रन्थियों, स्वेद-ग्रन्थियों, आदि तक जाते हैं और उनमें क्रियाएँ उत्पन्न करते हैं। किन्तु,ये क्रियाएँ मस्तिष्क से भी अवरोधित होती हैं। हमारे विचार, भावनाएँ, स्मृतियाँ आदि मानसिक गतियाँ, इन शारीरिक क्रियाओं को प्रभावित करती हैं। अतः कोई व्यक्ति किसी उत्तेजित स्थिति में अपनी हृदय-गति को जान लेता है और पाचन-क्रिया में क्या विभेद पड़ा है, इसे भी जान लेता है। अतः स्वयंसंचालित नाड़ी-मण्डल सम्पूर्ण नाड़ी-तन्त्र का एक भाग है, न कि एक पृथक् तन्त्र है। इस सिद्धान्त के अनुसार संवेग का आधार स्नायु-सम्बन्धी (The Neural Basis of Emotions) है। (७) वुडवर्थ, मार्किस (Woodworth and Marquis) आदि मनोवैज्ञानिकों ने संवेगों को केन्द्रीय क्रिया कहा है और इनके सिद्धान्त को **केन्द्रीय सिद्धान्त** (Central Theory) कहते हैं। स्वयंसंचालित नाडी-तन्त्र के तीन भाग होते हैं : क्रैनिएल, सिम्पैथेटिक तथा सैक्रेल (Cranial, Sympathetic or Thoracico-lumber and Sacral)। प्रथम भाग में वे स्नायुएँ हैं जो मस्तिष्क की जड़ तथा स्नायु-ग्रन्थियों से उभरती हैं। इसी से हृदय-धड़कन की धीमी गति, आमाशय की दीवारों की मांस-पेशियों की उत्तेजनाएँ आदि ज्ञात होती हैं। इसी से पाचन-क्रिया में सन्तोषदायिनी शक्ति आती है, आँखों की पुतलियाँ संयमित होती हैं, तथा रक्त-नाड़ियों का मस्तिष्क तक पहुँचना होता है, इसकी विभिन्न स्नायुएँ कंठ-नाली, अँतड़ियों तथा अन्य उपागों तक जाती हैं। दूसरे भाग अथवा मध्य भाग मे नाडी-ग्रन्थियाँ तथा वे स्नायुएँ पायी जाती हैं जो छाती के पार्श्व में स्थित मेरुदण्ड से उठती हैं। ये स्नायुएँ सम्पूर्ण शरीर में जाती हैं। इसका हृदय तथा आमाशय पर विरोधी प्रभाव-

पड़ता है। तीसरे भाग की स्नायु मेरुदण्ड के आगे अन्तिम भाग से उठती है, और बड़ी अँतड़ियो के अन्तिम भाग प्लीहों, मूत्राशय, प्रजनन-अंग की नाड़ियों तक जाती हैं और उन्हें प्रभावित करती हैं। इन विभिन्न भागों में कभी-कभी विरोधी भाव पाए जाते हैं जो या तो अंगो को गति प्रदान करते हैं या उनकी क्रियाओ को रोकते हैं।

(८) कैनन महोदय का संवेग-सम्बन्धी तात्कालिक प्रयोजन वाला सिद्धान्त (Cannon's Emergency Theory of Emotions) प्रसिद्ध है। संवेग के उभरते समय जो अन्तः प्रतिक्रियाएँ उठती है वे हमें मानो सन्नद्ध करती हैं, तत्पर करती हैं। रक्त-प्रवाह की विवृद्धि, श्वास-क्रिया मे आधिक्य का पाया जाना, क्रियावाही क्रियाओं का अधिक तीव्र होना, पाचन-क्रियाओं का धीमापन आदि हमें प्रभावशील बनाने में समर्थ होते हैं। कैनन का सिद्धान्त यह बताता है कि नाड़ी-तन्त्र का स्वयंसंचालित नाड़ी-मण्डल, हमें सहनियम से पूर्ण अवरोध और प्रवाह को देता है जिसके फलस्वरूप हम अधिक शारीरिक शक्ति का अनुभव करते हैं। वुडवर्थ, कैनन के सिद्धान्त अधिक प्रामाणिक हैं। इन विवेचनों से यह स्पष्ट है कि संवेगों के मूल में शरीर-अवस्थाओ का भी अविच्छेद्य सम्बन्ध है। अब हम नीचे बच्चों के संवेगों के पढ़ने की विविध विधियो पर दृष्टिपात करेंगे जिससे उनका स्वरूप और अधिक स्पष्ट हो जायगा।

शिशुओं के संवेगों के अध्ययन की प्रणालियाँ

§. [२] बच्चों के संवेगों का अध्ययन सरल नहीं है। बहुधा प्रौढ़ लोग अपने अन्तर्दर्शन (Introspection) से शिशुओं मे संवेगों की अवस्थिति का परिचय देते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि शिशु संवेगों को अभिव्यञ्जित करते हैं। इस विषय में शिशु-संवेगों को पढ़ने की तीन विधियाँ प्रचलित हैं। (१) बच्चों के बाह्य व्यवहारों (Overt Behaviour) द्वारा हम उनके संवेगों को जानने का प्रयत्न करते है। इन्द्रियजनित उत्तेजनाओं से उनकी नाना प्रकार

की प्रतिक्रियाओं को पढ़ा जाता है। हम शिशुओं को खिलौने देकर, अथवा तीव्र स्वर उपस्थित कर ऐसी स्थिति उत्पन्न करते हैं कि वे अपने संवेगों को प्रकट करें। हम उनके रुदन, आकस्मिक प्रकम्पन, विशेष क्रिया अथवा श्वास-क्रिया के अवरोध आदि देखते हैं। यह विधि विस्तार के साथ प्रदर्शित की गई है; किन्तु इससे कुछ कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जाती हैं जिन्हे हम वाद को देखेंगे। (२) दूसरी विधि शिशुओं के अन्तःशरीर के परिवर्तनों (Internal physiological changes) को देखना है। उसके अनुसार नाड़ी-गति-परिवर्तन, रक्त-चाप, श्वास-क्रियाएँ आदि देखी जाती हैं। संवेगात्मक स्थिति में श्वास-क्रिया में आरोह-अवरोह देखे जाते हैं। वास्तविक स्थिति में एक शिशु की श्वास-क्रिया में भीतर श्वास लेने और निकालने में समय का अनुपात १:४ है। संवेग के समय में भी अनुपात १:२ का या १:१ का हो जाया करता है। (३) तीसरी विधि विद्युत-यन्त्र से संवेगों का अध्ययन है। ऐसे यन्त्रों के स्पर्श से चम-अवरोध (Resistance of the skin) में एक नियमित गति पायी जाती है। सवेग के समय इस अवरोध में धीमापन आ जाता है। इस अवस्था को विद्युत-स्पर्श की सहज-क्रिया (Psycho-galvanic Reflex) कहते हैं। कई यन्त्र बने हैं जिनमें ह्वीटस्टोन-ब्रिज एव गैलवनोमीटर (Wheatstone-bridge and Galvanometer) प्रसिद्ध हैं। इस विधि से शिशुओं के संवेगों को प्रभूत मात्रा में अध्ययन किया गया है।

पहली विधि से संवेगों के पढ़ने में कठिनाइयाँ पाई जाती हैं। विभिन्न मनोवैज्ञानिक शिशु के वाह्य-व्यवहारों से उसके सवेगों को दिखाने में एक मत देने में असमथ हो जाते हैं। शरमैन (Sherman) ने चलचित्र द्वारा लिए गए शिशु की अवस्था को पढ़ाकर, व्यवहारों को यों हीं पढ़ाकर अथवा उनके चित्कारों को सुनाकर कई प्रयोग किए और विभिन्न निरीक्षकों में कई मतभेद देखे। विशेष कठिनाई का कारण उत्तेजनाओं को न जानना है; क्योंकि कभी-कभी

एक ही उत्तेजना से विभिन्न संवेग जग जाते हैं। अतः पहली विधि विशेष उपकारी नहीं है। दूसरी भी उतनी श्रेष्ठ नहीं है। तीसरी विधि द्वारा बहुत कुछ जाना जा सकता है। जब बच्चे एक वर्ष के होते हैं तो उनके संवेगों को बाह्य निरीक्षण से जाना जा सकता है, क्योंकि तब बच्चे अपने बाह्य व्यवहारों में कुछ विशिष्ट रूप पा लेते हैं। भाषा-विकास के साथ बच्चों की उक्तियाँ सहायक हो जाती हैं। किन्तु अधिक तीव्र संवेगों का हम अन्तः शरीर-गति के परिवर्तनों द्वारा, तथा मनोवैज्ञानिक विद्युत-यन्त्र द्वारा जान सकते हैं। वास्तव में, ये विधियाँ एक दूसरी की न्यूनता के पूरक हैं। ऊपर की तीन विधियों के अतिरिक्त इस अवस्था में दो विधियाँ और काम में लाई गई हैं जिन्हें (४) "सहज-सम्बन्ध माप" (Free Association Test) और (५) "स्वयं कथन" (Subjective Report) कहा जाता है। पहली विधि में बच्चों के सामने कुछ शब्द रखे जाते हैं और उन्हें प्रत्येक शब्द के उच्चारण के साथ अपनी ओर से शब्द देने पड़ते हैं। संवेगों को उभारने वाले शब्द बच्चों में कुछ विशेष-क्रियाएँ उत्पन्न कर देते हैं जिसके फलस्वरूप समय के अनुपात से उनके संवेगों का पठन होता है। किन्तु यह विधि बड़े लड़कों के साथ ही की जा सकती है। दूसरी विधि से जिसे 'स्वयं कथन' कहा जाता है, बच्चों को स्वयं अपने ही संवेगों से सम्बन्धित बातें कहनी पड़ती हैं। इनके सामने कुछ प्रश्न रखे जाते हैं, जिनके उत्तर उनके विभिन्न सवेगों को वहन करने वाले होते हैं। श्री वुडवर्थ (Woodworth) ने इस सम्बन्ध में बहुत-सी प्रश्नावलियाँ (Questionnaires) उपस्थित की हैं। दो एक प्रश्न नीचे दिए जाते हैं:

बड़े बच्चे के संवेगों को पढ़ना

(१) तुम अकेले या औरों के साथ खेलना पसन्द करते हो?	हाँ,	नहीं।
(२) अन्धड़ के समय तुम्हे डर लगता है?	,,	,,
(३) अन्धेरे में तुम्हें भय लगता है?	,,	,,

(४) क्या तुम सचमुच प्रसन्न हो ? हाँ नहीं

बच्चों को हाँ, या नहीं में उत्तर देना पड़ता है। इसी प्रकार प्रेसी ने "शब्द-कटान-माप" [Pressy : x-o (cross-out) Test for investigating Emotions] से संवेगो को जानने की विधि दी है। इन्होंने १२५ शब्दों को तीन भागों मे बाँट दिया है और उन्हें निम्न विधि से रखा है :—

(१) उन शब्दों को, जो तुम्हें पसन्द आते हैं अथवा जिनमें तुम्हारी अभिरुचि है, काट दो।

(२) उन सभी शब्दों को, जो तुम्हें चिन्तित करते हैं, काट दो।

(३) उन शब्दों को, जिन्हें तुम गलत समझते हो, काट दो।

इस प्रकार "स्वयं कथन" विधि द्वारा बड़े बच्चों के, जिनमें पर्याप्त मात्रा में भाषा-विकास हो चुका है, संवेगों को जाना जा सकता है। संवेगों के अध्ययन के लिए मुखाकृतियाँ (Facial Expressions) भी उपस्थित की गई हैं जिन्हे बताकर बच्चे संवेगों के ज्ञान का परिचय देते हैं।

शिशु-संवेग का प्रारम्भ

आरम्भिक शिशु की संवेगात्मक प्रतिक्रियाएँ

§. [४] बहुत से मनोवैज्ञानिक प्रमाणों से यह सिद्ध हो चुका है कि शिशुओं के आरम्भिक संवेगों मे विभिन्न विशेषताएँ नहीं पायी जातीं, प्रत्युत उनमें एक सामान्य उत्तेजित अवस्था (General Excitement) होती है जिसमें सभी संवेगों का अविच्छेद्य घूर्णन होता है। ब्रिजेज़ (Bridges) के प्रयोग के अनुसार यह ज्ञात होता है कि आरम्भिक उत्तेजित अवस्था से क्रमशः विशेष संवेग खिलते हैं। १ माह के बच्चों में ब्रिजेज़ महोदया को क्लेश (Distress) संवेग दीख पड़ा। ३ माह के उपरान्त उनमें प्रसन्नता (Delight) का स्रोत उमड़ता दृष्टिगोचर हुआ। इसी प्रकार समयावधि से विशेष प्रकार के संवेग जागरित होते चले गए। श्री

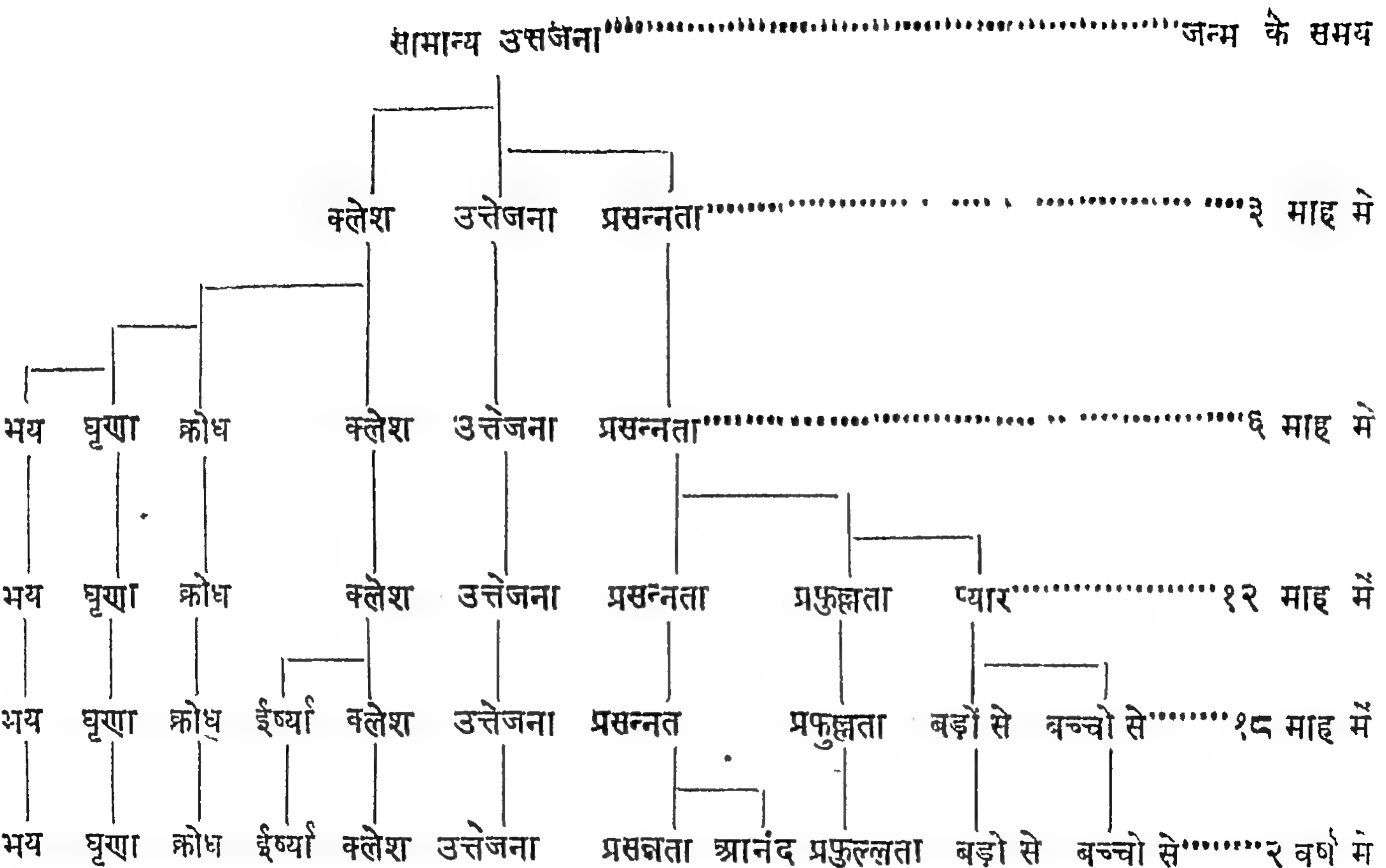
वाट्सन (Watson) ने भी संवेगों के विषय में प्रयोग किए हैं। किन्तु उन्हें केवल तीन ही संवेग, भय, क्रोध तथा स्नेह (Fear, Anger & Affection) मिल सके। उनके मतानुसार भय तीव्र स्वर या आश्रय के अचानक हट जाने (Loud noise and Sudden loss of support) से जाग्रत होता है, क्रोध शिशुओ की स्वतन्त्र क्रिया मे अवरोध उत्पन्न करने से उत्पन्न होता है तथा स्नेह तो आनन्द की स्थिति मे कुलबुलाने या हँसने से व्यक्त होता है। किन्तु वाट्सन महोदय के बहुत-से निष्कर्ष पश्चात्कालीन अनुसंधान से मेल नहीं खाते। यह ज्ञात हो सका है कि वाटसन द्वारा प्रयोजित बहुत-सी उत्तेजनाएँ संवेग को उभाडने में नहीं भी समर्थ होती। ब्रिजेज् के निष्कर्ष अधिक ठीक जँचे हैं। उनके प्रयोगों को इरविन (Irwin) महोदय ने आगे बढ़ाया। उन्होंने बहुत-से लड़कों को दो फीट ऊपर से गिराया, किन्तु उनमें से बहुतों मे कोई क्रिया नही हुई। इससे सिद्ध होता है कि **संवेगों का क्रम समष्टि से व्यष्टि** (From General to Specific) में है। सम्पूर्ण उत्तेजित अवस्था से विशेष-विशेष सवेग जगने आरम्भ होते हैं। जोंस (Jones) ने वाट्सन के सिद्धान्त के साथ प्रयोग किया। उन्होंने बच्चों के समक्ष तीव्र स्वर किया, किन्तु इससे भय नहीं जगा। इरविन ने देखा कि तीव्र स्वर से यह कोई आवश्यक नहीं है कि नवजात शिशु में कोई भय उत्पन्न हो। इसी प्रकार वाट्सन के सिद्धान्त को शेरमैन तथा शैफर (Sherman and Shaffer) ने भ्रमपूर्ण सिद्ध किया है। व्यापक प्रयोगों से यह सिद्ध हुआ है कि वाट्सन के प्रारम्भिक तीन संवेगों (भय, क्रोध, स्नेह) का सिद्धान्त भ्रामक है। वास्तव में, प्रथमतः कोई निश्चित सवेग नहीं झलकता। सवेगों के प्रस्फुटीकरण में भी विकास-नियम लागू होता है। प्रथमतः एक सामान्य उत्तेजित क्रिया होती है, जिससे क्रमशः अन्य विशेष सवेग फूटते है। ब्रिजेज् की तालिका निम्न प्रकरण में देखिए।

संवेगो का विकास

§. [५] नवजात शिशु (Neonate) में विशेष सवेग परि-

लक्षित नहीं होते, किन्तु बड़े बच्चों में भय, क्रोध, ईर्ष्या, प्रेम आदि (Fear, Anger, Jealousy and Affection etc.) संवेग पाये जाते है। यद्यपि आरम्भिक काल मे विशेषता का प्रभाव होता है, किन्तु यह स्थिति बहुत दिन तक नहीं रहती। गुडइनफ (Good-enough) के प्रयोगानुसार १० दिन के शिशुओं में व्यक्तिकरण (Differentiation) देखा गया है। ब्रिजेज् महोदया के अनुसधान इस विषय में विशेष उल्लेखनीय तथा श्लाघनीय हैं। प्रयोगानुसार सामान्य उत्तेजित स्थिति (State of General Excitement) से प्रथम 'क्लेश' (Distress) का सवेग दृष्टिगोचर होता है जो कि पारम्भिक सप्ताहों में प्रकट हो जाता है। इसके कुछ दिनों उपरान्त प्रसन्नता (Delight) की भूमिका स्पष्ट होती है। क्लेश से क्रमशः भय, विकर्षण (घृणा) तथा क्रोध (Fear, Disgust and Anger) की उत्पत्ति विशेषता ग्रहण करती है। ये शाखाएँ ६ महीने मे विकसित होती हैं। इसी प्रकार १२ महीनों में प्रसन्नता या प्रफुल्लता, उल्लास (Elation) और स्नेह (Affection) का जागरण हो जाता है जो क्रमशः १८ और २४ महीनों में ही वैयक्तिक धरातल से उठकर बच्चों से लेकर प्रौढ़ लोगों तक प्रसारित हो जाते हैं। बच्चो का स्नेह प्रथमतः अपने में सीमित होता है, किन्तु १८ माह में दूसरे बच्चों के प्रति स्नेह होने लगता है और २ वर्ष में तो वे बड़ों के प्रति भी स्नेहाकुल हो जाते हैं। इसी प्रकार भय, घृणा, क्रोध के साथ-साथ १८ माह मे ईर्ष्या भी आ जाती है। ब्रिजेज् के मतानुसार २ वर्ष की अवस्था तक बच्चों मे संवेगात्मक विकास पूर्ण हो जाता है। किन्तु यह बात विचारणीय है, क्योंकि हम जानते हैं कि 'शोक' आदि प्रबल सवेगों की अनुभूति कई वर्षों के उपरान्त होती है। देखिए ब्रिजेज् की निम्न तालिका जिसमें संवेगों के प्रस्फुटन का अवस्था-विशेष से क्रमिक रूप प्रकट किया गया है :

संवेगों का व्यक्तिकरण


सामान्य उत्तेजना ……… जन्म के समय
क्लेश उत्तेजना प्रसन्नता ……… ३ माह में
भय घृणा क्रोध क्लेश उत्तेजना प्रसन्नता ……… ६ माह में
भय घृणा क्रोध क्लेश उत्तेजना प्रसन्नता प्रफुल्लता प्यार ……… १२ माह में
भय घृणा क्रोध ईर्ष्या क्लेश उत्तेजना प्रसन्नत प्रफुल्लता बड़ों से बच्चो से ……… १८ माह में
भय घृणा क्रोध ईर्ष्या क्लेश उत्तेजना प्रसन्नता आनंद प्रफुल्लता बड़ो से बच्चो से ……… २ वर्षों में

ब्रिजेज् की तालिका बतलाती है कि उन्होंने अपने अध्ययन को केवल २ वर्ष तक ही सीमित रखा है। 'चिन्ता' (Grief) का संवेग ७ वर्ष के पूर्व नहीं जागता। ज्यो ज्यों बच्चे बढ़ते जाते हैं उनके संवेग जटिल होते चले जाते हैं। आरम्भ मे बच्चे क्रोध के आवेश मे लोटने-पोटने लग जाते हैं; किन्तु धीरे-धीरे उनमे सयम की मात्रा आने लगती है। क्रोध मे लड़के एक दूसरे को काट लेते हैं, किन्तु वातावरण के प्रभाव से यह क्रिया गाली-गलौज मे परिणत हो जाती है और क्रमशः भाषा-विकास से नया-नया रूप पकड लेती है। इस बात को हम और स्पष्ट करते हैं।

विवृद्धि का संवेगात्मक विकास में महत्व

.§. [६] बचपन-विकास मे विवृद्धि और सीखना (Maturation & Learning) दो ऐसे तत्व हैं जो संवेगों के विकास में भी महान् परिवर्तन लाते हैं भय खाने, मुसकराने, रोने, और अन्य संवेगात्मक व्यवहारों में विवृद्धि अपना प्रमुख हाथ रखती है। कभी-कभी २ वर्ष के बच्चे बड़े-बडे साँपों को देख कर नहीं डरते। मेरी बेटी अनामा २½ वर्ष की अवस्था में साँपों से बिल्कुल नहीं डरती थी, उन्हे जाते हुए देख कर हँस पड़ती थी, खिल-खिला उठती थी, जहाँ हम भयाकुल हो आँखे मूँद लेते थे। इसका कारण बुद्धि-विकास है। ज्यो-ज्यों हम सीखते जाते हैं, वस्तुओं से परिज्ञान स्थापित होता जाता है, अतएव विभिन्न भाव-मुद्राएँ बँधती जाती हैं।

सीखने का संवेगात्मक विकास में महत्व

.§. [७] संवेगात्मक विकास में सीखने के महत्व के विषय में कई प्रकार के अध्ययन किए गए हैं। सवेगात्मक सीखने मे सब से अधिक प्रचलित प्रणाली सवेगात्मक प्रतिक्रियाओं में नई उत्तेजनाओं का देना है। इस विषय मे हमें अभिसंधान-विधि के सिद्धान्त (Principle of Conditioned Response) को पुनः देखना है। जोंस (Jones) ने एक बच्चे के साथ प्रयोग

किया है जिसका विवरण नीचे दिया जाता है। एक बच्चे को एक ऐसे स्थान पर बिठलाया गया जो पीतल के पतले छड़ों से बना था और जिस में विद्युत् की हल्की उत्तेजना (A mild electric stimulation of a low intensity) भेजी जा सकती थी। जब विद्युत्-प्रवाह आरम्भ किया गया तो साथ-ही-साथ एक घण्टी भी बजायी गयी। बच्चे ने घण्टी के प्रति एक हल्की रुचि दिखलाई जो शीघ्र ही उदासीन अथवा अभावात्मक अनुकूलता (Indifference or Negative Adaptation) में परिणत हो गयी। इसके लिये ५–१० प्रयास करने पडे थे। अभिसंधानित प्रतिक्रिया की स्थापना के लिये इसके उपरान्त केवल विद्युत्-गति के साथ ३ स्वर पर्याप्त थे। अतः आरंभ में १० से १३ स्वर अब तक किए। इसके उपरान्त (१४–१८ ध्वनियो में) केवल घण्टी से ही शरीर में सिहरन और थिरकन देखी गयी। इसके बाद के प्रयोगों मे कई विशेषताएँ दृष्टिगोचर हुईं (१) *प्रतिक्रिया का सामान्यीकरण* (Generalization or Irradiation) : १६ से २० ध्वनियों के उपरान्त एक विद्युत्-घण्टी बजायी गयी जो अभिसंधानित प्रतिक्रिया को स्थापित करने में समर्थ थी। (२) *व्यक्तिकरण* (Differentiation or Specialization): २१ वें प्रयास में हाथ-घण्टी (Hand bell) से कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा; किन्तु २२-२४ ध्वनि के उपरान्त, अर्थात् केवल ३ विद्युत्-घंटी की ध्वनि से पूर्ववत् प्रतिक्रिया झलक उठी। (३) *विलीनीकरण* (Extinction) :२५-२६, अर्थात् २ स्वर के उपरान्त कुछ भी प्रतिक्रिया नहीं हुई। (४) *पुनर्जागरण* या *पुनर्शक्तिस्थापना* (Reinforcement) २७-३२ घंटी तथा विद्युत्-शक्ति, दोनों प्रयोग में लाई गईं और प्रतिक्रिया आरंभ हो गयी। आगे ३३-५० तक, अर्थात् ८ ध्वनियों तक मौलिक प्रतिक्रिया (Original Response) होती रही। इसके उपरान्त प्रयोग को २४ घंटों के लिये बन्द कर दिया गया। (५) *अवरोध* (Interference) : ७ बार घंटी बजायी गई अर्थात् ५७-६० प्रयास में भोजन के साथ विद्युत्-घंटी बजाई गयी। इसमें अवरोध पाया

गया। (६) *विलीनता का अवरोध* (Extinctive inhibition): ६३-६५ ध्वनियो में विद्युत्-घंटी से कोई क्रिया नहीं हुई। इस प्रकार हम देखते हैं कि सवेगो के प्रचालन मे अभिसंधान (Conditioning) की मारी दशाएँ देखने मे आती हैं।

अभिसंधान विधि से इसी प्रकार भय, क्रोध आदि संवेगों का उत्पादन देखा जा सकता है। इसके अतिरिक्त हम कुछ संवेगों को नष्ट (Deconditioning) भी कर सकते है। हमने सीखने के सिद्धान्त के अध्याय मे देखा है कि किस प्रकार अनामा मे भय का संचार हुआ था और किस प्रकार उसमे भाव-विवर्तन लाया गया था। इस विधि को संवेगात्मक प्रतिक्रियाओ का नाश करना कहते हैं।

संवेगात्मक विकास में विशेष मनः-स्थितियाँ

.§. [८] संवेगों के सीखने मे एक तीसरा रूप भी है। कभी-कभी कुछ विशेष स्थितियों में एक संवेग का दूसरे संवेग से सम्बन्ध स्थापित हो जाता है (Integration of a pattern of learned perception with overt reactions)। कभी-कभी दूसरी प्रतिक्रियाओं से उलझ जाने पर क्रोध जागरित हो जाता है। अनुभूतियाँ इसमे बड़ी सहायक होती हैं। जब कोई व्यक्ति किसी बच्चे को प्रेम करता है और कालान्तर में दूसरे बच्चे के साथ वैसा ही व्यवहार करने लगता है तो पहला बच्चा दूसरे से ईर्ष्या (Jealousy) करने लगता है। अतः यह स्पष्ट है कि संवेगों में बहुत से संवेगों, विचारों, ज्ञान, झुकावों तथा आचरणों (Basic Emotion, Knowledge, Attitudes and Habits) के भाव-प्रभाव छिपे रहते हैं। आरम्भिक आशाएँ, अभिलाषाएँ भी अपनी विशेष अवस्था मे सम्वेगों के प्रगुम्फन में लग जाती हैं। यह देखने मे आता है कि कभी-कभी एक संवेग दूसरे संवेगों मे भी प्रकट हो जाता है। छोटे-छोटे शिशु खेलते-खेलते रोने लगते हैं। छोटे-छोटे बच्चे आपस मे आनन्दपूर्वक खेलते-खेलते युद्ध करने लगते हैं और शीघ्र चोथा-बकोटी आरम्भ हो जाती

है (Ambivalance of Emotions)। इसका परिणाम कभी-कभी दुखद होता है, बच्चों के माता-पिताओं में वैर-भाव उत्पन्न हो जाता है। बच्चे तो बाद को फिर आपस में मिल-जुल कर खेलने लगते हैं, किन्तु माता-पिताओं में अनबन चली जाती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि संवेगात्मक विकास में विवृद्धि एवं सीखने के साथ विशेष मनःस्थितियाँ भी सहायक होती हैं।

उत्तम तथा निकृष्ट संवेगों का विकास

§. [९] बचपन-विकास की गतियों में बच्चों की स्थितियों में स्वभावतः परिवर्तन होता जाता है; नयी-नयी अनुभूतियाँ, नए-नए कार्य-कलाप, नयी-नयी अवस्थाएँ उत्पन्न होती जाती हैं। उनके जीवन में बहुत-से व्याघात पड़ते हैं, जिनके फलस्वरूप बहुत-सी अचिन्त्य विरोधात्मक तथा प्रतिकूलता सूचक परिस्थितियाँ आ जाती हैं। यदि बच्चों का संवेगात्मक विकास उचित रीति से हुआ तो वे सुचारु रूप से उन कठिनाइयों को दूर करते जायँगे। बच्चों को कड़ी आलोचनाएँ सुननी पड़ती हैं, उन्हें झिड़कियाँ मिलती हैं, दण्ड मिलते हैं, उनको वञ्चना सहनी पड़ती है। स्वयं माता-पिता से स्नेह, रक्षा आदि मिलती है। बच्चे हठी हो जाते हैं, दिन-रात बिगड़े रहते हैं, वस्तुओं को तोड़ा-फोड़ा करते हैं। ये बुरे या निकृष्ट संवेगों (Undesirable emotions) के सूचक हैं। उचित परिचर्या से ये रोके जा सकते हैं। अतः माता-पिता, अध्यापक और अभिभावक को बच्चों के प्रति बहुत सतर्क होने की आवश्यकता है, नहीं तो समस्या-बच्चों (Problem children) की उत्पत्ति होती है जिसे हम नीचे प्रकट करते हैं :—

संवेगात्मक व्यवहार की समस्याएँ
(Problems of Emotional Behaviour)

§. [१०] हमने गत प्रकरणों में देख लिया है कि विवृद्धि तथा अनुभूति से क्रमशः प्रारम्भिक बचपन के उपरान्त, बच्चों में भाँति-भाँति के संवेग लक्षित होते हैं। बच्चों के जीवन की मुख्य विशेषताओं में

उनके, भय, क्रोध, ईर्ष्या, उल्लास, स्नेह आदि संवेगों का प्रमुख महत्व है। चाहे ये संवेग मौलिक हो या अर्जित (Innate or Acquired) हों, जैसा कि अभी यह विभिन्न मतमतान्तर से स्पष्ट है, इनका महत्व बहुत अधिक है। जीवन की रागात्मक प्रवृत्तियाँ इन्हीं के उचित परिवर्द्धन तथा संगठन पर आधारित हैं। नीचे हम बच्चों के विशेष संवेगो का विस्तार के साथ अध्ययन करेंगे और उनसे उद्भूत समस्याओं का यथास्थान उद्घाटन करेंगे।

भय (Fear)

§. [११] सामान्य निरीक्षण तथा प्रयोगों से प्रकट होता है कि भय-संवेग का प्रस्फुटन प्रबल उत्तेजनाओं में निहित है। २ वर्ष के बच्चों में यह बहुत अधिक स्पष्ट नहीं होता। भय के जागरण का कारण इन्द्रियों पर किसी प्रकार का प्रतिकूल संघात है। जब किसी विशेष प्रत्यक्षज्ञान को बच्चा नहीं सह सकता है तो उसमें भयाकुलता का सञ्चार हो जाता है। आकस्मिकता तथा अप्रत्याशितता (Suddenness and Unexpectedness) इसके मूल में हैं। किन्तु

भय के कारण तथा विभिन्न स्वरूप

इसके अतिरिक्त कुछ अन्य तत्वों का विद्यमान रहना आवश्यक है। यदि बच्चा अपने स्नेहालुओं के बीच में है, अथवा नैसर्गिक आनन्द में है तो उसे भय नहीं भी हो सकता। यदि बच्चा भूखा है, थका है, बीमार है तो उसकी मनःस्थिति के प्रतिकूल व्याघात से भय उत्पन्न हो सकता है। यदि बच्चा किसी वस्तु की अपेक्षा में है, अथवा यह जानता है कि ऐसा करने से पीड़ा होगी या किसी प्रकार की हानि होगी, तो वैसी स्थिति में उसे भय होने लगता है। एक लड़की मे, जो ३ वर्ष ६ महीने की थी, अँधेरे से कोई भय नहीं होता था। एक दिन जब वह एक अँधेरे कमरे में कुछ लाने को आदेशित की गई तो वह रुक गई। बार-बार कहने पर भी वह नहीं गयी और रोने लगी। उसके पिता को बड़ा क्षोभ और आश्चर्य हुआ। प्रेम-भरे शब्दों से पूछने पर उस लड़की ने बताया कि उस कमरे में अँधेरा है, वहाँ बाघ और

शेर हैं। फिर स्नेह-भरे शब्दों से पूछने पर ज्ञात हुआ कि गत दिन उसकी किसी अबोध अध्यापिका ने कहा था कि भयानक पशुओं जैसे सिंह तथा व्याघ्र ने भयानक तथा डरावने वन-कुञ्जों से आकर बच्चों को मार डाला। पिता का माथा ठनका! उसने तीन विधियों से इस भय को दूर किया। (१) पहले तो उसने बताया कि वह कहानी बहुत पुरानी है। (२) दूसरी बात उसने यह बताई कि ऐसे हिंसक पशु नगरों आदि में नहीं आते। (३) तीसरी विधि सबसे अच्छी थी। प्रकाश की धीमी गति द्वारा तथा फिर तीक्ष्ण गति द्वारा उसे वह कमरा दिखाया गया और उसकी सुन्दर-सुन्दर वस्तुएँ वहाँ रक्खी गयीं, तथा लोगों ने वहाँ उससे हँस-हँस कर खेल किया। इन तीनों विधियों से उसका अन्धकार-भय दूर हो गया। इस प्रकार हम देखते हैं कि भय का संवेग कई प्रकार से उत्पन्न हो जाता है। बच्चे की मनःस्थिति उसका वातावरण उसकी अतीत अनुभूतियाँ, उसकी तात्कालिक शरीर-विवृद्धि आदि उसके भय के मूल में हैं। लड़के इन दुश्चिन्त्य परिस्थितियों से दुःस्वप्न देखने लगते हैं। कुछ वर्षों में बच्चे कुत्तों, चिकित्सकों, यन्त्रों, स्वरों, आँधियों, विचित्र वस्तुओं, कीड़ों-मकोड़ों और पानी आदि को देख कर डरने लगते हैं। कभी-कभी अनिच्छाओं से सम्बन्धित भय में कई प्रकार के संवेग गुम्फित हो जाते हैं, जैसे कोप, ईर्ष्या आदि संवेग। कभी-कभी भय के कुछ उपादान यों ही उठ खड़े होते हैं। कुछ लोग व्यर्थ मे बाते कह कह कर लड़को को डरा देते हैं जैसा कि ऊपर के उदाहरण से व्यक्त है।

§. [१२] भयाकुल बच्चे अपने वाह्य व्यवहारों से, श्वास अवरोध, मुख का पीला पड़ जाना, चुपचाप पड़ जाना, और बिना आँसुओ की चित्कार आदि प्रकट करते हैं।

बच्चों की भय-सम्बन्धी प्रतिक्रियाएँ; व्यक्ति-विभिन्नता

श्रीमती ब्रीजेज् के अनुसार ३ वर्ष के बच्चे, यदि भयोत्तेजना अधिक तीव्र नहीं हुई तो, शरीर का कड़ापन, रोना और रक्षा के लिए पुकारना आदि प्रकट करते हैं। बड़े लड़के

कूद कर भाग जाते हैं अथवा किसी दूसरी विधि से अपनी रक्षा कर लेते हैं। इसी प्रकार बच्चे अपने विभिन्न वाह्य व्यवहारों से भयाकुलता को प्रदर्शित कर सकते हैं। अवस्था-विशेष से उनकी अनुभूति उसमे बहुत सहायक होती जाती है। एक स्थिति मे सब बच्चे समान रूप से नहीं भी भय खा सकते। विभिन्न बच्चों के विभिन्न वातावरण होते है। उनकी शिक्षा-दीक्षा का भी प्रभाव होता है। कुछ लड़के मरे हुए आदमी को नहीं देख सकते। कुछ शव को बड़े चाव से देखते हैं। कुछ विजली की कड़क मे उछल कर नाचने लगते हैं। कुछ डर कर माँ की गोद में छिप जाते हैं, अथवा हक्का-बक्का हो जाते हैं। कुछ बच्चे अन्धेरे घर मे अकेले नहीं सो सकते।

भय का लाभदायक अथवा हानिकारक प्रभाव

.§. [१३] बच्चों के बहुत-से भय समयान्तर मे अपने आप लुप्त हो जाते है। विशेषतया वे भय जो कल्पनात्मक होते हैं और जिनके मूल मे दुर्बल अनुभूतियाँ होती है, जैसे भूत का भय, चोरों का भय, व्याघ्रादि का भय, अपने-आप नष्ट होते जाते है। बच्चों के इन भयों को उचित शिक्षा से नाश कर देना चाहिए। किन्तु वे भय, जो बच्चो को जाग्रत रखते हैं, जिनके कारण उनके जीवन-प्रवाह में गतिशीलता आती है, और उनको किसी प्रकार की शारीरिक चोट इत्यादि नहीं लग पाती, आवश्यक हैं। सड़क पर दौड़ना, साँप को हाथ से पकड़ना आदि भयंकर स्थितियाँ हैं। इस प्रकार के भय आवश्यक तथा लाभदायक है। अतः स्पष्ट है, भय अपनी उपयोगिता भी रखता है।

भय के साथ परिचर्या

.§. [१४] जब बचपन मे भय का संवेग नैसर्गिक रूप से उपस्थित रहता ही है तो बच्चों मे अनिच्छित भय को क्यों उत्पन्न करने दिया जाय? भय-सञ्चारक परिस्थितियों से बच्चों को दूर रखना चाहिए। किन्तु यह कठिनसाध्य समस्या है। बच्चो को भयोत्पादक स्थितियों के सम्पर्क से सर्वथा दूर रखना असम्भव है।

और दूसरी बात यह है कि ऐसा करना सदा अच्छा नहीं होता। जीवन विषम परिस्थितियों से होकर गुजरता है, यदि हम बच्चों को पूर्णतया इनसे अभिज्ञ रखें तो यह उनके हित में अच्छा नहीं होगा। किन्तु, यदि बच्चों को जीवन की भयावह स्थितियों से लड़ना ही है तो हम क्यों व्यर्थ में उनके सामने भूत-प्रेतों, अन्धकार आदि भयों का संसार निर्मित करें ? बुद्धि-चेतना तथा वस्तु-स्थिति-परिज्ञान उन्हें व्यर्थ के अन्धविश्वासों से दूर रखेंगे ही। बच्चों के बुरे भय को दूर करने के लिए उन्हें उनके विश्वासी स्नेहालुओं के बीच रखना चाहिए। बच्चा यदि पानी से डर रहा है, तो माँ को उसे मारना-पीटना नहीं चाहिए। मेरी एक भतीजी वीणा २ वर्ष की अवस्था में पानी से बहुत डरती थी। मैंने उसे प्रतिदिन सन्ध्याकाल घुमाना शुरू किया। दो एक दिन बाद मैंने उससे कहा कि तुम स्नान करोगी तभी मैं तुम्हें घूमने को ले चलूँगा। वह घूमना बहुत पसन्द करती थी। मैंने उसे दुलार के साथ नहलाना आरम्भ किया। धीरे-धीरे नहाने में वह अभ्यस्त हो गयी। यहाँ तक कि ठंढ पड़ते समय, जब कि हमलोगों को भी नहाना अच्छा नहीं लगता था वह अपने वस्त्रों को लेकर उपस्थित हो जाती थी और कहती थी, "चाचा, चलिए नहाने, क्या घूमने नही चलेंगे ?" किन्तु उसकी माँ उसे बिगड़-बिगड़ कर नहीं नहला सकी। नहाते समय वह सारे घर को सर पर ले लेती थी। मेरी उस अभ्यास-क्रिया के बाद वीणा निःसंकोच नहाती रही। यदि बच्चा व्यर्थ की बातों से डर गया हो, तो उसके भय को अभिसंधान-विधि (Method of Conditioning) के अनुसार दूर करना चाहिए। अनामा का सर्पिणी-भय, वीणा का पानी-भय आदि सब इसी सिद्धान्त द्वारा दूर किए गए। इसी प्रकार फोबिया (Phobia) अर्थात् भय के साथ किसी अनावश्यक वस्तु के सम्बन्ध को भी दूर करना चाहिए। अँधेरे घर में जब लड़की नहीं जा सकी तो उसके भय को, (क्योंकि अँधेरे घर मे उसने व्याघ्रादि की कल्पना कर ली थी) उसके पिता ने स्नेह-भरे शब्दों तथा प्रकाशादि से दूर

किया। एक बच्चा बिल्ली से भय खाने लगा, उसके पश्चात् सभी रोएँदार पशुओं से वह डरने लगा। इस भय को अभिसंधान के सिद्धान्त से आनन्द देने वाली स्थितियों से दूर किया गया। जिस टेबुल पर बच्चा खाता था उससे थोड़ी दूर पर बिल्ली रक्खी जाने लगी। अपने माता-पिता की संगति में भी बच्चा डर रहा था, किन्तु उसके सामने भोजन (प्रेरणा) था। धीरे-धीरे यह क्रिया कई बार की गयी और टेबुल क्रमशः पास में रखा जाने लगा और अन्त में वह बच्चा बिल्ली से पुनः खेलने लगा। इसी प्रकार हानिकारक भय को दूर करना चाहिए। भय को दूर करने में अभिसंधान क्रिया, प्रेम, दुलार आदि भावात्मक व्यवहार लाभदायक होते हैं।

क्रोध (Anger)

क्रोध के मूल में

§. [१५] बचपन में क्रोध अन्य संवेगों की अपेक्षा बहुधा क्रियाशील होता है। बच्चों की प्राकृतिक अथवा स्वतंत्र क्रियाशीलता में जब कोई अप्रत्याशित व्यवधान पड़ता है तो वे क्रुद्ध हो जाते हैं। अधिकतर बच्चों को व्यवधान मिला करता है, अतः उनके क्रोध-संवेग के उभड़ने के लिए पर्याप्त अवस्थाएँ उत्पन्न होती रहती हैं। भय के लिए इतनी अधिक उत्तेजनाएँ नहीं मिलतीं, क्योंकि छोटा बच्चा साधारणतः रक्षित रहता है। बच्चे कुछ-न-कुछ करते ही रहते हैं, उन्हे कुछ चाहिए। यदि उनकी मनःस्थिति के प्रतिकूल अथवा शरीर-गति के विरोध में कोई अवरोध उपस्थित हो गया तो समझ लीजिये उन्होंने पूरे मकान को सर पर ले लिया, अथवा अच्छी से अच्छी वस्तु टूट फूट गयी। आपने नहलाकर सुन्दर वस्त्र पहना दिये हैं, वे लोट-पोट कर उन्हे रौंद देंगे, फाड़ दे गे। क्रोध की इन विभिन्न स्थितियों को अधिकार में लाना परमावश्यक है। बच्चों के क्रोध के मूल में बहुत-सी बातें पायी जाती हैं। शारीरिक गत्यावरोध से उत्पन्न क्रोध बचपन से लेकर ७ वर्ष की अवस्था तक चलता रहता है। इस अवस्था मे क्रोध की मात्रा बढ़ जाती है। स्नान कराना, सुलाना, भोजन कराना,

मुँह धोना, नाक स्वच्छ करना, बाल पर कंघी लगाना, दाँत स्वच्छ करना आदि उनकी स्वाभाविक गतियों में बाधक होते हैं। ऐसा करने से वे क्रोधित हो जाते हैं। यदि किसी निश्चित नियम के प्रति भावना-विरोध होता है तब भी क्रोध जागता है। जब बच्चे कुछ करना चाहते हैं, किन्तु उसके लिए उचित स्थान अथवा काल नहीं है, तब क्रोध उभड़ पड़ता है। माता कहीं जा रही है, किन्तु बच्चे को साथ नहीं ले जा रही है, तब बच्चा क्रोध के आवेश में रोने लगता है, हाथ की वस्तु फेंक देता है, माँ के कपड़ों को खींचने लगता है। खेलते समय यदि बच्चे की इच्छा के प्रतिकूल कार्य हुआ अथवा उसे किसी बच्चे ने रोक दिया तो वह बिगड़ उठेगा, काटने लगेगा, वस्तुओं को पैरों से तितर-बितर कर देगा। सामाजिक सम्बन्ध, शारीरिक आचरण तथा शारीरिक पीड़ाएँ १ वर्ष की अवस्था मे अधिक क्रोध उत्पन्न करती हैं। शारीरिक आचरण के नियम की प्रतिकूलता, उसके अधिकारी से विरोध तथा सामाजिक सम्बन्ध १, २, ३, वर्ष के बच्चों में ७५ प्रतिशत क्रोध के कारण होते हैं। ४ से लेकर ७ वर्ष तक के बच्चो के क्रोध का दो-तिहाई भाग ऊपर की बातों से उत्पन्न होता है। यदि माता-पिता तथा शिक्षक आदि इन कारणों पर ध्यान दें तो अनावश्यक एवं प्रतिरोधात्मक स्थितियों से क्रोध का उभड़ना रोका जा सकता है।

§. [१६] अवस्था-विशेष का क्रोध के बाह्याभिव्यञ्जन पर बड़ा प्रभाव पड़ता है, और क्रोध में परिवर्तन होता रहता है। आरम्भ मे

क्रोध का बाह्याभिव्यंजन एव क्रोधावेश का अत्यधिक रूप

२-३ वर्ष की अवस्था तक श्वास रोकना, पैर मारना, पैर थपथपाना, रोना-चिल्लाना, शरीर को कड़ा कर देना, फर्श पर गिर पड़ना, मुँह से खाना उगल देना, काटने लगना, इधर-उधर दौड़ने-कूदने लगना, मुख को बन्द कर देना, वस्तुओं को फेंक देना आदि देखा जाता है। भाषा-विकास के साथ-साथ शब्द द्वारा आनाकानी करना, गाली देना, धमकी देना, बहस करना आरम्भ हो जाता है। गुडइनफ ने बताया

है कि १ वर्ष की अवस्था के बच्चों में ६० प्रतिशत क्रोध-व्यवहार शरीर के अनियन्त्रित संचालन में पाया जाता है। इस प्रकार का वाह्य व्यवहार ४ वर्ष के बच्चों में ४० प्रतिशत पाया जाता है। क्रियावाही तथा शाब्दिक व्यवहार १ वर्ष के बच्चों मे १५ प्रतिशत तथा ४ वर्ष के बच्चों में ६० प्रतिशत पाया जाता है। प्रत्युत्तर-व्यवहार (Retaliation) १ वर्ष के बच्चों में नहीं पाया जाता, किन्तु ४ वर्ष के बच्चों में २५ प्रतिशत पाया जाता है। क्रोधावेश में वाह्य-व्यवहार २ वर्ष तक अत्यधिक रहता है। क्रोधावेश का अत्यधिक अभिव्यंजन २ से ३½ वर्ष तक बहुत अधिक होता है किन्तु यह चौदहवें और पन्दरहवें महीनों में भी पाया जाता। पैर से वस्तुएँ फेंक देना, चौंथना-बकोटना, काटना, चित्कार करना, लोट-पोट हो जाना इसमें सम्मिलित है। खिलौनों को चकनाचूर कर देना आदि बाते पायी जाती हैं।

क्रोध की परिचर्या

§. [१७] क्रोधावेश की स्थिति मे बच्चों की परिचर्या करना परमावश्यक है। वातावरण को समुचित रखना चाहिए। बच्चों के इस प्रकार के व्यवहार को रोकने के लिए बहुत सतर्क रहना चाहिए। यह अभ्यास से रोका जा सकता है। बच्चों में अनावश्यक आचरण नहीं उत्पन्न करना चाहिए। बहुत लाड़-प्यार से, व्यर्थ के दुलार से, अथवा चिढ़ाने से ऐसी अवस्था उत्पन्न होती है। अभिसंधान-विधि भी कार्यान्वित करनी चाहिए। यदि क्रोधावेश की अत्यधिक अवस्था में कोई सुधार नहीं होगा तो लड़के असामाजिक हो जायेंगे, उनके जीवन से वास्तविक आनन्द जाता रहेगा, वे हठी हो जायेंगे, उनका ठीक से परिवर्द्धन नहीं हो सकेगा, व्यर्थ में उनका रक्त सूखने लगेगा, मस्तिष्क चिढ़-चिढ़ा हो जायगा और तनिक उत्तेजना पाते ही भयंकर स्थिति उत्पन्न हो जायगी। अतः भरसक बच्चों की मनःस्थिति के प्रतिकूल नहीं जाना चाहिए; उनकी स्वाभाविक क्रिया में अनुचित अवरोध नहीं उत्पन्न करना चाहिये। उनके वातावरण को उचित रूप देना चाहिए। क्रोधावेश को सँभालना सरल नहीं है। क्रोधमूलक प्रवृत्तियों से बच्चे

अन्त में असामाजिक हो सकते हैं।

ईर्ष्या (Jealousy)

ईर्ष्या के कारण तथा प्रारंभिक विकास

.§. [१८] ईर्ष्या का प्रारम्भ आरम्भिक बचपन के दूसरे वर्ष में होता है। बच्चे स्नेह के भूखे रहते हैं। वे अपने माता-पिता के अथवा स्नेहालुओं के ध्यान को अपनी ओर केन्द्रित होना देखते हैं। ऐसी स्थिति मे जब कोई दूसरा बच्चा उनकी अभिलषित क्रिया मे बाधा उपस्थित करता है और उनके स्नेहालुओं का केन्द्र हो जाता है तो वे अपने को अनिच्छित समझ दूसरे बच्चे से ईर्ष्या करने लगते हैं। इससे क्रोध बढ़ता है। ऐसी स्थिति में १६ अथवा १८ महीने का बच्चा भी क्रोध दिखाता है, उसके शरीर में कड़ापन आ जाता है, गतिहीन खड़ा हो जाता है और आँखों में अश्रु ले लेता है। यदि क्रुद्ध बच्चा हठी तथा आक्रमणकारी स्वभाव का है तो वह दूसरे बच्चे को मार बैठता है, उसके बालों को खींचने लगता है, अथवा किसी अन्य प्रकार की उद्विग्नता (Emotionality) प्रदर्शित करने लगता है। वह प्रौढ़ लोगों के ध्यान को आकर्षित करने के लिए उनके कपड़ों को खींचने लगता है और पृथ्वी पर गिरकर रोने लगता है। वास्तव में, ईर्ष्या कोई पृथक् संवेग नहीं है, यह तो अभिलाषाओं के प्रतिफलित न होने अथवा किसी विशेष इच्छा के विरोध में दूसरे को प्रतिफलित होते देखकर उत्पन्न होती है। इसी से कभी-कभी इसे स्थायीभाव (Sentiment) कहा जाता है। इसकी आधार-भूमि प्रत्यक्षज्ञान है। मौलिक वृत्तियों (Instincts) से इसकी उत्पत्ति होती है।

विभिन्न अवस्थाओं में इसका विकास

.§. [१६] घर मे नवशिशु के आगमन से माता-पिता का ध्यान नवशिशु की ओर आकृष्ट हो जाता है तो बच्चे खिन्न हो ईर्ष्या करने लगते हैं। किन्तु यह सार्वभौम नियम नहीं है। कुछ बच्चे नवशिशु के आगमन से ईर्ष्या नहीं भी दिखाते। वास्तव मे, यह वातावरण पर

अवलम्बित है। यदि माता-पिता कुशल गृहस्थ हैं, बच्चों को बहुत लोगों का प्यार मिलता है, उनके खेल की सामग्रियों में कोई कमी नहीं है तो उनमें ईर्ष्या की भावना नहीं भी आ सकती। जब बच्चें बढ़ जाते हैं, तो उनमें वातावरण-सम्बन्धी दोष के कारण ईर्ष्या उत्पन्न हो जाती है। लडकियाँ लडकों से अधिक ईर्ष्यालु होती हैं। भाई-बहन में ईर्ष्या का बाजार गर्म रहता है। 'तरपरिया' बच्चों की कहानी पुरानी है। बहुधा लड़कियों को लोग बहुत कार्य करने को कहते हैं, लड़कों को अधिक चाहते हैं, सम्भवतः इसी कारण से लड़कियाँ बचपन में अधिक ईर्ष्यालु होती हैं। किन्तु यह बात अधिक पुष्ट नहीं है। फ्रायड (Freud) के अनुसार जब माँ बच्चे के पिता को प्यार करती है तो लडकी क्रुद्ध हो जाती है, अथवा लड़का पिता से क्रुद्ध हो ईर्ष्या करने लगता है। किन्तु यह बात विवाद-ग्रस्त है। बड़े बच्चों में ईर्ष्या के कारण क्रमशः बढ़ते जाते हैं। प्रतिद्वन्द्विता से यह और बढती है। पढ़ाई, लिखाई, दूसरों के स्नेह को लेने, पुरस्कार लेने, घर की मर्यादा को बढ़ाने आदि में इसके प्रभूत कारण देखे जाते हैं। एक बच्चा दूसरे की बढ़ती नहीं देख सकता। वह उसके सामान की चोरी कर लेगा अथवा किसी प्रकार का व्यवधान खडा कर देगा जिससे उसका प्रतिद्वन्द्वी जीतने न पाये। ये कारण बहुत बुरे हैं। इनकी प्रर्याप्त विवेचना होनी चाहिए। प्रतिद्वन्द्विता कराने वाले को इसका ध्यान देना चाहिए कि बच्चो में व्यर्थ की ईर्ष्या न होने पावे। बहुत-से मनोवैज्ञानिकों ने इसी कारण प्रतिद्वन्द्विता का विरोध किया है, किन्तु उनका कहना अमनोवैज्ञानिक है, क्योंकि मूलप्रवृत्तियों के प्रकटीकरण एवं उनके सामाजिक अभिव्यञ्जन में दल-जीवन का प्रभाव पड़ना अनिवार्य है। प्रतिद्वन्द्विता से सामूहिक जीवन का विकास होता है।

§. [२०] बचपन-विकास के साथ-साथ धीरे-धीरे ईर्ष्या के पूर्व वाह्य व्यवहारों में ह्रास होने लगता है। विशुद्धि तथा सीखने के सिद्धात के अनुसार तथा भाषा-विकास से बच्चों में क्रमशः सहनशीलता आने लगती है; वे अपने को अभिव्यंजित करने से रोकते हैं। १२ वर्ष के

बच्चे ईर्ष्या मे आकर एक दूसरे की व्यर्थ शिकायत करते हैं, बदला लेने के लिए उतारू हो जाते हैं। मित्रता के इच्छुक बच्चे दूसरे को बुरा-भला कह कर उसकी मित्रता भंग कर देते हैं। ईर्ष्यालु लड़के और लड़कियाँ माता-पिता से व्यर्थ की झूठ-मूठ बातें कह कर एक दूसरे को उनकी दृष्टि मे गिराने का उद्योग करते हैं। ये व्यवहार व्यक्तित्व और चरित्र के विकास में हानिकारक होते हैं। इनसे मानसिक गुत्थियाँ (Complexes) उत्पन्न होती हैं। माता-पिता को कुशल ढंग से बच्चों की परिचर्या करनी चाहिए। बच्चों को व्यर्थ मे अपने आकर्षण का केन्द्र नही बनाना चाहिए। अधिक लाड़-प्यार एवं दुलार से बच्चे बिगड़ जाते हैं, दूसरों की आँख मे काँटे के समान गड़ने लगते हैं। बच्चो को प्यार अवश्य देना चाहिए, किन्तु एक सीमा के भीतर। सदैव परोक्ष रीति से (Indirectly) बच्चों के कार्यों की प्रशंसा करनी चाहिए। बच्चों से सामान्य व्यवहार रखना चाहिए। यदि एक बच्चे से काम लें और दूसरे को प्यार दें तो यह भयंकर भूल है। खाने-पीने, वस्त्र आदि मे किसी प्रकार दो भाव नहीं रखने चाहिए। ऐसी स्थिति ही उत्पन्न न होने पावे कि बच्चा कुछ और ही समझने लगे। ईर्ष्या के मूल को समझ कर उसका उचित परिष्कार करना चाहिए। ईर्ष्या को हम स्वच्छ रूप भी दे सकते हैं जिससे बच्चे प्रतिस्पर्द्धा (Envy) के भाव से उद्वेलित हो एक दूसरे से बाजी मार लेने को उद्यत हो जायें।

ईर्ष्या की अभिव्यञ्जनाएँ और उपचार

आह्लाद-उल्लास, आनन्द, प्रसन्नता इत्यादि

[Joy, Pleasure, Delight etc.]

§. [२१] ये भावात्मक प्रतिक्रियाएँ (Positive Responses) हैं। इन प्रक्रियाओं को बच्चा कभी दूर करना नहीं चाहता। बच्चा क्रोध, भय और पीड़ा आदि भावों को दूर करना चाहता है, वह नहीं चाहता कि वह क्रोधी बने-पीड़ित हो। क्रोध, भय आदि संवेग अभावात्मक

भावात्मक संवेग; उनका विकास

(Negative) कहे जाते हैं। किन्तु उल्लास, आनन्द, प्रसन्नता, संतोष आदि भावों में एक सरसता है जिन्हे बच्चा स्वाभाविकतया चाहता है। प्रारम्भ मे ही कहा जा चुका है कि बच्चे की प्रारम्भिक प्रतिक्रिया गुम्फित होती है और वह सामान्यतः उत्तेजित स्थिति की द्योतक होती है। उसी से पृथक्-पृथक् संवेग प्रस्फुटित होते हैं। १ माह के उपरान्त पीड़ा अथवा क्लेश की उत्पत्ति देखी जाती है। इस सिद्धान्त के अनुसार, भय, क्रोध, घृणा, ईर्ष्या आदि संवेग क्रमशः फूटते हैं। प्रसन्नता सम्भवतः तीसरे महीने में जागती है। १२ महीनों में प्रसन्नता कई रूपों में प्रलक्षित हो जाती है, यथा आह्लाद, उल्लास तथा स्नेह (Elation & Affection)। इसके उपरान्त स्नेह दो रूप पकड़ता है। एक प्रकार का स्नेह बच्चों के प्रति होता है और दूसरा प्रौढ़ व्यक्तियों के। १८ और २४ महीनों के बीच कहीं उल्लास दृष्टिगोचर होता है। ये अवस्थाएँ क्रमशः विवृद्धि तथा सीखने की क्रिया पर अवलम्बित हैं जैसा कि हमने प्रकरण .§. [५] में देख लिया है।

उल्लास, आनन्द तथा प्रसन्नता के कारण और उनकी अभिव्यञ्जना

.§. [२२] आरम्भिक बचपन से लेकर १२ वर्ष तक विभिन्न परिस्थितियों में संवेग विभिन्न रूप पकड़ते देखे जाते हैं। २ वर्ष के लड़के आनन्दातिरेक में शोरगुल करते हैं, हल्ला मचाते हैं, वस्तुओं को प्रसन्नता तथा उल्लास से चीथ-चाथ देते हैं, भारी वस्तुओ को प्रसन्नता में आकर उठाने लगते हैं। १० और १२ वर्ष की अवस्था में भी कभी-कभी यह स्थिति देखी जाती है। उत्सुकतावश वस्तुओं को उठा लेना, तथा उन्हें छिन्न-भिन्न करके देखना, उन्हे बनाना आदि देखे जाते हैं। अवस्था-विशेष से खेल खेले जाते हैं, बच्चे नृत्य करते हैं, गाना गाते हैं, एक लय में गाना, नाचना आदि करते हैं। इन संवेगों को दिखाने मे अस्वस्थता बाधक होती है। अस्वस्थ, भूखे या सोते हुए बच्चे निरुपाय रहते हैं। कभी-कभी प्रौढ़ लोगों में बच्चों-सी प्रसन्न, उल्लसित मुद्राएँ देखी जाती हैं। लड़के मुसकुराते हैं, हँसते हैं, ताली बजाते

हैं। किन्तु इन पर कभी सामाजिकता का आरोप होता ही है। बच्चे समयानुसार इनके संयम (Control) को भी सीख लेते हैं। कहाँ पर हँसना चाहिए, कहाँ पर मुसकुराना चाहिए, कहाँ ताली बजानी चाहिए आदि बातें अनुभवजन्य हैं। ये छोटे बच्चों में नहीं पायी जाती। इन संवेगों का एक लक्षण है कभी-कभी चुपचाप पड़ जाना। ऐसी स्थिति में भय, क्रोध, ईर्ष्या के प्रतिकूल व्यवहार होता है। बच्चे आनन्दातिरेक मे सो जाते हैं, अथवा कठिन और दुस्साध्य कार्य कर जाते हैं। अतः पुरस्कार (Reward) आदि का बच्चों के जीवन में बहुत उपयोग है। जीवन की प्रसन्नता बच्चों के नियमित उल्लास, आनन्द तथा प्रसन्नता पर आधारित है। हमें भावात्मक संवेगों का अधिक मूल्य करना चाहिए। अभावात्मक संवेग जैसे, भय, क्रोध, ईर्ष्या आदि को उचित रूप में नियन्त्रित करना चाहिए। भावात्मक सवेगो मे सम्वृद्धि होनी चाहिए। जीवन की प्रफुल्ल शक्तियाँ शरीर और मन से उत्पन्न प्रसन्नता में हैं अत. इनको समुन्नति तथा बच्चों के मानसिक उन्नयन के लिए वातावरण को बहुत ही उत्साहवर्द्धक तथा प्रेरणामूलक बनाना चाहिए।

✓स्नेह अथवा प्यार (Affection)

.§. [२३] बच्चा पहले उन व्यक्तियों से स्नेह करता है जो उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। यह अवस्था १२ महीने के पूर्व ही आ जाती है, कभी-कभी ८ माह के शिशु भी स्नेह करते पाए गए हैं। १२ महीने के बच्चे चुम्बन लेना सीख लेते हैं, और १४ या १५ महीनों में वे दूसरे बच्चों के साथ स्नेह भी प्रदर्शित करने लगते हैं। आरम्भ की मित्रता बहुत थोड़े दिनों तक चलती है। २ वर्ष के बच्चों की मित्रता विलम्बित होती है जो कभी-कभी कई सप्ताहों तक चली जाती है। ज्यों-ज्यों उनकी अवस्था बढ़ती जाती है वे मित्रों का चुनाव (Selection of friends) भी करने लगते हैं। उनकी प्रसन्नता में सम्मिलित होने वाले बच्चों अथवा वस्तुओं (Things)

स्नेहाभिव्यञ्जन

के प्रति उनमे एक उन्माद उत्पन्न हो जाता है। बच्चे खिलौने (Toys) से भी स्नेह करते है। इस प्रकार का 'स्नेहदान केवल बचपन में ही नहीं पाया जाता, ५–६ वर्ष के बच्चे अथवा इन से भी बडे बच्चे, खिलौनो में तन्मयता दिखाते हैं। छोटे-छोटे बच्चे रंगीन खिलौनों से अधिक स्नेह करते है। रोते हुए बच्चों को यदि रंगीन खिलौने दे दिए जायें तो वे रोना भूल जाते हैं और खिलौने मे लीन उनसे स्नेह करने लगते है, फिर तो आप उन खिलौनों को उनकी निद्रावस्था में ही ले सकते हैं। व्यक्तियों, खिलौनों, तथा और वस्तुओ के प्रति बच्चो का जो स्नेह होता है, जो प्रेम होता है वह, मुसकराने, हँसने, हाथ से थपथपाने, उठा कर खेलने, चुम्बन लेने और बहुत देर तक देखने से अभिव्यञ्जित होता है। यह स्नेह या प्यार अन्त मे किशोरावस्था के आरम्भ होते-होते प्रेम के स्थायीभाव (Sentiment) मे परिणत होने लगता है, जिसके निर्माण मे कई प्रकार के संवेगो का संगुम्फन पाया जाता है।

स्नेहातिरेक का भय

§. [२४] स्नेहातिरेक भय के विषय में दो महत्वशील भय बताए जा सकते हैं। यदि बच्चे माता-पिता को प्यार करते हैं, तो उन्हे औरों को भी प्यार करना चाहिए। किसी एक ही व्यक्ति या वस्तु तक बच्चों का प्यार सीमित नहीं होना चाहिए। वास्तव मे, बच्चो को जीवन के अधिक भाग को देखना है, उन्हे जीवन की महत्तर वस्तुएँ समझनी हैं, उन्हे प्यार करना है। संसार बहुत विस्तृत है, जहाँ पर वे जितना ही अपना प्यार-सम्बन्ध स्थापित कर सकेंगे उतना ही उनका जीवन निखरेगा, उतना ही वे अपने चरित्र अथवा व्यक्तित्व का विकास कर सकेंगे। वे घर में ही सदा के लिए नही रहेंगे। अभी कुछ दिन हुए एक समाचार समाचार-पत्रो मे छपा था, जिससे यह ज्ञात हुआ है कि एक माँ ने अपने पुत्र से इतना लाड़-प्यार किया और वह पुत्र अपनी माँ के लाड़-प्यार में इतना लग गया कि वह २१ वर्ष तक बच्चा ही रहा। घर की देहली के बाहर

वह कभी न गया। उसे संसार का कुछ भी ज्ञान न हो सका। उसका शरीर-विकास न हो सका। उसे २१ वर्ष की अवस्था तक माँ ने अपना खिलौना बना रखा। जब माँ मर गई तो वह इक्कीस वर्षीय शिशु कहीं का न रहा! एक दूसरी कहानी लीजिए। एक लड़का अपनी माँ को बहुत प्यार करता था और उसकी माँ ने भी आरम्भ में उसे लाड-प्यार से बिगाड दिया। इस स्नेहातिरेक का परिणाम यह हुआ कि बच्चा माता पर ही अवलम्बित रहने लगा। वह स्कूल मे न पढ़ सका। बार-बार घर पर भाग कर आने लगा। एक बार जब उसकी माँ किसी कार्यवश उसे छोड़ कर कहीं बाहर चली गई तो वह चार-पाँच दिन तक कुछ खा भी न सका। बड़ा होने पर वह किसी प्रकार की नौकरी नहीं कर सकता था। यह है भयंकर स्थिति अधिक प्यार के कारण जिसे प्रतिगमन (Regression) की भावना-ग्रन्थि (Complex) की संज्ञा दी जाती है। बच्चों को कई मित्र बनाने चाहिए। एक ही मित्र के रहने से उचित विकास नहीं होने पाता। सामाजिकता (Sociability) के लिए सबसे हँसना-बोलना आवश्यक है। भले-बुरे की पहचान बहुत-से लोगों से हिल-मिल कर रहने में है। बच्चों का सामूहिक खेल से प्रेम कराना चाहिए। किन्तु इसका ध्यान रखना चाहिए कि बच्चे बुरी संगत में न पड़ने पावे; क्योंकि इन्हीं कारणों से चोर, बदमाश लड़के-लड़कियाँ पाई जाती हैं जो समाज को नाश करने वाली होती हैं। चरित्र तथा व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के लिए उचित स्नेह-दान तथा पात्र-अपात्र का ध्यान आवश्यक है।

बच्चों के अन्य संवेग

§. [२५] चिंता, दुःख, पश्चात्ताप, पीड़ा, व्यामोह और अन्य क्लेश के उपप्रकार अभावात्मक प्रतिक्रियाएँ हैं। इसी प्रकार भावात्मक प्रतिक्रिया प्रसन्नता से उद्भूत नाना प्रकार के संवेग पाए जाते हैं। वास्तव में, ये भिन्न रूप प्रारम्भिक सवेगो के भिन्न-भिन्न प्रकार (Differentiations) हैं जो अन्त सवेगो से मिल-जुलकर जीवन

के स्थायीभाव के रूप मे प्रकट होते हैं। इन्हीं को मूलप्रवृत्ति मे विश्वास करने वाले मनोवैज्ञानिक प्रत्यक्ष तथा परोक्ष स्थायीभाव (Concrete or Abstract Sentiments) कहते हैं।

बच्चों में संवेगात्मक विकास-संयम
(Developing Emotional Control in Children)

§. [२६] बच्चों की सुचारु व्यवस्था तथा उनके जीवन को सुखी बनाने के लिए भिन्न-भिन्न संवेगों का वास्तविक विकास अपेक्षित है। जब हम ऊपर के सवेगों को पढ़ रहे थे तो हमने वहाँ उनके उचित नियन्त्रण के विषय मे भी बहुत-सी बाते (Conditions favourable to Emotional control) जानीं। किन्तु कुछ व्यवस्थित सिद्धान्तों की विवेचना यहाँ अपेक्षित है।

बचपन की परिचालना एवं व्यवस्थित विकास के लिए तथा विषम परिस्थितियों का सामना करने के लिए सुन्दर स्वास्थ्य का होना बहुत आवश्यक है। वह बच्चा जिसका परिवर्द्धन ठीक से होता है, जिसे भोजन-आदि सामग्रियाँ उचित रूप से मिलती हैं अपने संवेगों को उचित रूप से संयमित करता जाता है। स्वस्थ लड़कों मे क्रोध कम देखा जाता है, वे भयभीत कम होते हैं। दुर्बल और क्षीणकाय लड़के हठी, क्रोधी और भयाकुल होते हैं; उनमें आनन्ददायिनी भावनाएँ नहीं उत्पन्न होतीं। अतः शारीरिक स्वस्थता एक प्रमुख अवस्था है जिसके फलस्वरूप संवेगों का विकास ठीक से हो सकता है। बच्चों के संवेगों के विकास में माता-पिता के झुकाव का प्रबल हाथ होता है।

संवेगों के उचित नियन्त्रण की दशाएँ

(१) स्वस्थ शरीर

(२) माता-पिता का स्वस्थ तथा उचित व्यवहार

माता-पिता को निरपेक्ष रूप से बच्चों का लालन-पालन करना चाहिए। घर में जितनी ही शान्ति रहेगी स्वस्थ तथा संवेगों मे कुशल बच्चा उतना ही विकास प्राप्त करेगा। माता-पिता को अपने संवेगों पर स्वयं संयम रखना चाहिए

अन्यथा बच्चों की अनुकरण-वृत्ति सब कुछ सीख लेगी। बच्चों के संवेगों का विकास माता-पिता के संवेगों पर निर्भर है। वातावरण और परिस्थितियों का अनुकूल होना परमावश्यक है। अधिक उत्तेजनाओं में पड़ा बच्चा बहुत संवेगशील हो जाता है। बाहरी झगड़े, अनियमित समाज-व्यवस्थाएँ, दुर्व्यवहार आदि सामाजिक कुचेष्टाएँ लड़कों को प्रभावित करती हैं। बच्चों को उनकी शक्ति के अनुकूल ही वातावरण अपेक्षित है, जिससे वे अपने संवेगों में सन्तुलन स्थापित कर सकें। क्रमशः बच्चे बचपन से अपने वाह्य व्यवहारों में परिवर्तन लाते हैं। समाज उन्हे शिक्षित करता है। उन्हे सामाजिक होने के लिए अपने संवेगों के रूप को दूसरा रूप देना पड़ता है। जहाँ गाली देकर या मार पीट करके संवेग प्रकट किया जाता था, अब घर के बाहर समाज में वही आलोचना का रूप पकड़ता है। इसके लिए अनुभव अपेक्षित है। चित्त-विश्लेषण-शास्त्री डा० फ्रायड का कहना है कि जब बच्चों पर व्यर्थ का दबाव (Repression) पड़ता है तो वे तिलमिला जाते हैं, उनमें मानसिक ग्रन्थियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। ये मानसिक ग्रन्थियाँ उनके व्यक्तित्व को असम्बद्ध कर देती हैं, उनका चरित्र उचित विकास नहीं पाता। अप्रसन्न तथा ईर्ष्यालु लड़के चोरी करते हैं, व्यभिचारी हो जाते हैं एवं आत्महंता हो जाते हैं। अभावात्मक सवेगों के दमन में हमें बहुत सतर्क होना है। पहले तो वातावरण को उचित रूप देना चाहिए, यदि यह सम्भव नहीं है तो संवेगों का मार्गान्तरीकरण (Redirection) करना चाहिए अथवा उन्हे शोध (Sublimation) देना चाहिए। प्रसन्नताद्योतक संवेगों को उचित मात्रा मे संयमित करना चाहिए। अभावात्मक संवेग उत्तेजनाओं की व्याख्या करने से दूर किए जा सकते हैं। यदि बच्चा अपने व्यर्थ के भय को

(३) अधिक उत्तेजक परिस्थितियों को रोकना

(४) संवेगों के वाह्य व्यवहारों का नियन्त्रण

समझ ले अथवा अपनी ईर्ष्या या क्रोध के आधार को समझ ले, तो यह बहुत सम्भव हो सकता है कि वह अपने को संयम में रख सके। यदि उसने कुछ देर तक सोचने की प्रवृत्ति उत्पन्न कर ली तो यह सम्भव है कि वह अपने संवेग को रोक ले और उचित व्यवहार करने लगे।

(५) उत्तेजनाओं की पुनर्व्याख्या

परिस्थिति के स्वरूप को समझना संवेग की व्याख्या (Interpretation) है। माता-पिता तथा अध्यापकों को स्वयं सक्रिय होना चाहिए। बच्चों पर ही उनका विकास छोड़ देना श्रेयस्कर नहीं है। यदि इस प्रकार बच्चों का विकास कराया जाय तो वे स्वयं अपने विकास-मार्ग का निर्धारण कर लेंगे और उन्हें जीवन के स्वस्थ अनुभव मिलेंगे।

§. [२७] प्रसिद्ध बालमनोवैज्ञानिक ब्रुक तथा शैफर के शब्दों मे बच्चों के संवेगात्मक परिष्कार के कई स्वरूप होते हैं: (१) जब बच्चा अपनी विभिन्न प्रक्रियाओं को अपने व्यवहार के विविध स्वरूपों में समझ लेता है, (२) जब वह सवेगो को उत्पन्न करने वाली उत्तेजनाओं से चेतनता स्थापित कर लेता है, जिससे वह बार-बार उद्वेजित नहीं होता, (३) जब वह अपनी संवेगशील प्रतिक्रियाओं को सशोधित कर लेता है जिसके फलस्वरूप उसके सुख-आनन्द में कोई बाधा नहीं पड़ती, (४) जब वह दूसरे बच्चों से मित्रता तथा स्नेह-प्यार स्थापित कर लेता है जिसके फलस्वरूप वह अपने माता-पिता पर केन्द्रित नहीं रहता, अथवा अन्त मे, (५) जब वह अपने संवेगो पर स्थिरता से संयम रख लेता है जिससे उसका जीवन सुचारु रूप से चलने लगता है तो यह कहा जा सकता है कि बच्चे का संवेगात्मक विकास सुदृढ़ भाव-भूमि पर आधारित है और वह अपना जीवन-विकास भली भाँति कर लेगा। इन पाँच स्वरूपों पर ही बचपन की संवेग-परिपक्वता (Emotional Maturation) एवं परिष्कार या सयम निर्भर करता है।

संवेग-परिपक्वता

नवाँ अध्याय

बचपन-विकास में प्रेरणात्मक एवं रूच्यात्मक महत्व

(Motives & Interests and Motivation in Childhood)

§. [१] व्यवहारवादी मनोवैज्ञानिक शिशुओं के मूल में वंशानुक्रम (Heredity, Nature) की व्यवस्था तो देखते हैं, किन्तु वातावरण (Environment; Nurture) को अधिक महत्व देते हैं। मैक्डूगल तथा उनके अनुयायी मूलप्रवृत्तियों (Instincts) को मुख्य समझते हैं और कहते हैं कि ये मूलप्रवृत्तियाँ वातावरण की अनुकूलता तथा प्रतिकूलता में विकास पाती हैं। हमारे जो कार्य होते हैं, अथवा हममें जो प्रेरणा (Motives) है जिसके फलस्वरूप हम आगे बढ़ते हैं, उनके मूल में जन्मजात वृत्तियाँ (Innate Dispositions & Propensities) हैं। जीवन की विभिन्न प्रेरणाओं के मूल में प्रवृत्तियाँ हैं जिनका समुचित विकास जीवन का विकास है। हम हैं, क्योंकि हम में मूलप्रवृत्तियाँ हैं जो हमें क्षण-प्रति-क्षण उद्वेजित करती हैं। हमारे सारे कार्य-कलाप, हमारी सारी चेष्टाएँ-उपचेष्टाएँ, हमारी सारी विचार-इच्छाएँ इन्हीं मूलप्रवृत्तियों के मूल में हैं। प्रत्येक जीव का जीवन मुख्यतया जन्मजात एवं अर्जित (Innate & Acquired) व्यवहारों से प्रचालित होता है। जन्मजात व्यवहारों के दो भेद हैं : सहज क्रियाएँ और मूलप्रवृत्तियाँ (Reflexes and Instincts) और अर्जित व्यवहार के दो उपभेद हैं : आचरण तथा व्यवसायात्मक कार्य (Habits & Will or Volition)।

प्रवृत्तियाँ एव प्रेरणाएँ

छोटे-छोटे जीव-पतंगों में सहज क्रियाएँ प्रमुख स्थान रखती हैं। पशुओं में भी मूलप्रवृत्तियाँ पाई जाती हैं, किन्तु इनका विकास बहुत शीघ्र हो जाता है। उनकी बहुत-सी मूलप्रवृत्तियाँ विकसित रूप में

जन्म के साथ आती हैं। गाय का बछड़ा जन्म के कुछ समय के उपरान्त ही क्रियावाही शक्तियों (Motor activities) को सँभाल कर माँ के स्तन को पीने लगता है। यह पीना क्या है? किस वातावरण ने उस बछड़े को माँ के स्तन के पास पहुँचाया? इन प्रश्नों का उत्तर व्यवहारवादियों के पास नहीं है, किन्तु तब भी वे हठवादिता के वशीभूत हो वातावरण को अधिक बल दे मूलप्रवृत्तियों के सिद्धान्त को ठुकरा देते हैं। भला वनों में, जहाँ मानव नहीं है, पशुओं को कौन सिखाता है? उनमे क्रोध, भय, आदि संवेगों का उद्गार कैसे पाया जाता है? उनमें भोजन ढूँढ़ने की प्रवृत्ति कहाँ से आती है? वे आपस में क्यो लड़ पड़ते हैं? बच्चों की माता क्यों अपने बच्चों के रक्षार्थ भाँति-भाँति के साधन एकत्र करती है? उल्लसित हो, आह्लादित चौकड़ियाँ भरना उन्हें कौन सिखाता है? भय से अपनी रक्षा करने के लिए वे क्यों छिपे रहते हैं? इन प्रश्नों का उत्तर मूलप्रवृत्तियों में ही मिलता है।

मनुष्य मे मूलप्रवृत्तियों का महत्व सबसे अधिक है। जन्म के समय शिशुओं में ये विकसित नहीं होतीं; अतः शिशुओं का जीवन बहुत असहाय होता है। उस समय उनमें सहज क्रियाएँ पाई जाती हैं। क्रमशः मूलप्रवृत्तियों का विकास होता है। मानव-शिशु के सारे व्यवहार इन्हीं पर आश्रित हैं। ज्यों-ज्यो वह इन प्रवृत्तियों को सँभालता और उनको परिष्कृत करता जाता है वह जीवन को समझता तथा उसे एक रूप देता चला जाता है। नव शिशु एक दिन महान् विचारक होता है, कवि होता है, नेता होता है, नादिरशाह होता है, और होता है बुद्ध, क्राइस्ट तथा महात्मा गान्धी ऐसे पुरुष के समान जिनमें महान् शक्तियों का स्रोत पाया जाता है। इन महान् शक्तियों का उद्गम मूलप्रवृत्तियों के समुचित परिष्कार संशोधन तथा परिचालन में है। वातावरण के अनुसार इन मूल-प्रवृत्तियों का विकास होता है। इस सिद्धान्त के प्रवर्त्तक 'मन' को विशिष्ट स्थान देते हैं। मैक्डूगल (McDougall) ने चेतन मन

को माना है। फ्रायड (Freud) ने तो अचेतन मन (The Unconscious) की भी व्यवस्था स्वीकार की है। फ्रायड तथा उनके प्रसिद्ध अनुयायी युङ्ग, एडलर (Jung, Adler) आदि ने अचेतन मन के इतिहास को एक लम्बे साहित्य का रूप दिया है। हमारे भाव-प्रभाव, संवेग, संवेदन आदि हमें उर्ज्वसित करते हैं। यदि हमारी कोई मूल-प्रवृत्ति दब जाती है तो उससे भयंकर परिणाम उपस्थित होता है। बचपन में मूलप्रवृत्ति के दमन (Repression)की अधिक आशंका है। बच्चा अपनी कामनाओं, इच्छाओं की परिचालना में जब ठेस पाता है, उसे भिड़कियाँ मिलती हैं, उसपर अत्याचार होता है तब उसमें ग्रन्थियाँ (Complexes) उत्पन्न हो जाती हैं जिनके फलस्वरूप अचेतन मन गुम्फित होता जाता है, मन में एक भयावह संसार बँधता जाता है। यही भयावह ससार अचेतन है जो बहुधा स्वप्नावस्था में झलक उठता है, उन्माद में चमक जाता है अथवा उपचेतन अवस्था में क्रान्ति मचाता है। फ्रायड ने स्वप्नों की व्याख्या करके शिशु-जीवन की महत्ता को अधिक बढ़ा दिया है। उनका कहना है कि जीवन की अनिच्छित और अवाञ्छित क्रियाओं में बचपन का व्यर्थ अवरोध है। हमारी मानस ग्रन्थियो के मूल में मूलवृत्तियों का दमन तथा विलयन है। हम चोर हैं, दुराचारी हैं, अथवा पागल हैं, इसका कारण अचेतनावस्था का प्रस्फुटन है। अतः बचपन की समुचित परिचर्या अपेक्षित है। आजकल बालोपयोगी जो कुछ निर्धारणाएँ स्थापित हुई हैं उनमें चित्त-विश्लेषण-शास्त्र (Psycho-analysis) का प्रमुख हाथ है (देखिए लेखक का ग्रन्थ सामान्य मनोविज्ञान)।

मैक्डूगल के अनुसार मूलप्रवृत्तियाँ चौदह हैं। प्रत्येक प्रवृत्ति के साथ एक-एक विशिष्ट संवेग (Emotion) होता है। इस सिद्धान्त के अनुसार संवेग मूलप्रवृत्ति से पृथक् कोई अतिरिक्त भाव नहीं है। हमने देखा है कि व्यवहारवादी सवेग को पृथक् शारीरिक अवस्था मानते हैं। हमें इन झगड़ों में यहाँ नहीं पड़ना है। यहाँ इतना ही जानना पर्याप्त है कि सवेग मूलप्रवृत्तियों की परिचालना की दूसरी स्थिति है। पहले

तो वस्तु अथवा भाव का प्रत्यक्षज्ञान होता है, उसके उपरान्त संवेगात्मक उत्तेजना होती है और पश्चात् व्यवहार होता है। ये तीनों स्थितियाँ प्रत्येक मूलप्रवृत्ति के मूल में पायी जाती हैं। देखिए निम्न तालिका :

मूल-प्रवृत्तियाँ	संवेग
१ खाद्य-संग्रह (Food-seeking)	क्षुधा (Hunger, Gusto)
२ पलायन (Escape)	भय (Fear)
३ युद्ध (Pugnacity)	क्रोध (Anger)
४ उत्सुकता (कौतूहल, Curiosity)	आश्चर्य (विस्मय, Wonder)
५ रचना (Constructiveness)	रचनात्मक आनन्द (Feeling of Creativeness)
६ द्रव्य-संग्रह (Aquisitiveness)	प्रभुता (Ownership)
७ विकर्षण (Repulsion)	घृणा (Disgust)
८ कृपा करना (Appeal)	करुणा (Distress)
९ काम-प्रवृत्ति (मैथुन, Sex or Mating)	कामुकता (रिरंसा, Lust)
१० शिशु-रक्षण (Parental)	स्नेह (Tender Emotion)
११ संघटन (समाज-भाव, Herd)	अकेलापन (Loneliness)
१२ आत्म-प्रकाशन (Self-assertion)	उत्साह (उल्लास, (Positive self-feeling)
१३ विनीतता	आत्महीनता (Negative self-feeling)
१४ हास्य (Laughter)	आमोद (Amusement)

मैक्डूगल ने मूलप्रवृत्ति की परिभाषा यों दी है : मूलप्रवृत्ति वह जन्मजात मानसिक प्रवृत्ति है, जिसके कारण प्राणी का ध्यान विशेष वस्तु की ओर आकृष्ट होता है, एवं उसकी उपस्थिति में वह विशेष प्रकार के संवेगों का अनुभव करता है; और जिसके कारण विशेष प्रकार की क्रियात्मक वृत्ति उसके मन में जाग्रत होती है तथा कार्य के रूप में स्फुरण पाती है।

ये मूलप्रवृत्तियाँ मन की विभिन्न शक्तियाँ (Faculties of Mind) नहीं हैं. जैसा कि कुछ लोग समझते हैं; प्रत्युत नन (T. P. Nunn) महोदय के शब्दो में ये प्राणियो की सामान्य क्रियात्मक शक्ति (Horme) के विभिन्न व्यक्त स्वरूप हैं, जिसके द्वारा प्राणी अपने वातावरण को समझता है और उसके अनुसार कार्यशील होता है। ये वास्तव में, क्रियात्मक प्राण-संजीवन-वृक्ष की विभिन्न शाखाएँ हैं। 'मन' केवल मूलप्रवृत्तियों का पुञ्ज नहीं है, यह एक सत्ता है, इकाई है, जिसके विभिन्न स्वरूप ये प्रवृत्तियाँ हैं जिनपर पृथक्-पृथक् विचार तो हो सकता है, किन्तु उनकी पृथक् सत्ता नहीं है। ये मन-रूपी यन्त्र के विभिन्न पुर्जे नहीं हैं, प्रत्युत इसकी विशेष क्रियाएँ हैं।

वास्तव में, प्राणी में दो प्रमुख मौलिक प्रवृत्तियाँ हैं : आत्मरक्षा-वृत्ति (Self-preservation) तथा जाति-रक्षा-वृत्ति (Race-preservation)। इन दोनों को आत्म-वृत्ति (Self) तथा काम-वृत्ति (Sex) कहा जा सकता है। कुछ लोग काम-वृत्ति को सर्वोपरि स्थान देते हैं, जिनमें चित्त-विश्लेषक (Psycho-analysts) मुख्य हैं। किन्तु वास्तव में, ये दोनो प्रवृत्तियाँ प्रबल हैं। तीसरी प्रमुख वृत्ति सामाजिक वृत्ति (Herd or Gregarious Instinct) है। प्राणी-मात्र सामाजिक अथवा सामूहिक है। ये तीनों, प्राण-संजीवनी शक्ति-स्वरूप वृक्ष की तीन शाखाएँ हैं। धीरे-धीरे इनसे क्रमशः शाखाएँ-प्रति-शाखाएँ फूटती हैं। ये शाखाएँ आपस में मिलती-जुलती हैं और जीवन को गम्भीर और जटिल रूप देती हैं।

ऊपर की चौदह मूलप्रवृत्तियों के अतिरिक्त तीन अन्य जन्मजात प्रवृत्तियों (Innate Tendencies) का वर्गीकरण होता है; यथा, अनुकरण, सहानुभूति तथा खेल (Imitation, Sympathy & Play)। इनको सामान्य जन्मजात प्रवृत्तियाँ कहा जाता है। अब यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है : इन सामान्य जन्मजात प्रवृत्तियों और मूलप्रवृत्तियों में क्या विभेद है? मैक्डूगल ने इस प्रश्न का उत्तर दिया है। उनके अनुसार प्रत्येक मूलप्रवृत्ति के साथ एक संवेग

होता है, किन्तु सामान्य जन्मजात प्रवृत्तियों के साथ कोई विशिष्ट संवेग नहीं चलता, प्रत्युत परिस्थिति के अनुसार उनमें भिन्न-भिन्न संवेग दृष्टिगोचर होते हैं। ये प्रवृत्तियाँ मूलप्रवृत्तियों के समान बच्चों में जन्म-काल से ही पायी जाती हैं, हाँ उनका वास्तविक प्रस्फुटन क्रमिक होता है।

मौलिक प्रवृत्तियों का परिमार्जन
(Modification of Instincts)

§. [२] मौलिक प्रवृत्तियों के विकास में बहुत-सी चिन्त्य अथवा अचिन्त्य प्रक्रियाएँ होती हैं; बहुत-से समयानुकूल परिस्थितिजन्य परिवर्तन होते हैं। इन परिवर्तनों के मूल में कई प्रकार की क्रियाएँ लक्षित होती हैं : दमन (Repression), विलयन (Inhibition), मार्गान्तरीकरण (Redirection) अथवा परिष्कार (Sublimation) इन विविध क्रियाओं को समझने के लिए हम एक रूपक का सहारा ले सकते हैं। मनोवैज्ञानिकों ने मूलप्रवृत्तियों के प्रवाह को प्रवाहित जल के समान कहा है। हमारे अव्यक्त मन से प्रवृत्तियाँ उसी प्रकार निकलती हैं जिस प्रकार किसी जल-प्रपात का उद्गम होता है और जल विभिन्न मार्ग से उमड़ता-घुमड़ता बहने लगता है। यदि हम बाँध द्वारा जल-प्रपात के प्रवाह को रोक दें तो यह दमन कहा जायगा, यदि उसे बाँधें न, प्रत्युत उसकी धार को मरुस्थल की ओर मोड़ दें जिससे जल सूखता चला जाय, तो उसे विलयन कहा जायगा, यदि उस प्रवाह की स्वाभाविक गति को नहरों द्वारा खींच कर इधर-उधर खेतों में ले जायें तो इसे मार्गान्तरीकरण कहा जायगा, और यदि उसी जल को वाष्प रूप में परिवर्तित कर दें और विद्युत्-शक्ति आदि उत्पन्न करके यंत्र आदि चलावें तो यह परिष्कार कहा जायगा।

§. [३] चित्तविश्लेषकों के मतानुसार इसी प्रकार मूलप्रवृत्तियों का दमन, विलयन, मार्गान्तरीकरण अथवा परिष्कार (उद्ध्वार्यन) होता है। यह सर्वथा सत्य है कि इन मूलप्रवृ-

दमन

त्तियों में विकास-क्रम से परिष्कार होता जाता

है और इनके परिष्कार मे ही प्रफुल्ल जीवन है। यदि मूलप्रवृत्ति की स्वाभाविक गति में किसी प्रकार का अवरोध उत्पन्न होगा तो वह बँध जायगी। जिस प्रकार बहते जल को बाँध देने पर प्रलयंकर बाढ़ आ सकती है, बाँध टूट जाने पर घोर विपत्ति आ सकती है जिसके फलस्वरूप अन्नों, मकानों, प्राणियों का उन्मूलन हो सकता है उसी प्रकार मूलप्रवृत्तियों के स्वाभाविक विकास में किसी प्रकार के अवरोध आ जाने से शिशु-मन क्षुब्ध हो जाता है, विकास में गाँठें पड़ जाती हैं। चित्त-विश्लेषण-शास्त्रज्ञ तो इसका घोर विरोध करते और कहते हैं कि जीवन-विफलता, उन्माद, व्यक्तित्व की विशृंखलता एवं असामाजिकता के मूल में बचपन में मूलप्रवृत्तियों का दमन है। यदि हमने बच्चों की स्वाभाविक क्रिया में किसी प्रकार की बाधा डाली तो उनमें प्रबल संवेग उत्पन्न हो जायँगे जिनके फलस्वरूप उनका जीवन न-केवल उनके लिए, प्रत्युत औरों के लिए भार हो जायगा। अधिकतर देखा गया है कि चोर, बदमाश, दुराचारी दुर्व्यसनी, धूर्त, झूठे, दब्बू, मनहूस तथा अशिष्ट बच्चों की प्रकृति में दमन है जो या ता वातावरण-सम्बन्धी दोष का फल है अथवा अभिभावक की अप्राकृतिक परिचर्या का दुष्परिणाम है। दमन सदैव अवाञ्छनीय कहा गया है। यदि किसी कारणवश किसी बच्चे में कोई दुर्व्यसन आ गया तो उसे समझदारी से दूर करना चाहिए। एक सिद्धान्त की अधिक सहायता ली जाती है जिसे सुख-दुख-विनियमन (The Law of Hedonic Selection) कहते हैं। इस सिद्धान्त का तात्पर्य यह है कि जब किसी प्रवृत्ति की अभिव्यञ्जना में सुखानुभूति होती है तो वह बलवती हो जाती है अथवा जब उसकी अभिव्यञ्जना में दुखानुभूति होती है तो वह दुर्बल हो जाती है। यदि यह सिद्धान्त सत्य है तो दण्ड देना अमनोवैज्ञानिक नहीं है, क्योंकि दुःखानुभूति से ही बुरा आचरण दूर किया जा सकता है। किन्तु कुछ मनोवैज्ञानिक इसका विरोध करते हैं, उनका कहना है कि 'उचित वातावरण, तथा परिचर्या, सद्व्यवहार, अच्छी संगति स्वयं सब ठीक

कर देगी। मूलप्रवृत्तियों का दमन करना प्रत्येक दशा मे हानिकारक है।

§. [४] प्रकरण §. [२] के रूपक के अनुसार विलयन का तात्पर्य जल-प्रवाह की धारा को रोक कर मरुस्थल की ओर ले जाना है।

विलयन

इस क्रिया से कोई विशेष लाभ नहीं। हाँ, इतना स्पष्ट है कि यदि जल-प्रवाह आगे बढ़ कर कोई विपत्ति ढाह रहा था, वस्तुओं को जल-मग्न कर रहा था, जिसके फलस्वरूप प्राणियों का अहित होता था तो उसे मरु-स्थल में चला जाना चाहिए। किन्तु इस क्रिया से जल व्यर्थ मे नष्ट हो जायगा, उसका कोई सदुपयोग नही होगा। किन्तु यदि मरुस्थल में अंकुर फूट निकले और विकास-क्रिया आरम्भ हो जाय तो यह क्रिया फलवती हो सकती है, अन्यथा मरुस्थल मे सूख जाने से जल-प्रवाह का बहना अधिक श्रेयस्कर है। यही स्थिति मूलप्रवृत्तियो के विलयन की है। ऊपर के रूपक के अनुसार यदि बच्चों में कोई परिवर्तन लाना हो तो वह दो रूपों से किया जा सकता है: (१) एक तो वातावरण को परिवर्तित कर देना है, अर्थात् उस विशेष प्रवृत्ति को उभड़ने के लिए अवसर न देना और (२) दूसरा रूप उसके विरोध में कुछ नयी क्रिया आरम्भ कर देना है, अर्थात् विशेष प्रवृत्ति के विरोध मे दूसरी प्रवृत्ति को उभाड़ देना। बच्चे बहुधा झगड़ालू होते हैं। उनकी इस असामाजिक वृत्ति को रोकने के लिए या तो अवसर ही न दिया जाय या दिया भी जाय तो उसकी आवश्यकता पडने पर। विकर्षण तथा घृणा (Repulsion) के सहारे किसी दुर्वृत्ति का नियन्त्रण हो सकता है, विशेषत: काम-सम्बन्धी वृत्ति का।

§. [५] ऊपर की व्याख्याओं से स्पष्ट होता है कि दमन से विलयन अच्छा है और विलयन से मार्गान्तरीकरण। किसी विशेष

मार्गान्तरीकरण

प्रवृत्ति के उग्र रूप को कम करने के लिए यह परिवर्तन श्रेयस्कर है। नदी के उग्र रूप को नहरों द्वारा कम किया जा सकता है और ऊसर तथा सूखे खेतों मे हरियाली देखी जा सकती है। उसी प्रकार यदि

किसी बच्चे में कोई प्रवृत्ति प्रबल हो गयी है और यदि उसका नियन्त्रण आवश्यक है तो उसे ऊपर का रूप देना श्रेयष्कर होगा। मान लीजिए एक बच्चा वस्तुओं के संग्रह में बहुत लगा हुआ है, और अपनी इस क्रिया मे अनाप-सनाप वस्तुओं को एकत्र करता जाता है, तो आप उसमें एक अच्छा आचरण उत्पन्न कर सकते हैं। उसमें सुन्दर सुन्दर चित्र एकत्र करने की प्रवृत्ति उत्पन्न कर सकते हैं अथवा विभिन्न प्रकार के टिकट के संग्रह में उसे नियोजित कर सकते हैं। इस प्रकार का परिवर्तन मूलप्रवृत्तियों का मार्गान्तरीकरण कहा जायगा।

§. [६] मूलप्रवृत्तियों का परिष्कार सर्वश्रेष्ठ है। भाव-संवेगों से मूलप्रवृत्ति को समुचित विकास दिया जा सकता है, और मूलप्रवृत्तियों के समुचित विकास से स्थायीभाव (Sentiments) बनते हैं जो व्यक्तित्व तथा चरित्र को सुसंगठित तथा परिष्कृत बनाते हैं। पानी को वाष्प रूप में परिवर्तित कर विद्युत्-शक्ति निर्मित की जाती है,

परिष्कार (उद्ध्वांयन)

चारों ओर प्रकाश किया जा सकता है, बड़े-बडे कठिन कार्य किए जाते हैं, अद्भुत शक्ति मिलती है, जिसके द्वारा बड़ी-बड़ी मशीनें चलाई जाती हैं, प्राणियों का भला होता हैं, सभ्यता का विकास होता है, जीवन के विकास में अद्भुत ज्योति मिलती है। उसी प्रकार यदि मूलप्रवृत्तियाँ शोधित हो जायें तो सुखानुभूति होगी, सौन्दर्य-बोध से कला-कविता आदि की सृष्टि होगी। आजकल जितने अभूतपूर्व कार्य हुए हैं, या जितने बड़े-बड़े योगी, महात्मा, कवि, नाटककार, विज्ञानवेत्ता हुए हैं, उनके मूल में उनकी मूलप्रवृत्तियों का अधिक मात्रा में परिष्कार है। काम-वृत्ति का शोध, कला-सौन्दर्यमूलक वृत्तियों का विकास है। इसके मूल में त्याग है, आत्म-निग्रह है और है संगठित शक्ति की योजना। महात्मा गाधी ने अपनी काम-वृत्ति को परिष्कृत करके राष्ट्र-जीवन में यौगिक मोहकता भर दी, बड़े-बड़े सुन्दर विचार दिए। टालस्टाय ने अपनी काम की उद्दाम शक्ति को परिष्कृत करके विश्व को विचारों का साम्राज्य दिया। कालिदास तथा तुलसीदास ने लोकोत्तर साहित्य का

आनन्द दिया। सचमुच, परिष्कार में ही मूलप्रवृत्तियों का वास्तविक विकास है।

प्रवृत्तियाँ, संवेग एवं प्रेरणाएँ

.§. [७] अब हम नीचे क्रमशः मूलप्रवृत्तियों की सूक्ष्म व्याख्या करेंगे और उनके विकास-क्रम को बच्चों के जीवन की भूमिका में देखेंगे। हमारे जीवन की मौलिक प्रेरणा (Motives) इन्हीं मूल प्रवृत्तियों में है। हमारी जीवन-स्फुरणा इन्हीं की परिष्कृत परिचालना में है। हमारे कार्य-कलाप इन्हीं की विस्फूर्जित गतियों में है। हमारे विचार, हमारी इच्छाएँ इन्हीं पर अवलम्बित हैं। हमारा चरित्र तथा व्यक्तित्व इन्हीं के व्यवस्थित तथा सगुम्फित नियमन में है। गत अध्याय में हमने बच्चों के विभिन्न विशिष्ट संवेगों को पढ़ा है अतः यहाँ पर मूलप्रवृत्तियों की विस्तृत व्याख्या की कोई आवश्यकता नहीं है। संवेगों के वर्णन में हमने कहा है कि संवेग, वास्तव में, मूलप्रवृत्तियों के अंग हैं, यहाँ तक कि कभी कुछ प्रवृत्तियों की कल्पना संवेगों द्वारा ही हो जाती है। यदि हमारे भाव-संवेग ठीक से चलें तो मूलप्रवृत्तियों का दमन, विलयन आदि न हो, प्रत्युत उनका समुचित परिष्कार होता जाय।

मूलप्रवृत्तियों को व्यवहारवादी प्रेरणा (Motives) कहते हैं। पाठकों को यह जान लेना परमावश्यक है। अन्तर इतना है कि मूलप्रवृत्ति-सिद्धान्त वाले मूलप्रवृत्तियों को जन्मजात कहते हैं, और व्यवहारवादी प्रेरणा को अर्जित गुण मानते हैं। भूख, प्यास, मलमूत्र-त्याग, स्वेद-क्रिया, सोना तथा आराम करना, काम आदि को व्यवहार-वादी 'मोटिव्स' (प्रेरणा), प्रवृत्ति कहते हैं जो स्वाभाविक तथा अर्जित गुणों (Instinctive and Learned) के प्रतीक हैं।

मूलप्रवृत्तियों से जीवन की विविध प्रेरणाओं का उन्नयन होता है। बचपन-विकास में प्रेरणाएँ बहती चलती हैं और उनसे वह विकास एक रूप धारण करता जाता है। हम नीचे विशिष्ट प्रेरणाओं का अध्ययन उपस्थित करते हैं। वास्तव में, इन प्रेरणाओं से ही रुचि

(Interests) उत्पन्न होती है और बच्चा क्रमशः रुच्यात्मक ढंग से विकास प्राप्त करता जाता है।

उत्सुकता (Instinct of Curiosity)

§. [८] उत्सुकता का संवेग आश्चर्य (Wonder) है। बच्चा अपने संवेदनों (Sensations) अथवा प्रत्यक्षज्ञानों (Perceptions) से इस विश्व में आश्चर्य से भरी वस्तुएँ देखता है और अपने व्यवहारों में उत्सुकता प्रकट करता है। प्रत्येक बच्चा नवीन वस्तु की ओर उत्सुक हो जाता है, उसके प्रति अपना आश्चर्य प्रकट करता है, और उसे देख प्रसन्नता द्योतित करता है। बच्चों के मनोविकास में उत्सुकता का बड़ा महत्व है। हम सभी बच्चों के प्रश्नों को जानते हैं, यहाँ तक कि कभी-कभी तंग आकर उन्हे बहुत-सी झूठ-मूठ बातें कहकर चुप करा देते हैं। ऐसा करना हानिकारक है। इससे उनमें दमन-क्रिया आरम्भ हो जाती है। इसका दुष्परिणाम बहुत भयंकर होता है। या तो लड़का हठी हो जायगा, दब्बू हो जायगा, या भयभीत हो जायगा। बच्चों की जिज्ञासा-प्रवृत्ति को बिना समझे-बूझे दमन नहीं करना चाहिए। बच्चे आरम्भ में (१) इन्द्रिय-सम्बन्धी प्रश्न करते हैं; वे वस्तुओं को जानना चाहते हैं। अभिभावकों को चाहिए कि वे उन्हे ऐसा करने को उकसावें। (२) वस्तु-नाम का ज्ञान होना आवश्यक होता है। चित्रों को देखकर वे जो प्रश्न करते हैं उसे उत्तेजित करना चाहिए क्योंकि इससे उनका वाह्य ज्ञान बढ़ता है। वस्तु-ज्ञान के पश्चात् बच्चों की जिज्ञासा (३) क्रिया-बोधक होती है। वे जब किसी को कुछ करते देखते हैं तो प्रश्न करते हैं। ऐसी अवस्था में बच्चों के प्रश्न क्रिया-ज्ञान-सम्बन्धी हो जाते हैं। इस क्रिया में उनकी कल्पना (Imagination) को विकास मिलता है। जब वे किसी चित्र को देखते हैं तो उनमें गतिशील चित्रांकनों के वर्णन में अपनी कल्पनाएँ लगाते हैं। फिर क्रमशः इस अवस्था के पश्चात् उन्हें (४) वस्तु-विशेषता के प्रति जिज्ञासा होती है। वे प्रश्न

करते हैं "यह कैसी वस्तु है?" इससे यह संकेत मिलता है कि बच्चे में किसी वस्तु की पहचान करने की जिज्ञासा बलवती हो गई है। शिक्षकों अथवा अभिभावकों को ऐसी स्थिति से लाभ उठाना चाहिए। उन्हे बच्चो की इस शक्ति को उनके कार्य मे लगाना चाहिए। गुणों की पहचान तथा उनसे विशेष बातो का ज्ञान होता है। वस्तुओ के रूप-रंग उनके आकार-प्रकार के प्रति उनकी मोहकता जगती है। क्रमशः बच्चे अपनी ज्ञान-वृद्धि मे लगते हैं, वे वस्तुओ के नाम, रूप तथा विशेषताओं की पहचान के द्वारा उनकी विभिन्न क्रियाओ के आदि-अन्त के विचार-विनिमय में लग जाते हैं। प्रत्यक्ष पदार्थ-दर्शन से उनका अन्तर्दर्शन (Introspection) जागता है और धीरे-धीरे उनकी विचार-कल्पना वस्तुओं के भीतर घुसने लगती है। वास्तव में, उत्सुकता ही बढ़कर प्रबल जिज्ञासा का रूप पकड़ती है जिसके फलस्वरूप बच्चों में नवीन अनुसंधानों के प्रति रुचि बढ़ती है। बच्चों की उत्सुकता की शक्ति मे ही, प्रतिभा के विकास से, बड़ी-बड़ी व्यापक सम्भावनाएँ पाई जाती हैं। बच्चे आविष्कारक, विज्ञानवेत्ता, साहित्यकार अथवा चित्रकार हो सकते हैं। अतः उत्सुकता का उद्बोधन बचपन-विकास मे विशेष महत्त्व रखता है।

रचनात्मक प्रवृत्ति (Constructive Instinct or Motive)

§. [६] बचपन में गतिवाही क्रियाओं (Motor activities) के सन्तुलन तथा विशेष गतियों की अभिव्यञ्जना के उपरान्त बच्चों में रचनात्मक प्रवृत्ति देखी जाती है। एक वर्ष का बच्चा अपनी क्रियाओं द्वारा यह प्रवृत्ति प्रदर्शित करता है। बहुत प्रकार की वस्तुओं को वह हाथ मे लेता है, उन्हे तोड़ने-फोड़ने के उद्योग में लगा रहता है। यह देखा जाता है कि इस प्रवृत्ति का प्रथम लक्षण ध्वंसात्मक (Destructive) होता है। लगता है, बच्चा इन वस्तुओं में कोई विशेष परिवर्तन देखना चाहता है। इस परिवर्तन की चाह मे विघटनात्मक और सृष्ट्यात्मक (Creative), दो स्वरूप

देखे जाते हैं। स्वभाव से ही बच्चा चंचल प्रकृति का लगता है, उसमें भाँति-भाँति की क्रिया-गतियाँ होती रहती हैं। जाग्रतावस्था मे वह स्वतंत्ररूपेण अस्थिर रहता है। हाथ के संतुलन (Co-ordination) में वह वस्तुओं को उठाता है और उन्हे तोड़ता-फोड़ता है। उसकी इस क्रिया में कोई अवरोध उत्पन्न करना हानिकारक है। माता-पिता बहुधा उसे ऐसा करने से रोकते हैं, इससे उसकी रचनात्मक प्रवृत्ति में दमन हो जाता है, उसकी क्रियावाही शक्ति में रुकावट हो जाती है। वास्तव में, रचनात्मक प्रवृत्ति के मूल में प्रथम तोड़ना-फोड़ना ही प्रलक्षित होता है। क्रमशः तोड़ना-फोड़ना (विघटनात्मक) रचनात्मक में परिणत हो जाता है। इस परिवर्तन के समय बच्चों को खेलने के लिए बहुत प्रकार के खिलौने देने चाहिए। घर-घरौंदा बनाना, वस्तुओं को एकत्र करके उनसे खेलना आदि क्रियाएँ इसमें सम्मिलित हैं। रचनात्मक प्रवृत्ति से बच्चों की कल्पना-शक्ति का विकास होता है। लड़कों और लड़कियों की रचनात्मक प्रवृत्ति में कुछ अन्तर भी देखने में आता है। लड़कियाँ मिट्टी की रोटी बनाती हैं, लड़के घरों का निर्माण करते हैं। इन क्रियाओं में बच्चों के खेल के विभिन्न रूप छिपे रहते हैं। उनके इस रचनात्मक खेल में अभिभावकों को सहायता देनी चाहिए, उन्हे विभिन्न प्रकार की सामग्रियाँ देनी चाहिए क्योंकि भावी उत्तरदायित्व के मूल में रचनात्मक प्रवृत्ति का प्रमुख हाथ है।

संग्रह की प्रवृत्ति (Hoarding Motive)

§. [१०] हमने ऊपर देख लिया है कि बच्चे रचनात्मक प्रवृत्ति के विकास मे पदार्थों को तोड़ते हैं, फोड़ते हैं, किन्तु उनमें संग्रह करने की प्रवृत्ति भी होती है, जो समयान्तर में ध्वंसात्मक रूप से ही जागती है। क्रमशः बच्चे वस्तुओं के चयन में भी तल्लीन हो जाते हैं। बच्चे स्थान-स्थान से टूटी-फूटी वस्तुओं को एकत्र करते हैं, और उन्हें सजा कर एक स्थान में रख देते हैं। जब उनमें पदार्थों के प्रति प्रत्यक्ष-ज्ञान (Perceptual knowledge) का उद्भव हो जाता है तो वे

नाना प्रकार की वस्तुओं को एकत्र करते हैं और उनकी गुण-पहचान में तत्पर होते हैं। इसी प्रवृत्ति के विकास मे धन का जोड़ना, अच्छी-अच्छी वस्तुओं की पहचान तथा उनका संचयन और सौन्दर्यानुभूति निहित है। संग्रह की प्रवृत्ति के विकास में दमन होने से बच्चों में आत्मीयता आती है, जिसके फलस्वरूप वे ईर्ष्या के वशीभूत हो दूसरो की अपेक्षा अपना गौरव बढ़ाने के लिए, अथवा अपने को बड़ा सिद्ध करने के लिए, तथा दूसरों की दृष्टि में अच्छा जॅचने के लिए, दूसरों की वस्तुओं को चुरा लेते हैं। अतः दमन हानिकारक है। संग्रह-प्रवृत्ति के साथ-साथ बच्चों में उदारता भी उत्पन्न हो सकती है। यह तभी सम्भव होगा जब बच्चों के पास वस्तुएँ प्रभूत मात्रा में हो, उनके कई मित्र हों, माता-पिता के अच्छे गुणों का उनमें प्रभाव हो ; क्योंकि वस्तुओं की कमी से ही उनमें कंजूसी के लक्षण आएँगे या दूसरों के प्रति अनुदारता दीख पड़ेगी। बहुधा कुछ अभिभावक बच्चों की इस प्रवृत्ति को समुचित रूप देने के लिए उनमे टिकट आदि एकत्र करने की चाह उत्पन्न करते हैं, उन्हे भॉति-भॉति प्रस्तर के खण्ड एकत्र करने की अभिरुचि देते हैं। इन वस्तुओ के चयन में बच्चों का भौगोलिक तथा ऐतिहासिक ज्ञान भी बढ़ता है। पैसा जोड़ना भी सिखाया जा सकता है। संग्रह-प्रवृत्ति से गणित का विकास भी होता है। बच्चे अपनी वस्तुओ से तथा उनके सम्पर्क से अपनी बहुत-सी वृत्तियों को पहचानने लगते हैं। यदि उनमें किसी प्रकार का दमन उपस्थित होगा तो फ्रायड के अनुसार वे चोर हो सकते हैं। धनी घरानों के लड़कों में भी चोरी के बुरे आचरण देखे गए हैं। इस आचरण के मूल में उनकी संग्रह-वृत्ति का अनुचित विकास है।

क्षुधा एवं खाद्य-संग्रह

(Hunger & Food Seeking Instinct or Motive)

.§. [११] क्षुधा का संवेग बड़ा प्रबल है। कार्ल मार्क्स (Karl Marx) के प्रयत्न से विश्व में आज जो साम्यवाद (Communism)

की लहर है उसके मूल मे क्षुधा को शान्त करने की शारीरिक प्रेरक शक्ति या वृत्ति है। साम्यवादियों की विचार-धारा से प्रभावित मनोवैज्ञानिकों ने मानव के मूल में दो विशेष वृत्तियाँ देखी हैं: भूख और काम (Hunger and Sex)। उनका कहना है कि प्रथम वृत्ति भूख है और उसके उपरान्त काम-वृत्ति है। मानव-सभ्यता और संस्कृति के वर्तमान इतिहास में इन्हीं दो वृत्तियों का प्रमुख हाथ है। देखा जाता है कि बच्चा भूख-शान्ति के पश्चात् प्रसन्नचित्त खेलने लगता है, भाँति-भाँति की रचनात्मक तथा संग्रहात्मक क्रियाएँ (Exploration & Manipulation) करता है। मानव-जीवन से जो आश्चर्यजनक कार्य हो सके हैं उनके मूल में भूख और काम की शान्ति निहित है। सामन्तों ने अपनी भूख-वृत्ति से सञ्चालित होकर विविध क्रियाएँ की हैं और काम-पिपासा की शान्ति के लिये अपनी संग्रह-वृत्ति के विकास में भिन्न-भिन्न प्रकार की सौन्दर्य-बोधक वस्तुओं का निर्माण किया है। फ्रायड ने काम-वृत्ति को प्रमुख माना है। उनका कहना है कि काम-पिपासा की शान्ति के प्रयत्न में सारे कार्य-कलाप निहित हैं। हमे यहाँ झगड़ों में नहीं पड़ना है। इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि क्षुधा-संवेग हमें भोजन ढूँढ़ने की ओर संलग्न करता है। बच्चा जन्म के उपरान्त ही क्षुधा-व्यथा से प्रभावित होकर रोता है और उसकी शान्ति के उपरान्त सोता है अथवा खेलता है। क्रमशः इस वृत्ति के विभिन्न स्वरूप होते जाते हैं। आरम्भ मे बच्चा माँ पर ही आश्रित रहता है, ज्यों-ज्यों उसकी क्रियावाही समर्थताओं में सन्तुलन उपस्थित होता जाता है वह अपनी भूख की शान्ति स्वयं करने को उद्यत होता है। बच्चों की भोजन-क्रिया में एक नियम होना चाहिए, अन्यथा उनमें ग्रन्थियाँ उत्पन्न हो जायँगी, जिनके फलस्वरूप उनका समुचित शारीरिक तथा मानसिक विकास नहीं हो सकता। यदि बच्चों का पेट नहीं भरेगा एवं वे अपनी इच्छित वस्तुएँ नहीं पाएँगे, तो वे लालची होंगे। अधिकतर देखा जाता है कि चोर, डाकुओं, व्यभिचारियों की क्रियाओं में क्षुधा-वृत्ति का दमन है। बड़े-बड़े धनिक के लड़कों मे चोरी

के आचरण देखे गये हैं। ऐसा क्यों होता है ? मान लीजिए एक बच्चा मिठाई खाना चाहता है, आप उसे नहीं देते हैं, और उसके दमन के लिये कई प्रकार के उपाय नियोजित कर रखे हैं। ऐसी स्थिति में बच्चे में इस दमन से कुवृत्ति उत्पन्न होगी। वह चोरी से मिठाई खाएगा, पिता की जेब से पैसे चुराएगा, झूठ बोलेगा, बाजार की उट-पटाँग वस्तुएँ खाएगा, उसका स्वास्थ्य बुरा हो जाएगा। वास्तव में, यदि बच्चे को मिठाई देना आप हानिकारक समझते हैं, तो ऐसा वातावरण उपस्थित कर दीजिये कि बच्चों की प्रवृत्ति का मार्गान्तरीकरण हो जाय अथवा परिष्कार हो जाय। डाँटना, बिगड़ना हानिकारक है। मेरे एक मित्र हैं जो सिगरेट बहुत पीते हैं। वे पैसेवाले हैं, खूब कमाते हैं; किन्तु जब कभी वे अकेले में सिगरेट पीते देख लिए जाते हैं तो काँप उठते हैं। उनका कहना है कि उन्हे पता नहीं किसका अचिन्त्य भय लगता है। मेरे एक दूसरे मित्र हैं जो छिप-छिप कर मिठाई खाते हैं। एक बार मेरे साथ मिठाई खा रहे थे। जब एक सज्जन और आ गए तो वे उठकर चले गये। मुझे उनका व्यवहार बहुत बुरा लगा। किन्तु पूछने पर ज्ञात हुआ कि वे मिठाई अपने बहुत घनिष्ट मित्रों के साथ ही खा सकते हैं, अपरिचितो के सम्मुख नहीं। वे धनी हैं, किन्तु छिप-छिप कर मिठाई खाते हैं। जब मैंने उनके चित्त का विश्लेषण किया तो ज्ञात हुआ कि जब वे बच्चे थे तो मिठाई खाने पर उन्हे बुरी तरह पीटा जाता था, यहाँ तक कि उनकी दाई भी उन्हें पीटती थी। धीरे-धीरे उनमें एक मानसिक ग्रन्थि उत्पन्न हो गई जो उनकी युवावस्था तक चलती रही। इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि क्षुधा-वृत्ति का परिष्कार बिना दमन के होना चाहिए। उचित नियमन, वातावरण, अभिभावकों का शिष्ट व्यवहार आदि इस वृत्ति के परिष्कार के लिए बहुत आवश्यक है।

द्वन्द्व-प्रवृत्ति (Instinct of Combat or Pugnacity)

§. [१२] प्राणियों की द्वन्द्व-प्रवृत्ति में क्रोध का संवेग पाया जाता

है। क्रोध के विषय में बच्चों के संवेगात्मक विकास के अध्याय में बहुत कुछ लिखा जा चुका है (देखिए आठवाँ अध्याय प्रकरण .§.१५)। बच्चों में प्रायः झगड़ने की प्रवृत्ति पाई जाती है। पशुओं मे यह प्रवृत्ति बड़ी प्रबल है। झगड़ना, लड़ना इसके साथ चला करता है। झगड़ने की प्रवृत्ति में अवस्थानुसार परिवर्तन होता जाता है। प्रथम लड़के आपस में क्रुद्ध हो लड पडते हैं, किन्तु क्रमशः दलों में विभाजित हो प्रतिद्वन्द्विता (Competition) के साथ लड़ने लगते हैं। यह झगड़ने की प्रवृत्ति का उचित विकास है। वास्तव में, आज विश्व में जो युद्ध के बादल मँडरा रहे हैं, उनके मूल में झगड़े की प्रवृत्ति है। इस प्रवृत्ति का प्रबुद्ध विकास न होना ध्वंसात्मक है। तानाशाहों, हत्यारों की निकृष्ट विचार-पद्धति तथा उससे उद्भूत क्रिया-कलापों तथा ध्वंसात्मक यन्त्रों में इस मूलप्रवृत्ति का हाथ है। जीवन-सत्ता के लिए युद्ध का नियम (Struggle for Existence) एक वैज्ञानिक तथ्य माना जाता है। "जीवै जीव अहार" एक पुरानी उक्ति है। हिंसा (Violence) को मनोवैज्ञानिक तथ्य कहा गया है। किन्तु महात्मा गान्धी ने अहिंसा (Non-Violence) का प्रतिपादन किया है। किन्तु जब क्रोध एक मौलिक संवेग है और उसके मूल में द्वन्द्व-प्रवृत्ति है, तो अहिंसा का सिद्धान्त किस प्रकार सम्भव है? यह एक विचारणीय प्रश्न है। यहाँ पर इतना ही कहना उपयुक्त है कि झगड़ना एक मौलिक प्रवृत्ति है जिसका परिष्कार आवश्यक है। जीवनोपयोगी क्रियाओं मे द्वन्द्व-प्रवृत्ति को लगा देना चाहिए, जैसे हाकी, फुटबॉल, कबड्डी आदि के खेल। क्रोध का परिष्कार बच्चों मे असामाजिक स्थितियों के प्रति विरोध-भाव प्रकट करा कर करना चाहिए।

आत्म-प्रदर्शन की प्रवृत्ति (Self-Assertion)

.§. [१३] आत्म-प्रदर्शन एक सामाजिक प्रवृत्ति है। यह प्रवृत्ति सभी में पाई जाती है। बच्चों में इनका पूर्ण नियमन पाया जाता है। जब

बच्चों में भाषा-विकास हो जाता है तो वे अपने कार्यों द्वारा सन्तोष प्रकट करते हैं और चाहते हैं कि लोग उनके कार्यों को देखकर उनकी प्रशंसा करें। इससे उन्हें आह्लाद, उल्लास, प्रसन्नता की प्राप्ति होती है। अवस्था के विकास से बच्चे अपने खेलों द्वारा या पठन-पाठन आदि द्वारा आत्म-प्रदर्शन करते हैं। गाना गाकर, नृत्य दिखाकर, कूद-फाँद कर वे अपने सामाजिक व्यवहार प्रकट करते हैं। वास्तव में, जितने सौन्दर्य-बोधक कार्य हैं उनमे आत्म-प्रदर्शन का भाव छिपा रहता है। कविता, चित्रकारी, कलाकारी, समाज-सेवा आदि भावों का उदय इसमे पाया जाता है। प्रसिद्ध बनने की अभिकांक्षा, नए-नए वस्त्रों का प्रदर्शन, आदि के मूल मे आत्म-प्रदर्शन ही तो है। एडलर (Adler) ने अपने सिद्धान्त द्वारा प्रदर्शित किया है कि व्यक्ति में यह क्रिया बड़ी बलवती होती है। व्यक्तित्व तथा चरित्र के विकास मे आत्मप्रदर्शन का समुचित विवर्द्धन निहित हैं। आत्मप्रदर्शन के अनुचित विकास से मन-विकृति उत्पन्न होती है, प्रतिद्वन्द्विता बढ़ती है, ध्वंसात्मक क्रिया जगती है। कुछ लड़कों में यह प्रवृत्ति पायी जाती है कि वे अपने माता-पिताओं के ध्यान को आकृष्ट करने के लिए मूल्यवान् वस्तुओं को तोड़-फोड़ डालते हैं। माता-पिता तथा अभिभावक-अध्यापकों को बच्चों की क्रियाओं को प्रशंसित करना चाहिए। व्यर्थ का दमन अपेक्षित नहीं है। बच्चों के संतोष एवं आनन्द के लिए उन्हें उकसाना चाहिए जिससे वे अपने विकास के लिए अपनी इस वृत्ति का उचित प्रदर्शन कर सकें। बुरे व्यवहारों का प्रदर्शन हानिकारक है। अतः यहाँ अभिभावकों को विशेष सतर्क होना है। वातावरण का उचित स्वरूप बच्चों के आत्मप्रदर्शन में सहायक होता है। आत्म-प्रकाशन की प्रेरणा स्वाभाविक है।

विनीतता की प्रवृत्ति (Self-Submission)

.§. [१४] इस वृत्ति का समुचित विकास अपेक्षित है। बच्चे स्वभावतः वैयक्तिक (Egoistic) होते है, क्रमशः बुद्धि-विकास के साथ

उनमे दूसरों के प्रति विनीतता का भाव जगता है। यह भाव उनकी मानसिक तथा शारीरिक शक्ति की दुर्बलता का द्योतक अवश्य है किन्तु इसमें भावी उन्नति निहित है। शिक्षकों, माता-पिता और बड़े लोगों के प्रति श्रद्धा का उत्पन्न होना बहुत आवश्यक है, अन्यथा बच्चे कुछ सीखने में पूर्णतया समर्थ नहीं हो सकते। स्नेह, प्रेम, श्रद्धा मे विनीतता की प्रवृत्ति समाहित है। बच्चा अपनी माँ के समक्ष विनीत होगा। उसकी आज्ञाओं का पालन करेगा। यदि माँ से उसे उचित सहायता मिलेगी तो वह सदैव विनम्र होगा। यह प्रवृत्ति भी सामाजिक है। समाज में इसका उद्बोधन आवश्यक है। वे बच्चे जो विनम्र होते हैं, प्रशंसा के पात्र होते हैं और इससे उनका आत्मप्रदर्शन भी होता है। शिक्षकों के प्रति श्रद्धा उन्हें बहुत आगे ले जाएगी। किन्तु आरम्भ में ही यदि माता-पिता अथवा शिक्षक इसका समुचित विकास देखना चाहे तो यह बच्चों के प्रति अन्याय है। बच्चे प्रथमतः वैयक्तिक होते हैं, उनमें सामाजिकता का विकास उत्तरोत्तर होता है। दूसरे के प्रति आदर सम्मान क्रमशः जगता है। इसका आधिक्य कभी-कभी भयावह होता है जिसके फलस्वरूप बच्चों मे अत्यधिक आत्म-हीनता आ सकती है। बालकों को बुद्धू नहीं बनना है, और न दूसरों की भ्रामक उक्तियों को निर्विरोध मान ही लेना है। यदि श्रद्धास्पद लोग भ्रमपूर्ण आचरण करें और उनसे बच्चों के हृदय मे द्वन्द्व चले, तो यह हानिकारक है। तेजस्वी बालक तभी विनम्र होगा, अथवा साहसिक होगा जब उसमे आश्चर्य प्रकट करने वाली वस्तुओं के प्रति विनीतता का भाव समुचित रूप से जग जाय। व्यक्तित्व एवं चरित्र की मोहक क्रियाएँ विनीतता की प्रवृत्ति पर आधारित हैं। अतः विनीतता की प्रवृत्ति का सुचारु नियमन अपेक्षित है।

सामाजिकता की प्रवृत्ति (Social Instinct)

.१. [१५] मनुष्य सामाजिक प्राणी है। बच्चों का सम्वर्द्धन समाज में होता है। तदनुरूप समाज में ही उचित विकास होता है।

आरम्भिक अवस्था में भी बच्चा अकेला रहना नहीं पसन्द करता है, वह किसी-न-किसी का सानिध्य चाहता ही है। जब माता उसके पास आ जाती है तो वह हर्ष-विभोर हो जाता है। धीरे-धीरे बच्चा अपनी प्रिय वस्तुओं में ही आत्मीयता का बोध करता है। बुद्धि-विकास के साथ वह अपने समकक्ष के लोगों के साथ खेलता है। अपने आप में सन्तुष्ट रहने की प्रवृत्ति में भी, जिसे मनोवैज्ञानिक वैयक्तिकता का भाव कहते हैं, उसके खेल के सामान तथा पास में माता-पिता का सानिध्य तो रहता ही है। वास्तव में, सामाजिक प्रवृत्ति के पूर्ण विकास पर ही जीवन का विकास निर्भर है। बहुत से बच्चों में जो हिंसक पशुओं की मॉंद से छुड़ाए गए हैं, जीवन का समुचित विकास नहीं देखा गया है। उनमे तदनुरूप सामाजिकता के अभाव से हिंसक वृत्ति का उदय देखा गया है। "संसर्गजा दोषगुणाः भवन्ति" "तुख़्म तासीर सोहबते असर" आदि अभ्युक्तियों में सामाजिक प्रवृत्ति का उचित उन्नयन छिपा है। सामाजिक वृत्ति का विकास क्रमिक है। शिशुकाल वैयक्तिक होता है। बच्चा सम्पूर्ण वातावरण में अचिन्त्य रूप से बढ़ता है। भाषा-विकास के साथ वह दूसरों के साथ मे आता है। किशोरा-वस्था के पूर्व सामाजिकता का पूर्ण विकास हो जाता है, हॉं कुछ वातावरण की दुर्बलता के कारण, दोष रह जाते हैं। क्रमशः बच्चे झुण्ड (Group) के प्रेमी हो जाते हैं, झुण्ड के नेता (Leader) बनते हैं अथवा दूसरे नेताओं की अध्यक्षता में खेल-कूद करते हैं। बालकों की इस वृत्ति का उचित विकास अभिभावकों की सतर्कता पर आधारित है। ऐसा न हो कि बच्चा अपनी माता तथा अपने पिता की संगति का ही प्रेमी हो जाय और दूसरों से भय खाने लगे। ऐसा हो जाने से वह बच्चा सहसा समाज में आने पर कुछ न कर सकेगा। माता-पिता पर अवलम्बित बच्चे जीवन में विफल हुए हैं। बच्चों को समाज में रहना है, उसके नियम जानने हैं, पालने हैं। समाज में ही उनके सुख के साधन मिलेंगे। अतः बच्चों को समाज से दूर रखना हानिकारक है। हॉं, बुरे समाज से दूर रखना चाहिए; किन्तु इस

किया से दमन अपेक्षित नहीं है। दुर्गुणों को अभिसंधान-विधि के सिद्धान्त द्वारा दूर करना चाहिए। अच्छी संगति दुर्गुणों को अपने आप दूर कर देगी। सामूहिक जीवन से बच्चों को सांसारिक बातों का ज्ञान होगा। अतः बच्चों की शिक्षा-दीक्षा पाठशाला में होनी चाहिए, समाज में होनी चाहिए। बचपन के सामाजिक विकास पर हम एक पृथक् अध्याय में पढ़ेंगे। यहाँ इतने ही पर्याप्त हैं।

काम-प्रवृत्ति (Sex Instinct)

§ [१६] फ्रायड महोदय ने इस प्रवृत्ति को सब से अधिक महत्व दिया है। उनका 'लिबिडो' (Libido) बहुत व्यापक सिद्धान्त है। जब बच्चा किसी वस्तु को मुख में लेता है, अथवा माँ का स्तन पीता है, तो यहाँ भी फ्रायड महोदय के शब्दों में काम-प्रवृत्ति उपस्थित रहती है। हम भले ही इतनी दूर तक न जायँ, किन्तु यह सत्य है कि बच्चों की काम-प्रवृत्ति की चेष्टाएँ-उपचेष्टाएँ पायी जाती हैं। साधारणतया लोग समझते हैं कि काम-प्रवृत्ति किशोरावस्था में ही जाग्रत होती है, किन्तु यह भ्रामक विचार है। चित्त-विश्लेषण-वैज्ञानिकों के कथनानुसार स्नेह, प्रेम, श्रद्धा में काम-प्रवृत्ति का ही प्रस्फुटन है। उन्होंने काम-प्रवृत्ति की चार अवस्थाएँ निर्धारित की हैं। (१) शैशवावस्था में अपने आपको प्यार करना तथा लड़की का पिता को प्यार करना और लड़के का माँ को प्यार करना पाया जाता है। इस प्यार को विपरीत प्यार कहते हैं। बाल्यावस्था में बच्चों का प्यार सवर्गीय साथी की ओर जाता है (Homosex)। प्रौढ़ावस्था में फिर परिवर्तन होता है, लड़का लड़की को अथवा लड़की लड़के को प्यार करती है (Heterosex)। इस समय किसी एक को ही प्यार करने की प्रवृत्ति सुपुष्ट हो जाती है। किशोरावस्था में विपरीत तथा सहवर्गी दोनों प्रकार का प्रेम पाया जाता है। बचपन काम-प्रवृत्ति के विकास की भूमिका है। काम-प्रवृत्ति लिंग सम्बन्धी प्रेम ही नहीं है, जो ऐसा समझते हैं भूल करते हैं। काम-वासनाओं तक ही काम-प्रवृत्ति सीमित नहीं है।

किशोरावस्था में शरीर-सम्बन्धी काम-ग्रन्थियाँ फूटती हैं जिसके द्वारा शरीर-सम्बन्धी विशेष क्रियाएँ आरम्भ हो जाती हैं। बचपन में इस क्रिया का अभाव होता है। किन्तु दुर्वृत्ति से संचालित कुछ भोले बच्चों में भी ये क्रियाएँ आरम्भ होती पायी गयी हैं। ऐसी अवस्था में अभिभावकों को सतर्क होना परमावश्यक है। यहाँ दमन, विलियन की क्रियाओं से दूर हो मार्गान्तरीकरण करना बहुत आवश्यक है। कुसंगति से लड़कों को दूर कर अच्छे वातावरण में लाना चाहिए। पहले बताया जा चुका है कि बच्चों में उत्सुकता की वृत्ति होती है, दूसरों की चाह होती है। लड़के-लड़कियाँ अपनी शारीरिक विभिन्नता के प्रति उत्सुक होते हैं उनकी इस उत्सुकता को बहुधा माता-पिता बुरा मानते हैं, उन्हें डाँटते हैं और फलतः उनकी वृत्तियों का दमन होता है। महान् विचारक बरट्रेण्ड रसेल (Burtrand Russell) ने कहा है कि माता-पिता को कभी-कभी बच्चों के सामने नंगा रहना चाहिए और उनकी भोली उत्सुकता को परिष्कार के साथ प्रसन्न कर देना चाहिए। अमेरिका में चल-चित्रों द्वारा बच्चों को काम-प्रवृत्ति-सम्बन्धी शिक्षा दी जाने लगी है और आशा की जाती है कि इससे बच्चों में विकास-क्रम ठीक से होगा। १२ वर्ष के बच्चों को सदैव कामों में लगाए रहना चाहिए। या तो वे खेलाते रहें या काम कराते रहे। ११, १२ वर्ष के बच्चों का मन किसी-न-किसी प्रबल प्रवृत्तियों के वशीभूत होना चाहिए। काम-प्रवृत्ति की घृणित बातों से दूर रहने पर उनकी इस वृत्ति का समय के अनुसार अच्छा विकास हो सकेगा। वास्तव में, यह बड़ी प्रबल वृत्ति है जो कई प्रकार की प्रेरणाओं (Motives) का विकास करती है। कुसंगति से हस्तमैथुन की क्रियाएँ कालान्तर में जीवन-व्यामोह उत्पन्न करती हैं। अतः माता-पिता अभिभावकों तथा शिक्षकों को चाहिए कि वे बच्चों की काम-वृत्ति-उत्सुकता को उचित रूप से प्रसन्न करें और व्यर्थ में उन्हे भर्त्सना न दें।

सामान्य जन्मजात वृत्तियाँ (General Innate Tendencies)

§. [१७] जैसा कि हम पहले कह चुके हैं मूलप्रवृत्तियों के

अतिरिक्त, कुछ और प्रवृत्तियाँ भी होती हैं जिनके साथ किसी विशिष्ट संवेग का सम्बन्ध नहीं रहता। हमने देखा है कि चौदह मूलप्रवृत्तियों में क्रमशः एक संवेग होता है; किन्तु इन जन्मजात प्रवृत्तियों में कई संवेगों का गुम्फन पाया जाता है। ये प्रवृत्तियाँ दो प्रकार की होती हैं: अनुकृति (Imitation) तथा खेल। इस अध्याय में केवल अनुकृति का ही वर्णन होगा। खेलों का वर्णन दूसरे अध्याय में किया जायगा। मानसिक गतियाँ तीन प्रकार की होती हैं: विचारात्मक, भावात्मक तथा क्रियात्मक (Cognitive, Affective and Conative)। अनुकृति का इन तीनों से अविकल सम्बन्ध होता है और तदनुरूप ही अनुकृति के तीन विभेद होते हैं: (१) विचारों की अनुकृति को निर्देश (Suggestion) कहा जाता है। (२) भावों की अनुकृति को सहानुभूति (Sympathy) कहते हैं। (३) क्रिया-सम्बन्धी अनुकरण को अनुकृति (Imitation) ही कहा जाता है।

अनुकृति (Imitation)

§. [१८] अनुकृति वह विशिष्ट प्रवृत्ति है जिसकी अभिव्यक्ति एक बच्चे द्वारा किसी अन्य व्यक्ति के कार्यों के अनुसार चलने में होती है। इसकी कुछ दशाएँ पशु-पक्षी मे भी सामान्यतः पायी जाती हैं। 'भेड़िया धसान' उक्ति प्रसिद्ध है, एक भेड़ के अग्रसर होने पर सभी उधर ही चल पड़ती हैं। कहा जाता है कि यदि एक भेड़ गड्ढे में गिर जाय तो अन्य भेड़ें भी वैसा ही कर बैठती हैं। एक गीदड़ की चित्कार सुन कर अन्य गीदड़ बोल उठते हैं। झुरमुट में एक पक्षी के बोल से अन्य सहवर्गी पक्षी बोलने लगते हैं। पशु-पक्षियों की क्रियात्मक गतियाँ बहुत अंश में अनुकृति पर निर्भर करती हैं। किन्तु मानव के बच्चों में अनुकृति का महत्त्व अधिक है। बाल-विकास अनुकृति पर भी निर्भर करता है। बच्चों का चलना, उठना-बैठना, कपड़े पहनना तथा अन्य शारीरिक व्यवहार अनुकृति की प्रबलता पर अवलम्बित हैं। बच्चों के बहुत-से खेल अनुकरणात्मक होते हैं।

लड़के-लड़कियाँ बड़ों की अनुकृति करते हैं। लड़कियाँ अपनी माँ के समान खाना बनाती हैं। चौका-बेलना रखना, जाँते में धूल पीसना, मिट्टी की रोटी बनाना आदि माँ का अनुकरण है। मेला आदि में देखे गये चित्रों अथवा खेलों की अनुकृति लड़के अधिकतर करते हैं। 'चेहरों' को मुँह पर लगाकर लड़के राम-लीला करते हैं। बहुत-से लड़के अपने पिता या दादा के समान ही कपड़े पहनते हैं। अनुकृति दो प्रकार से व्यञ्जित होती है। (१) एक की व्यंजना सहज होती है, और (२) दूसरी की विचारपूर्ण। पहले प्रकार में जो अनुकरण होता है वह नैसर्गिक तथा सहज होता है। खेल आदि में यह पूर्णरूपेण लक्षित होता है। यह सहज अनुकृति संस्कारवश क्रियात्मक हो जाती है जो बच्चों के आनन्द का विषय हो जाती है। बहुधा घर के चलते काम-धंधों में बच्चों की अभिरुचि हठात् अपने-आप हो जाती है। बड़ी अवस्था में विचारपूर्ण अनुकृति झलकने लगती है। ऐसी स्थिति में पहले अनुकरणीय क्रिया का विचार होता है और तत्पश्चात् उसी के अनुरूप कार्य-पद्धति होती है। किसी व्यक्ति के आचरणों की भूमिका में जो अनुकरणात्मक व्यवहार होता है वह विचारपूर्ण अनुकृति का द्योतक है। प्रार्थना-काल में महात्मा गान्धी के व्यवहारों का अनुकरण करते हुए कुछ बच्चे देखे गए हैं। किन्तु विचारपूर्ण अनुकृति मन के विकास पर अवलम्बित है। सामाजिक व्यवहारों के मूल में अनुकृति है। दो-एक विशिष्ट व्यक्ति अपनी प्रतिभा से कुछ कर जाते हैं, सारा समाज तदनुरूप चलता रहता है। गांधी टोपी, जवाहर जैकट के प्रचलन में अनुकृति ही है। समाज में सभी प्रकार के व्यक्ति पाए जाते हैं; कुछ अनुकरणीय होते हैं और कुछ अनु-करणशील। अनुकृति करना बुरी बात नहीं, क्योंकि यह तो स्वाभाविक है। इतना ही नहीं, किसी देश की संस्कृति समाज-अनुकृति पर ही निर्भर करती है। कहा जाता है कि अनुकृति और आविष्कार मनुष्य-समाज की गति के लिए दो पैरों के समान हैं। बिना नवीन अनुसंधान के अनुकृति निष्क्रिय है, जड़ है और इसी से बहुत

पुरानी रूढ़ियाँ समाज को परिवर्तित विश्व में नहीं आने देतीं और उसे खोखला बना देती हैं। वास्तव में, उत्कर्ष तथा विकास अनुकृति तथा आविष्कार द्वारा होते हैं।

बच्चे अपने श्रद्धालुओं और स्नेहालुओं की अनुकृति करते हैं। उनकी भाषा का विकास, उच्चारण, लिखावट आदि क्रियाएँ अनुकृति पर निर्भर करती हैं। आप किसी पाठशाला की एक कक्षा मे सब लड़कों की लिखावट मे समानता पाएँगे, क्योंकि सभी ने एक विशेष अध्यापक के अक्षरों का अनुकरण किया है। विभिन्न सामाजिक व्यवहारों में अनुकृतियों का ही रंग है। बच्चे के आचरण चाहे बुरे हों अथवा अच्छे, सब संगति के फलस्वरूप हैं। शिक्षकों को बच्चों की प्रबल अनुकृति का सहारा लेकर नयी-नयी बातें सिखानी चाहिए। बच्चे उन्हीं आदर्शों का अनुकरण करने पावें जो समाज-सेवित हों, अनुकरणीय तथा लाभकर हों। बच्चों का वातावरण स्वच्छ होना चाहिए। वातावरण की छाप बच्चों पर हठात् पड़ जाती है। कहा जाता है, एक मनुष्य की पहचान उसकी संगति से होती है। अतः वातावरण का ठीक होना उचित विकास का लक्षण है।

अनुकरण दो रूप से प्रवाहित होता है। एक रूप उस नियम में है जहाँ अनुकरण-क्रिया अन्तः से वाह्य होती है। इस नियम के अनुसार प्रथमतः विचारों में परिवर्त्तन होता है और तब कार्य होते हैं। सेवा-समिति के विकास के मूल में यही नियम लागू होता है। कुछ विशिष्ट लोगों के मन में इस समिति के विषय मे विचारों की उद्भूति हुई, तदुपरान्त विचार-विस्तार से और अनुकरणात्मक रूप से इस समिति को अन्य लोगों ने भी अपनाया। दूसरा नियम अनुकरण की गति-तीव्रता है। इस नियम के अनुसार अनुकृति बड़ी द्रुत गति से बढ़ती है। भारतवर्ष में महात्मा गान्धी के व्यक्तित्व से प्रभावित हो सहस्रों ने कांग्रेस में भाग लिया और त्याग, बलिदान के सहारे देश को स्वतन्त्र कर दिया। "देखा देखी पाप, देखा देखी पुण्य" एक पुरानी कहावत है। पाठशाला में सद्गुणी, आदर्शवान् और प्रतिभावान्

शिक्षकों का होना अपेक्षित है जिससे स्वाभाविक अनुकृति में बच्चों का जीवन बढ़ता जायगा और उन्हें सुन्दर व्यक्तित्व बनाने में किसी प्रकार की कठिनाई न होगी। स्नेह, प्रेम, श्रद्धा के सहारे बच्चों से सभी कुछ कराया जा सकता है।

स्पर्द्धा (Envy, Emulation) के मूल में भी अनुकृति पायी जाती है। हमने संवेगों की चर्चा करते हुए देखा है कि बच्चे किस प्रकार ईर्ष्यालु हो जाते हैं। किन्तु स्पर्द्धा बुरा आचरण नहीं है। स्पर्द्धा में दो प्रवृत्तियाँ पायी जाती हैं: अनुकृति और द्वन्द्व-प्रकृति। जब द्वन्द्व-प्रकृति का आधिक्य होता है तो उसे ईर्ष्या कहते हैं। बच्चों में स्पर्द्धा उत्पन्न करानी चाहिए। इसके लिए प्रतिद्वन्द्विता का उचित रूप ग्रहण करना ही श्रेयस्कर है। आत्मस्पर्द्धा (Self-emulation) अधिक श्रेयस्कर है। बच्चा स्वयं अपने अतीत कार्यों की तुलना वर्तमान कार्यों से करे और प्रतिदिन इस चेष्टा में रहे कि वह आगे बढ़ता जाय तो इसे आत्मस्पर्द्धा कहते हैं। आत्मस्पर्द्धा करने वाले ईर्ष्यालु नहीं होते। सामूहिक स्पर्द्धा (Group Emulation) दो दलों में लक्षित होती है, जो कबड्डी, हाकी आदि खेलों में प्रदर्शित की जाती है। इस स्पर्द्धा मे भी त्याग का महत्व है। एक बच्चा अपने दल की उन्नति के लिए सब कुछ लगा देता है। कभी-कभी कुछ लड़के अपने धन से अपने दल की सेवा करते हैं। स्काउटों में सामूहिक स्पर्द्धा का बहुत महत्व है। बच्चों के शिक्षा-विकास में स्पर्द्धा का प्रभूत महत्व है।

निर्देश (Suggestion)

§. [१६] विचार-सम्बन्धी अनुकृति निर्देश है। इसमें एक व्यक्ति दूसरे के विचारों से निर्देशित होता है। किन्तु यह क्रिया स्वभावतः होती है। जब व्यक्ति को इसका पता चल जाता है कि वह अमुक व्यक्ति के अमुक रूप का अनुकरण कर रहा है अथवा उससे निर्देशित हो रहा है तो निर्देश की स्थिति समाप्त हो जाती है। इन्द्र-जाल तथा सम्मोहन की क्रियाओं में निर्देश भली भाँति देखा जाता

है। किन्तु इस प्रकार का निर्देश मन की असाधारण स्थिति में ही होता है। अवस्था-क्रम से निर्देश का प्रभाव देखा जाता है। छोटे बच्चे बड़े बच्चों से निर्देशित होते हैं, दुर्बल लड़के सबल से निर्देशित होते हैं, और बुद्धिहीन लड़के बुद्धि वाले लड़कों से। यह बहुत कुछ इच्छा-शक्ति तथा बुद्धि-शक्ति पर निर्भर है। बच्चों पर निर्देश का प्रभाव उनकी बड़ी अवस्था में कम पड़ता है। प्रौढ़ लोग निर्देशित होते अवश्य हैं किन्तु सब स्थान पर, सब प्रकार के मनुष्य से नहीं। निर्देश तीन प्रकार का कहा गया है: व्यक्ति-निर्देश, समूह-निर्देश तथा आत्मनिर्देश (Prestige Suggestion, Mass Suggestion and Auto-suggestion): अपने विचारों से स्वयं प्रभावित होना आत्मनिर्देश है। भय-संवेग में यह अधिकतर पाया जाता है। किसी वस्तु से अकारण डर जाने पर बच्चा बार-बार डरने लग जाता है। जब बच्चे आत्म-निर्देशित होने लगते हैं तभी उनपर किसी और का निर्देश होने लगता है। जब बच्चे शारीरिक अस्वस्थता से ग्रस्त रहते हैं अथवा उनकी मानस ग्रन्थियाँ उलझी हुई रहती हैं, जिनके मूल में दमन-चक्र रहता है, तब उनके मन स्वयं प्रताड़ित होते रहते हैं। इससे बचने के लिए बच्चों का वातावरण बहुत सुन्दर और निर्दोष होना चाहिए। व्यक्ति-निर्देश उसे कहते हैं जब बच्चा किसी व्यक्ति के गुणों अथवा आचरणों से प्रभावित हो जाय और वैसा ही व्यवहार करने लगे। बहुधा निर्देश देने वाले की प्रशंसा, प्रतिष्ठा पर यह निर्देश निर्भर करता है। श्रद्धावान् व्यक्ति बहुधा निर्देशित करते रहते हैं। जब किसी दुराचारी अध्यापक के प्रतिकूल बच्चे चलते हैं, उनकी आज्ञा का विरोध करते हैं, तो इसे प्रति-निर्देश (Contra suggestion) कहते हैं। यह बुरी बात है, यह बच्चों तथा अध्यापक दोनों के लिए हानिकारक है। संस्था में, जमात में, कक्षा में, निर्देशित होना समूह-निर्देश है। अच्छे-अच्छे गुणों को सिखाना, नियमितता का आदेश आदि कक्षा में ही सम्भव होते हैं। बच्चे पाठशाला में एक दूसरे को देखकर सम्पूर्ण कक्षा के व्यवहार से

प्रभावित होते हैं। देश-भक्ति, दरिद्र-सेवा आदि का उद्‌गार सामूहिक निर्देश से बहुत सम्भव है। शिक्षक बहुधा समूह-निर्देश से लाभ उठा बच्चों मे सद्‌गुणों का प्रसार करते है और कक्षा में अनुशासन स्थापित करते है।

सहानुभूति (Sympathy)

§. [२०] अनुकृति का तीसरा प्रकार सहानुभूति है जो भाव-सम्बन्धी क्रिया है। जहाँ दूसरों के विचारों की अनुकृति निर्देश कहलाती है; सहानुभूति भावों की अनुकृति कही जाती है। यह बड़ी शीघ्र प्रसारित हो जाने वाली वृत्ति है। सामान्यतः एक वर्ग की चित्कारें दूसरों पर प्रभाव डाल देती हैं। हम बहुधा देखते हैं कि एक पक्षी का पीड़ा-क्रन्दन दूसरे पक्षियों मे उद्वेजन भर देता है। जब एक भालू अरण्य-रोदन करने लगता है तो अचानक चारों ओर से करुण-राग प्रवाहित हो गूँजने लगता है जिसे सुन मानव-हृदय भी फटने लगता है। एक बार एक शिकारी ने मुझसे बताया कि उसने एक बार भ्रम-वश एक भालू पर गोली दाग दी, जिसके फलस्वरूप उसके करुण-क्रन्दन से आसपास के सभी भालू एकत्र हो रोने लगे। उन्होंने बताया कि उस दिन से उन्होंने शिकार खेलना बन्द कर दिया। आपने देखा होगा कि जब एक कुत्ता 'ओं-ओं' करके रोने लगता है तो अन्य कुत्ते भी रोकर सहानुभूति दिखाते हैं। वास्तव मे, सहानुभूति का सामाजिक बड़ा महत्व है। एक संवेग से उद्वेलित व्यक्ति औरों के संवेगों से सहानुभूति पाता है। इस गुण से बच्चों में सामाजिक सद्‌व्यवहारों को उत्पन्न किया जा सकता है। अच्छे वातावरणों में दुर्गुणी बच्चे सहज सहानुभूति से ठीक हो जाते हैं। नैतिकता के मूल मे सहानुभूति का प्रमुख हाथ है। दूसरों के दुख से प्रभावित होना उनकी सहायता करना है। देश-सेवा और समाज-सेवा के मूल में सहानुभूति ही है। बच्चों में इसका परिष्कार बहुत आवश्यक है। किन्तु बच्चों को दुष्ट लोगों पर सहानुभूति करने से बचना चाहिए, क्योंकि ऐसा करने मे वे स्वयं निर्देशित हो सकते हैं और वातावरण

के परिवर्तन से वे भी परमुखापेक्षी हो जायेंगे। सहानुभूति का भाव बल होना चाहिए न कि दुर्बलता। सहानुभूति के प्रबल आघातो से बच्चों को सहानुभूतिमय बनाने में सतर्कता भी अपेक्षित है।

स्थायीभाव (Sentiments)

§. [२१] मानव-मन विकास की वास्तविक गति में अपनी विविध गतियों तथा अपने नाना भाव-तत्वो को अपनी वस्तुस्थिति, विचारों द्वारा संगठित करता है। इस प्रकार के विकास-संगठन द्वारा स्थायीभावों की उद्भूति होती है। वास्तव में, इन्हीं स्थायीभावों में जीवन की रागात्मिका वृत्तियाँ खिलती हैं और व्यक्तित्व और चरित्र का विकास होता है। बच्चों में मूलप्रवृत्तियों के परिष्कार तथा संगठन से विविध प्रकार के स्थायीभाव जगते हैं। किन्तु बच्चों के स्थायीभाव प्रत्यक्ष भूमिपर स्थिर होते हैं। बिना स्थायीभावों के जीवन की नियामक शक्तियाँ प्रस्फुटित नहीं होतीं, और न बाल-मनोविकास वास्तविक रूप पकड़ पाता। अवस्था, वातावरण, विवृद्धि तथा सीखने से बच्चों का मन नाना प्रकार के स्थायीभावों से बँधता जाता है। यही विकास क्रमशः आत्मनिरीक्षण की ओर ले जाता बच्चों को एक सामाजिक रूप देता है। स्थायीभावों का वास्तविक विकास प्रौढ़ावस्था में ही सम्भव है, किन्तु उनकी सारी भूमिका बचपन में ही निर्मित हो जाती है। इन स्थायीभावों में परिष्कार होते-होते एक समय ऐसा आता है कि व्यक्ति किसी एक स्थायीभाव के वश में होकर अन्य भावों का निग्रह कर लेता है, तब उस एक स्थायीभाव को स्वामी स्थायीभाव अथवा सार्वभौम स्थायीभाव (Sovereign or Master Sentiment) कहा जाता है। पश्चिम के देशों में यह सार्वभौम स्थायीभाव आत्मप्रशंसा (Self-regard) तक ही सीमित है। भारतीय मनोविज्ञान की परम्परा में दर्शन की भूमि इतनी गम्भीर तथा विस्तृत है कि यहाँ अन्तिम स्थायीभाव ब्रह्मानन्द कहा गया है। अपने को ही सब कुछ मानने से अहंकार की उत्पत्ति होती है। पाश्चात्य देशों

में जो युद्ध के बादल उमड़ा-घुमड़ा करते हैं उनके मूल मे उनकी स्वार्थ-वृत्ति है जो आत्मप्रशंसा अथवा भौतिक उन्नति तक ही सीमित है। किन्तु भारतीय परम्परा मे रसपद्धति से शान्तिरस को सर्वश्रेष्ठ कहा गया है, जहाँ पहुँचने पर मोह, माया, मत्सर आदि विकार छूट जाते हैं और परमानन्द की सृष्टि हो जाती है। भारत का यही सन्देश है जो वर्तमान काल मे महात्मा गान्धी के सम्पूर्ण जीवन से प्रस्फुटित होकर राष्ट्र-जीवन मे भर गया है। अतः महात्मा गान्धी के जीवन-दर्शन तथा भारतीय-दर्शन की भूमिका मे ही मूल प्रवृत्तियो का मूल्याकन होना चाहिए, और स्थायीभावों को बॅधना चाहिए। हम दो-एक उदाहरण से स्थायीभावों के निर्माण का तथ्य उपस्थित करते हैं। विद्वेष की भूमिका मे कई मूलप्रवृत्तियाँ और उनके संवेग हैं। लड़ना, भय तथा घृणा तीनों का समाहार विद्वेष (Hatred) है।

स्थायीभावों का निर्माण

जिस व्यक्ति के मन में किसी के प्रति वैर है वह उस पर क्रोध प्रकट करेगा, यही प्रथम तत्व है। उस व्यक्ति को देख कर घृणा उत्पन्न होगी, यह दूसरा तत्व है। भय की स्थिति तो रहेगी ही क्योंकि वह अपने वैरी से डरा करेगा। इस प्रकार विद्वेष, तीन संवेगों का समाहार है (विद्वेष—क्रोध+भय+घृणा)। इसी प्रकार भक्ति (Admiration) एक दूसरा स्थायीभाव है जो आश्चर्य, विनीतभाव के सवेगों से मिल कर बना है। हम किसी की भक्ति उसकी विद्वत्ता और किसी विशेष गुण से प्रभावित होकर करते हैं। जो हमें चकित करता है, आश्चर्य मे डालता है उसके प्रति हमारा मोह जागता है। इसके उपरान्त उसके प्रति हम अपनी श्रद्धा प्रकट करते हैं। जब आश्चर्य तथा विनीतभाव में भय का मिश्रण हो जाता है तो वह **भक्ति-मिश्रित-भय** (Awe) कहा जाता है। इस भाव को हम किसी प्रकाण्ड विद्वान् के व्यक्तित्व की व्याख्या से जान सकते हैं। वह व्यक्ति विद्वान् है, हमे अपने गम्भीर ज्ञान से चकित कर देता है, हम विनम्र हो जाते हैं। साथ-ही-साथ वह भय उत्पन्न करता है, हम इस व्यक्ति का अपभल नहीं कर सकते। किसी

विशालकाय व्यक्ति को देख कर हम भय-मिश्रित विनम्रता के वशीभूत हो जाते हैं। कृतज्ञता (Gratitude) मे कोमल भाव या स्नेहातुरता तथा भक्ति-सूचक प्रशंसा पायी जाती है। यदि कृतज्ञता अथवा धन्यवाद मे भक्ति-मिश्रित भय (= आश्चर्य + विनीत भाव + भय) जोड दें तो वह श्रद्धा (Reverence) का स्थायीभाव बन जाता है। इस प्रकार श्रद्धा = भक्ति + भक्ति-मिश्रित भय + कृतज्ञता = आश्चर्य + विनीत भाव + भय + स्नेहातुरता। बच्चो में ये स्थायीभाव बनते हैं; किन्तु अभी वे बहुधा प्रत्यक्षज्ञान पर ही आधारित होते हैं। अतः उनके स्थायीभाव प्रत्यक्ष (Concrete) होते हैं। आज्ञाकारिता, उदारता, आत्मप्रियता, मित्रता आदि स्थायीभाव बच्चों में बड़ी कठिनता से उत्पन्न हो सकते हैं, किन्तु माता-पिता के प्रति श्रद्धा, मित्रो के प्रति स्नेह-दान, बच्चों के प्रति उदारता आदि भाव उनमे बड़ी सरलता से उत्पन्न हो जाते हैं। इनकी व्याख्या हम ने संवेगों की चर्चा करते हुए कर भी दी है। यहाँ इतना ही कहना अपेक्षित है कि बच्चों का वास्तविक विकास क्रमशः स्थायीभावों के परिष्कार तथा परिवर्द्धन में है। शिक्षा-दीक्षा, वातावरण आदि द्वारा हम इन स्थायीभावों को उचित विकास दे सकते हैं। जब बच्चों के विविध संवेग किसी व्यक्ति, वस्तु या भावना के चतुर्दिक समन्वित हो जाते हैं तभी उनमें स्थायीभाव बनते हैं। बच्चों के इन स्थायीभावों को यदाकदा जगा कर उनसे सद्कार्य कराये जा सकते हैं तथा पाठशाला में अनुशासन स्थापित किया जा सकता है।

प्रेरणात्मक विकास

§. [२२] इस अध्याय में जो कुछ कहा गया है उससे स्पष्ट है कि बचपन-विकास के मूल में मूलप्रवृत्तियाँ तथा सामान्य जन्मजात प्रवृत्तियाँ हैं, जिनका विकास क्रमशः स्थायीभावों में होता है। वास्तव में, बच्चा जो कुछ भी सीखता है, उसके मूल में इन्हीं प्रवृत्तियों की प्रेरणा (Motivation) है। जिस बच्चे में जो प्रवृत्ति प्रबल होगी, वातावरण के अनुसार उसका वैसा ही विकास होगा। वशानुक्रम

अथवा परम्परानुगत गुणों से प्राप्त प्रवृत्तियाँ समुचित वातावरण में अथवा किसी देश की संस्कृति की भूमिका में अपना विभिन्न रूप धारण करेंगी और उन्हीं के अनुसार बच्चा क्रियाशील होगा। **बच्चों की सारी प्रेरणाएँ, ये मूलप्रवृत्तियाँ ही हैं।** शिक्षक, माता-पिता अथवा अभिभावकों को इसी के अनुसार बच्चों को शिक्षित-दीक्षित करना चाहिए। विवृद्धि तथा सीखने के मूल में जो स्वाभाविक नियम हैं वे इन्हीं प्रवृत्तियों के बल से आगे बढ़ते हैं। बच्चों के सभी प्रकार के विकास-क्रम में संवेदनों, भावों-अनुभावों, संवेगों का प्रमुख हाथ है। संवेग प्रेरणात्मक होते हैं, उन्हीं पर वातावरण की क्रियात्मक शक्तियाँ आधारित हैं जिनसे विकास होता जाता है। अतः बच्चों की शिक्षा के लिए उनके संवेगों से ही उन्हें प्रेरित करना श्रेयस्कर है। इससे वे स्वभावतः बढ़ते जायेंगे। हाँ, संवेगों की परिचर्या और उनका परिष्कार आवश्यक है जो वातावरण, उचित पद्धति तथा संगति पर निर्भर करता है। गत अध्यायों में जो बातें कही गई हैं उनकी भूमिका में इस अध्याय की परिचालना एक सन्देश देती है कि हम स्वाभाविक नियम में बच्चों का परिवर्द्धन, परिष्कार तथा विकास पाते हैं। अब हम आगे के अध्यायों में बच्चों की बुद्धि, सामाजिक व्यक्तित्व, चरित्र, खेल, आदि विकासों का अध्ययन करेंगे और देखेंगे कि बचपन-विकास में मनोवैज्ञानिक तत्व किस प्रकार क्रमशः विकसित एवं उन्मुख होते जाते हैं। बचपन तो एक क्रमिक विकास है अतः इसकी उन्मुखता मे वे सभी तत्व कार्यशील होते हैं जिनका परिशीलन हमने अबतक किया है।



दसवाँ अध्याय

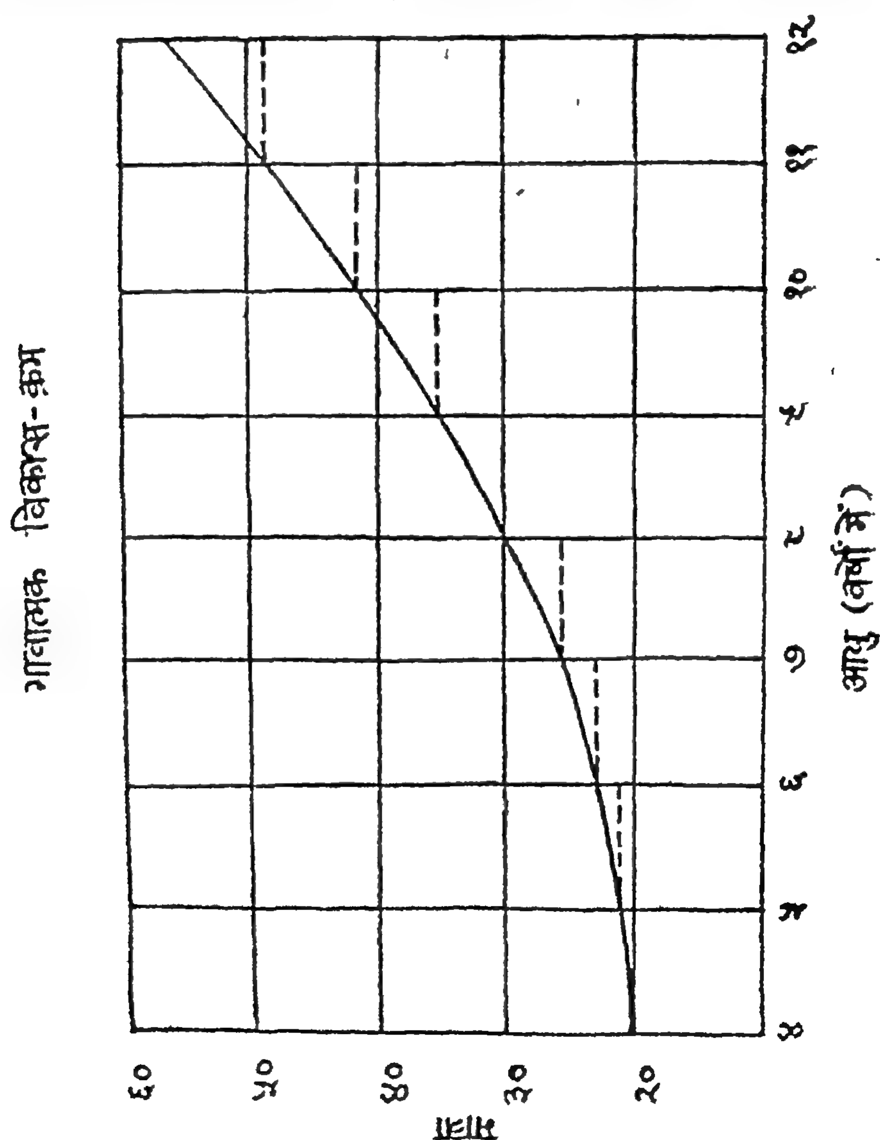
बचपन में मानसिक विकास (Mental Development)

§. [१] बचपन-विकास के अध्ययन में अब तक जितना काम बच्चों की मानसिक तथा बुद्धि-सम्बन्धी क्रियाओं और विकास पर हुआ है उतना बचपन-सम्बन्धी अन्य समस्याओं पर नहीं हुआ है। मानसिक क्रियाओं की समस्याएँ वृहत् हैं। बच्चों के मानसिक विकास के प्रथम लक्षण कब लक्षित होते हैं? उनकी स्मृति के सम्बन्ध के लक्षण कब निरीक्षित हो सकते हैं? धारणा-योग्यता का विकास किस प्रकार होता है? अपने वातावरण-सम्बन्धी घटनाओं, वस्तुओं और व्यक्तियों पर बच्चों का ध्यान कब आकृष्ट होता है? क्या किशोरावस्था के पूर्व बच्चे विवेकशील हो सकते हैं? यदि बच्चे विवेकशील हो सकते हैं तो उनकी इस अवस्था के विवेक तथा किशोरावस्था के विवेक में क्या अन्तर है? क्या बच्चों के मानसिक गुणों मे कोई विशेष विकास-क्रम पाया जाता है? इन विशेषताओं के आरम्भिक अथवा उत्तर-कालीन विकास में क्या सम्बन्ध है? इन व्यापक प्रश्नों का उत्तर इस अध्याय में दिया जायगा। किन्तु ऐसा करने के पूर्व बच्चों के विकास-सम्बन्धी कुछ रेखा-आलेखनों (Curves) का अध्ययन अपेक्षित है।

मानसिक विकास के रेखालेखन (Growth Curves)

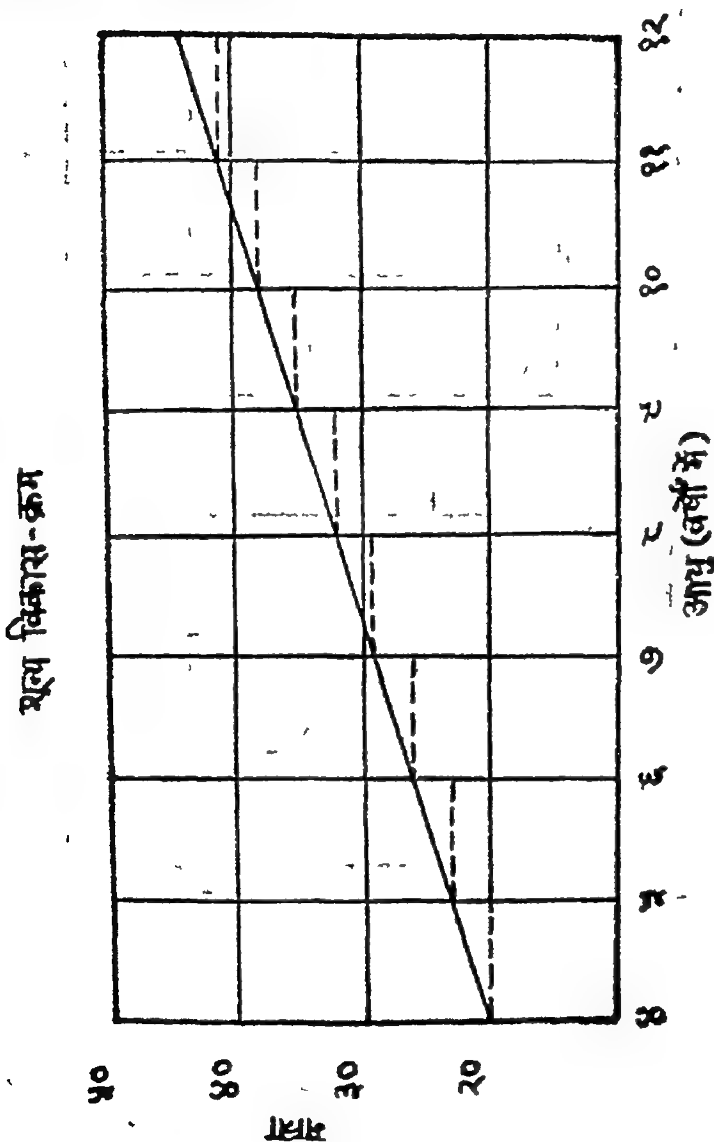
§. [२] रेखा-आलेखनों के सैद्धान्तिक स्वरूप को ही हम यहाँ दे सकते हैं। इन रेखाओं के अध्ययन से आगे का विवरण स्पष्ट होता जायगा। तीन सैद्धान्तिक रेखाएँ द्योतित की जाती हैं जिनकी भूमिका में विशेष मानसिक क्रियाओं का विकास-क्रम देखा जाता है। इस विषय में दो बातें जान लेना अति आवश्यक है। (१) किसी मानसिक क्रिया की योग्यता, जो विभिन्न अवस्थाओं में देखी जाती

है, और (२) उसके विकास-क्रम की मात्रा। किसी विशेष बच्चे की किसी कार्य को करने की समर्थता वर्ष-प्रति-वर्ष बढ़ सकती है, और इस क्रम में उसकी समर्थता किसी विशेष अवस्था मे गत वर्षों से अधिक पायी जा सकती है। किन्तु इस समर्थता के अतिरिक्त हमें इसके विकास के क्रम को भी जानना चाहिए। इस विकास-क्रम की तीन अवस्थाएँ होती हैं: (१) विकास-क्रम की मात्रा या तो क्रमशः



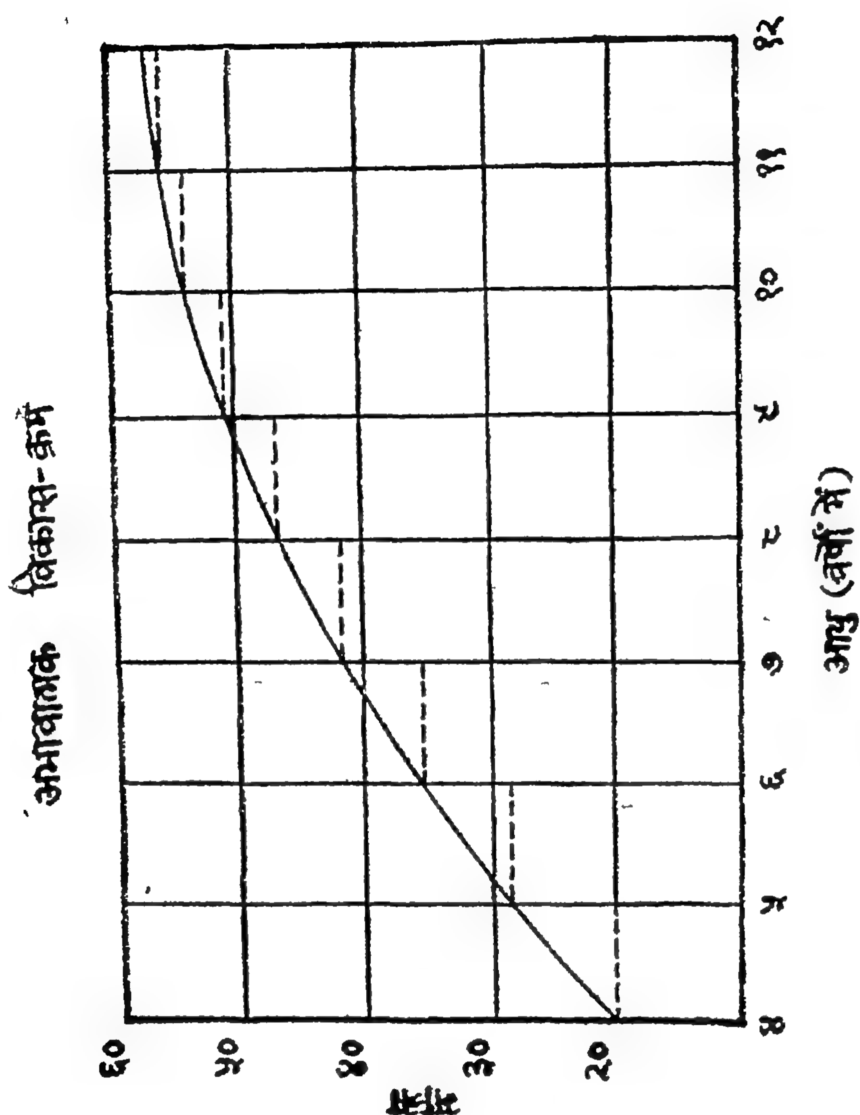
चित्र—१२

बढ़ती ही जायगी, (२) या अपरिवर्तित रहेगी, या (३) घटती जायगी। इन बातों को हम रेखा-आलेखन से देख सकते हैं।



चित्र—१३

यहाँ पर इन रेखा-आलेखनों के विशेष रूप को समझाने की आवश्यकता नहीं है केवल इतना ही जान लेना पर्याप्त होगा कि पहली स्थिति में विकास-क्रम आरम्भ में अधिक तीव्र होता है और इसे



चित्र—१४

भावात्मक वृद्धि-गति (Positive Acceleration) कहते हैं, दूसरी स्थिति में विकास-क्रम समान रूप से होता है जिसे शून्य वृद्धि-गति (Zero Acceleration) कहते हैं, तीसरी स्थिति में भी विकास-क्रम पाया जाता है किन्तु अन्तिम भाग में क्रम-मात्रा कम होती जाती है और इसे अभावात्मक वृद्धि-गति (Negative Acceleration) कहते हैं। इस विषय मे एक बात विचारणीय है। बहुत से अनु-

संधानों से प्रकट हुआ है कि रेखा-आलेखनों मे कभी-कभी विभिन्नता पायी गयी है, विशेषतया सामान्य बुद्धि के विकास में। इस विषय में अभी बहुत कुछ प्रयोग होते जा रहे हैं।

प्रथम वर्ष में मानसिक विकास

§. [३] बहुधा शिशु-काल की साधारण इन्द्रियजन्य तथा क्रियावाही समर्थताओं में लोग मानसिक विकास देखने का उद्योग करते हैं। सर को दाएँ अथवा बाएँ ले जाना, पट पड़ी हुई अवस्था में छाती को ऊपर उठाना आदि क्रियाएँ क्या मानसिक विकास की द्योतक हैं? ये क्रियाएँ शिशु के ध्यान (Attention) की सूचक हैं। जब शिशु मे किसी वस्तु के पास पहुँच जाने तथा उसे पकड़ लेने की योग्यता आ जाती है, जब वह किसी वस्तु को देखने के लिए दृष्टि फेंकता है अथवा, सर घुमा लेता है, या किसी व्यक्ति को पहचानने के लक्षण प्रकट करता है तो हम विश्वास करते हैं कि उसमे मानसिक जागरण प्रारम्भ हो गया है। **बच्चा अपने प्रथम वर्ष में जो विशेष विकास दिखाता है उसे देख कर कुछ मनोवैज्ञानिक अपने अनुसंधानों के आधार पर यह कहते हैं कि वैसा विकास-क्रम फिर आगामी वर्षों में नहीं दीखता।**

इन्द्रिय तथा प्रत्यक्षज्ञान-सम्बन्धी समर्थताएँ
(Sensory and Perceptual Capacities)

§. [४] साधारण निरीक्षण के प्रमाणों से यह सिद्ध हुआ है कि शिशु बहुत-सी सूक्ष्म बातें भी जानते हैं। ये स्वरों तथा दृष्टि-स्वरूपों को २ वर्ष की अवस्था में पहचान लेते हैं। यदि उन्हे कोई चित्र दिखाया जाय और उसमे भी कुछ बातें पूछी जायँ, जैसे "घर को दिखाओ" "जूते को बताओ" अथवा "कुत्ता कहाँ है" तो वे बता देते हैं। "ऊपर" "में" "पीछे" "आगे" "नीचे" आदि स्थान-सूचक बातें २ या ३ वर्ष के बच्चे बता सकते हैं। बातों के अन्तर को बताने में वे समर्थ होते हैं। इन बातों में उनकी क्रियावाही, भाषा-

सम्बन्धी, सामाजिक तथा वातावरण-सम्बन्धी क्रियाएँ सहायक होती हैं। २,३,४ वर्षों के बच्चों में जो विवेक (Reasoning) पाया जाता है उससे स्पष्ट है कि वे समानता तथा असमानता का अन्तर भी जानते हैं। ४ वर्ष की एक लड़की के एक व्यवहार से यह बात और स्पष्ट हो जायगी। वह लड़की अपनी माँ के पास खेल रही थी और उसकी माँ कपड़ा सी रही थी। सूई गिरने का स्वर उसने सुन लिया। उसने उस सूई को उठा लिया और उसे मशीन की ऊँचाई से नीचे की चटाई पर गिराया और बोल उठी, "नहीं, यह स्वर वैसा ही तो नहीं है"। उसे उसने फिर गिराया और कहा,—"ऊहुँक्, यह भी वैसा नहीं है, लगता है, सूई का कुछ भाग फर्श पर भी गिरा रहा होगा।" इससे यह स्पष्ट है कि उस लड़की में स्वर की पहचान प्रकट हो गयी थी।

पीड़ा, रंग, श्रवण, तौल, स्पर्श समय आदि की इन्द्रिय ग्राह्यता

§. [५] हमने पहले देख लिया है कि नवशिशु जन्म के उपरान्त कुछ घण्टों मे ही पीड़ा का संवेदन (Pain sensitivity) प्रकट कर लेता है। पीड़ा का संवेदन क्रमशः अवस्था-विशेष से घटता जाता है। ज्यों ज्यों बच्चे बढ़ते जाते हैं, वे अनुभूतियों से दृढ़ होते जाते हैं और उनके फलस्वरूप उनमे विचार-शक्ति बढ़ती है और अपनी पीड़ा पी जाते हैं। पाठशाला में लड़कियाँ लड़कों से पीड़ा-सवेदन में अधिक प्रबल होती हैं। सम्भवतः चर्म का कठोर होना इसके मूल मे है। क्रमशः १ या १½ वर्ष से रंगों की पहचान (Colour perception) का ज्ञान बढ़ता है और ४ वर्ष की अवस्था तक अपने पूर्ण विकास को प्राप्त कर लेता है। रंगो की विभिन्न छायाओं के विवेक की शक्ति आरम्भ में उतनी ही विकसित होती। गिलबर्ट के अनुसंधान से यह प्रकट हुआ है कि ७ या ८ वर्ष के लड़कों की आधी संख्या लाल रग के विविध रूपों को पहचानने मे असमर्थ है। सभी बच्चे उन रूपों को लाल रंग ही कहते हैं। ४ वर्ष की सभी बालक-बालिकाएँ तीव्र स्वर-स्वरूप के पारस्परिक रूप-भेदों को पहचान (Auditory sensitivity and perception, Dis-

crimination) लेती हैं। ऐसा करने मे कुछ लड़के ४ वर्ष के पूर्व भी समर्थ पाये गए हैं। स्वर-उत्थान (Pitch) की पहचान १० वर्ष के पश्चात् ही आती है। एक ही रूप के विभिन्न तौल वाले बटखरों की पहचान १०–१२ वर्ष के बीच मे बड़ी द्रुत गति से बढ़ती है। इस विषय में लड़के और लड़कियों में कोई विशेष अन्तर नहीं पाया जाता। शरीर के किसी अंग के दो स्थान पर साथ ही कुछ गडाया जाय और उनकी पहचान हो जाय तो स्पर्श-ग्राह्यता की पहचान (Tactual perception) होती है। प्रमाणों से यह सिद्ध है कि इसमें बचपन मे घटती होती जाती है। लड़के और लड़कियाँ ८ वर्ष की अवस्था मे समय की अल्प अवधियों की पहचान कर सकती हैं, किन्तु ६ वर्ष की अवस्था में यह पहचान उतनी ठीक नहीं होती। लडके लड़कियों से इस पहचान में आगे रहते हैं।

अवधान (Attention)

§. [६] मानसिक विकास में अवधान या ध्यान का बहुत महत्त्व है। वास्तव मे, ध्यान के विकास का महत्व अन्य मानसिक क्रियाओं से अधिक है। बच्चे आरम्भिक अवस्था में भी अपना ध्यान दे सकते हैं। प्रथम सप्ताह में ही यह स्पष्ट हो जाता है। बच्चे अपनी आँखों से प्रकाश पर अपना ध्यान फेंकते है। किसी चमकीली वस्तु पर अपना ध्यान देते हुए वे सोचते हैं कि नहीं, यह नहीं जाना जा सकता, किन्तु इतना तो स्पष्ट है कि यहाँ वे अवधानित अवश्य होते हैं। १२ सप्ताहों के पूर्व ही बच्चे लोगों को निरख सकते हैं, इसके उपरान्त तो वे, जिसे चाहें, देखने लगते हैं। शिर्ले (Shirly) के अनुसधान से यह ज्ञात हो सका है कि १३ और २१ सप्ताहों के बीच में दृष्टि-अवधान एक ही वस्तु पर भी आधारित हो जाता है। यह विकास-क्रम में विशेष महत्व रखता है। २५ वें सप्ताह से लेकर ३० वें सप्ताह में जो ध्यान की क्रम-गति की बढ़ती होती है वह ४७ वे सप्ताह तक समान चली जाती है। दूसरे वर्ष में दृष्टि-अवधान बढ़ता जाता है, किन्तु इस समय बच्चे खेल में

आरम्भिक दो वर्षों में ध्यान

तल्लीन भी रहते हैं, अतः ध्यान का विशेष रूप प्रलक्षित होता है।

.१. [७] प्रयोगों से यह ज्ञात हो सका है कि बच्चो की ध्यान-शक्ति पाठशाला तक पहुँचते-पहुँचते और उसके उपरान्त तक क्रमिक विकास पाती रहती है। उसके व्यक्तित्व के विकास में यह गति विशेष महत्व रखती है। बहुधा हम बच्चो के ध्यान को विवेचना की दृष्टि से देखते हैं। वास्तव में, बच्चो का ध्यान उनकी अभिरुचि (Interests) पर अवलम्बित है। जिन विधियों से हम बच्चों की मानसिक अथवा क्रियावाही समर्थताओं की जॉंच करते हैं उनसे उनके अवधान के कुछ स्वरूपों की परीक्षा भी हो जाती है। चयन करने की पहचान, जो 'शब्दों' की कटान से होती है, अथवा विश्लेषणात्मक प्रत्यक्षज्ञानादि १२ वर्ष तक बढ़ते जाते हैं।

दो वर्षों के पश्चात् एकाग्रता

.§. [८] किसी बच्चे का, किसी वस्तु अथवा व्यक्ति के प्रति, अवधान विशेषतः उसकी मानसिक स्थिति, झुकाव, प्रयोजन, अभिरुचि पर निर्भर करता है। इसके साथ-साथ उनकी बुद्धि-योग्यता तथा अनुभूतियाँ भी सहायक होती है। शरीर-स्थिति, संवेगादि से भी ध्यान की परिचालना का अध्ययन किया जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि बच्चों के ध्यान के लिए उनकी वाह्य अथवा अन्तःस्थिति-दशा के तत्व विशेष महत्व के हैं; इन्हीं पर उनका सारा ध्यान और उसका विकास अवलम्बित है। बच्चों की अभिरुचि जिस प्रकार की होगी, उनका ध्यान भी वैसा ही होगा। मूलप्रवृत्तियों अथवा जन्मजात वृत्तियों से उन्हे प्रेरणा मिलती है। किसी विशेष वस्तु के प्रति उनका विशेष झुकाव होता है। बच्चे यदि खेल अधिक पसन्द करते हैं तो उनका ध्यान उन खेलों से प्रकट होगा। अनुभूतियों और अनुभवों से उन्हे जो सुख अथवा दुख मिलेगा उससे उनकी मनःस्थिति बॅंधेगी और उसी पर आधारित उनका ध्यान होगा। इस प्रकार हम देखते हैं कि बच्चों के ध्यान में उनकी अवस्था, उनका अतीत अनुभव,

अवधान-के सूचक तत्व

उनकी मनःस्थिति तथा मानसिक शक्ति का अधिक महत्व है। ये तत्व उनके ध्यान की विशेष अवस्थाओं के द्योतक हैं। वाह्य तत्वों की विवेचना यहाँ अनावश्यक है क्योंकि उनकी अभिज्ञता बच्चों में क्रमशः उनके अन्तः तत्वों पर निर्भर करती है।

स्मृति (Memory)

.§. [९] इस विषय में हमें बहुत-सी बातों का जानना आवश्यक है। बच्चा किस अवस्था मे अपनी माँ को पहचान लेता है, और उसकी स्मृति बनी रहती है? अथवा किस अवस्था में बच्चों में अवधारणा प्रकट होती है? कुटुम्ब के लोगों की विशेष पहचान उसे कब होती है? इन्द्रिय-ज्ञानों मे उसे कौन सा ज्ञान अधिक स्मरण रहता है? वह स्वाद, रंग, महॅक, स्पर्श और गति की संवेदनाओं को किस प्रकार स्मरण कर लेता है? उसकी स्मृति किस प्रकार विकसित होती है? क्या बचपन में ही स्मृति अपने अन्तिम स्वरूप को पा लेती है? क्या बचपन समुचित स्मृति का स्वर्ण-काल (Golden Age for Memory) कहा जा सकता है? ये कुछ व्यापक प्रश्न हैं।

शिशु की आरम्भिक स्मृतियाँ

.§. [१०] आरम्भिक बचपन की स्मृतियाँ लोगों को रहती हैं? यह अभी विवाद-ग्रस्त विषय है। ज्यार्डन (Gordon) महोदय ने एक बार सैकड़ों मनुष्यों का अध्ययन किया। उन लोगों के स्मृति-काल की औसत २ या २½ वर्ष तक जा सकी है। किन्तु ये विभिन्न कथन विश्वसनीय नहीं हैं, क्योंकि स्मृतियों के अतल में लोगों की कही गयी बातें जम जाती हैं, और लोग कालान्तर में समझने लगते हैं कि वे उनकी अपनी स्मृतियाँ हैं। यदि कोई दुर्घटना घट जाती है, और जिसके फलस्वरूप कुछ अमिट लक्षण समुपस्थित रहते हैं तो वह कालान्तर में स्मृति का रूप पकड़ सकती है। एक ३ वर्ष की लड़की को कार से गिरने की स्मृति बनी रही क्योंकि उसके विषय में आये दिन चर्चा होती रही। मैं स्वयं अपनी पहली स्मृति अभी तक नहीं भूल सका हूँ।

जब मैं ३ वर्ष का था तो मेरे माता-पिता दोनों मर गए। उनके विषय में मुझे केवल दो बातें स्मरण हैं। माता के विषय में केवल इतना स्मरण है कि कोई नारी एक खाट पर पड़ी रोग-ग्रस्त है, उसकी बगल में एक बच्चा है जो पीने की आतुरता में उसकी ओर बढ़ता है और वह नारी उसे अपने हाथों से हटाती जाती है। वह नारी मेरी माँ थी और लड़का मेरा छोटा भाई था जो उन दिनों केवल दस महीने का था। माँ उसके दो या तीन दिन बाद ही मर गयी। उसका मृत शरीर बाहर आँगन में पड़ा था और उससे थोड़ी दूर पर मेरे घर की एक और स्त्री मरी हुई सुलायी गयी थी। मेरी माँ तथा मेरी चाची दोनों की मृत्यु गत रात्रि को हो गयी थी। उन दिनों विश्वव्यापी इनफ्लुएञ्जा (World Epidemic of 1918) मेरे घर पर प्रलय के समान बहरा उठा था। मैं एक कमरे में था। उस कमरे में कई अन्य बच्चे थे: मेरी एक ६ वर्ष बड़ी बहन, ६ वर्ष के भाई। मैं रह-रह कर बाहर जाने का उद्योग करता था। पीछे से एक व्यक्ति मेरे हाथ को पकड़ कर खींच लेते थे। ये व्यक्ति मेरे पिताजी थे, जो स्वयं उसी रोग से पीड़ित थे। कमरे के बाहर न जाने देने से तात्पर्य यह था कि बच्चे शव के पास न जाने पावें। बस, इतना ही स्मरण है। बच्चे के व्यवहारों को पढ़कर उनकी स्मृति का अध्ययन किया गया है। ११ या १२ सप्ताह का बच्चा दूध की बोतल को देखकर स्मृति का लक्षण दर्शित करता है। माँ का स्तन उसकी स्मृति को जगाता है। बहुत-से बच्चे १८ सप्ताह तक ऐसी स्मृति दिखाने में असमर्थ होते हैं। १० या ११ सप्ताह के बच्चे अपने माता-पिता को देखकर पहचान लेते हैं। ६ महीने की अवस्था के बच्चों मे परिचित व्यक्तियों और नवागन्तुकों के अन्तर को जानने की शक्ति होती है। यह उनकी स्मृति का द्योतक है। बहुत से बच्चे १ वर्ष की अवस्था में ही साधारण बोली समझ लेते हैं। १ वर्ष के बच्चे अपने खिलौनों को खोज लेते हैं।

§. [११] एक चित्र को देखकर २ वर्ष के बच्चे उसकी कुछ

बातों का तदेव वर्णन कर लेते हैं। यदि एक चित्र को, उन्हें चार-पाँच सेकण्ड दिखाकर बहुत-से चित्रों में मिला दिया जाय, तो वे उसे खोज लेते हैं। नाक्स महाशय ने एक विधि से, जिसे "नाक्स क्यूब टेस्ट" (Knox Cube Test) कहते हैं, बच्चों की स्मृति की जाँच की है। इसके द्वारा बच्चों में देखा जाता है कि वे अनुकृति के बल से अपनी स्मृति का सहारा ले सकते हैं कि नहीं। उन्होंने यह सिद्ध किया है कि २ वर्ष के बच्चे इस कार्य में सफल हो जाते हैं। बच्चों से कहे गए शब्दों को कहलाकर उनकी स्मृति की जाँच की जाती है। बहुत-से शब्दों की सूची तैयार की जाती है और उन्हें बच्चों को स्मरण करने को दिया जाता है। ८ वर्ष से १२ वर्ष की अवस्था में केवल ५० प्रतिशत की बढ़ती पायी गई है और १२ से १५ वर्ष की अवस्था में १५ प्रतिशत। लड़कियों की स्मृति लड़कों से कुछ तीक्ष्ण होती है। साकार अथवा इन्द्रियगम्य वस्तुओं के प्रति बच्चों का सम्बन्ध शीघ्र स्थापित हो जाता है, अतः इन वस्तुओं की स्मृति उन्हें शीघ्र हो जाती है। लड़कों से गिनती कह कर याद कराई जाती है, फिर उनकी स्मृति की जाँच की जाती है। ४ या ५ वर्ष के बच्चे ४ अंकों की संख्याएँ एक बार कहने से कह देते हैं। ६ वर्ष से ८ वर्ष की अवस्था में ५ अंकों की संख्या, ६ वर्ष से १२ वर्ष तक ६ अंकों की, १३ से १५ तक ७ अंकों की संख्याएँ याद हो जाती हैं। इससे सिद्ध होता है कि दृष्टि तथा श्रवणेन्द्रियों से बच्चों की स्मृति का गहरा सम्बन्ध है। १० वर्ष के पश्चात् दृष्टि-उत्तेजनाएँ प्रबल हो जाती हैं और पढ़ने के आचरण में सम्वृद्धि हो जाती है। टर्मन महोदय ने तात्कालिक (Immediate) संख्या-स्मृति के सम्बन्ध में अपने निम्न निष्कर्ष दिए हैं:

वस्तुओं, चित्रों तथा गतियों की स्मृति; तात्कालिक शाब्दिक स्मृति

अवस्था	अंकों की संख्या	दशाएँ	% सफल बच्चे
३	२	३ से लेकर एक प्रयास सफल	७०

अवस्था	अंकों की संख्या	दशाएँ	% सफल बच्चे
४	४	३ से लेकर एक प्र० स०	७६
७	५	,, ,, ,, ,,	७४
१०	६	२ में एक प्र० स०	७१
१४	७	,, ,, ,, ,,	५६
बड़े लड़के	८	३ में एक प्र० स०	(६२)

वाक्यों की तात्कालिक स्मृति मे टर्मन ने निम्न तालिका दी है:

अवस्था	शब्द-खण्डों की संख्या	दशाएँ	प्रतिशत सफल
३	६-७	३ प्रयास में एक ठीक	७०
४	१२-१३	,, ,,	८०
६	१६-१८	,, ,,	६६
१०	२०-२२	,, ,,	६३
१६	२८	दो प्रयास में एक ठीक	(५८)

तार्किक या युक्तिसंगत; शाब्दिक स्मृति एवं पुनरावर्तन

§. [१२] किसी वाक्य-समूह को सुन कर उसके विषय में कहना तार्किक स्मृति (Logical Memory) से सम्बन्ध रखता है। ६ या ७ वर्ष की अवस्था के बच्चों में तार्किक स्मृति का पाना असम्भव-सा है, यहाँ तक कि ८ या ६ वर्ष की अवस्था में भी बहुत कम सम्भव है, क्योंकि शब्द-ज्ञान तथा अर्थ की उस समय कमी रहती है। तार्किक स्मृति का विकास बच्चों के मानसिक विकास का द्योतक है, क्योंकि तार्किक स्मृति की भूमिका में बच्चों का शब्दों के पारस्परिक सम्बन्ध तथा अर्थ-भाव से परिचय पाया जाता है। पुनरावर्तन (Recall) के लिए अभिरुचि का होना परमावश्यक है। यदि बच्चों में प्रेरणात्मक अनुभूति होती है और उनमें उस वस्तु से विशेष प्रेम होता है, तो उसके प्रति उनकी स्मृति का अटूट सम्बन्ध हो जाता है। यदि बच्चों को उनकी प्रिय वस्तु दे दी जाय और पुनः किसी विशेष बर्तन मे वह वस्तु रखी हो, तो वे उस

वस्तु को देखते ही उस की धारणा करने लगते हैं। छोटे बच्चों में घी या मिठाई से प्रेरणात्मक सम्बन्ध हो जाता है। वे जब घी या मिठाई के पात्र देखते हैं तो घी या मिठाई के लिए छटपटाने लगते हैं। कभी-कभी यह धारणा पुनरावर्तित होती रहती है। ४ या ५ वर्ष के बच्चे ३०–३० या ४० दिनों के उपरान्त पुनरावर्तन में सफल देखे गए हैं।

बच्चों और प्रौढ़ लोगों की स्मृतियों की तुलना

§. [१३] बहुधा लोग यह जानना चाहते हैं कि बच्चों की स्मृति तीक्ष्ण होती हैं कि प्रौढ़ व्यक्तियों की। क्या बच्चे अधिक वस्तु को धारण कर सकते हैं? क्या वे स्मृति-धारणा शीघ्र कर जाते हैं? यह देखा गया है कि बच्चे किसी चित्र को देख कर प्रौढ़ लोगों से अधिक और शीघ्र याद कर लेते हैं। विशेषतया यह बात १० वर्ष के या उनसे अधिक अवस्था के बच्चों में पायी जाती है। ७ या ८ वर्ष के बच्चे अपने बड़ों से इस क्रिया में आगे रहते हैं। इसका क्या कारण है? सम्भवतः यह अभिरुचि (Interest) पर अवलम्बित है। बड़े लोग छोटी वस्तुओं में उतनी अधिक अभिरुचि नहीं रखते। बच्चों की रुचि तीव्र होती है; वे छोटी-छोटी वस्तुओं को बड़ी अभिरुचि तथा चाव से देखते हैं। सर्वश्री आलपर्ट जार्एंश, मींस, मर्फी आदि मनोवैज्ञानिकों ने अपने प्रयोगों से स्पष्ट किया है कि बच्चों मे मौलिक प्रतिरूप (The Primary memory images—eidetic images) पाए जाते हैं। १४ वर्ष तक के बच्चों में ५० प्रतिशत ऐसे पाए जाते हैं जो किसी चित्र को आधे मिनट तक देखने के उपरान्त उसे ज्यों-का-त्यों धारण कर लेते हैं। किशोरावस्था में ये प्रतिरूप धूमिल पड़ जाते हैं*। अतः यह स्पष्ट है कि बच्चों की स्मृति वस्तु-विशेषता, उनकी अनुभूति तथा तात्कालिक रुचियों पर अधिक निर्भर करती है। बच्चों की विशेष योग्यता को हम उनकी अभिरुचि के सहारे शिक्षा तथा सिखाने से बढ़ा सकते हैं।

---

* देखिए, लेखक की पुस्तक सामान्य मनोविज्ञान, द्वितीय भाग, पृष्ठ ३६८–४०१।

ing of Colour) कर लेते हैं : लाल रंग के कागदों को लाल की ढेरी में, पीत को पीत की ढेरी मे जमा कर सकते हैं। ३ वर्ष के उपरान्त बच्चे ठप्पों या ब्लाकों से घर, पुल, सड़क आदि के निर्माण में आनन्द प्रदर्शित करते हैं। ५ वर्ष के बच्चे लोहित, पीत, नील एवं हरित रंगों की यथार्थ अभिज्ञता प्रदर्शित कर लेते हैं। ५ या ६ वर्ष के उपरान्त सामान्यतः बच्चे लिखना, पढ़ना आदि आरम्भ कर देते हैं। लिखने-पढ़ने के पूर्व विचार एक सीमा तक विकसित हो गया रहता है।

जिन अवस्थाओं का वर्णन ऊपर किया गया है वे बच्चों की संवेदनाओं एवं हस्तव्यवसायक गतियों (Manipulatory Processes) तक ही सीमित हैं। क्रमशः संवेदनाओं की सीमा से ऊपर उठकर विचार-प्रक्रिया का अभ्युदय होता है। ७ वर्ष की अवस्था के उपरान्त विचार-विकास की गति द्रुततर हो जाती है। विचार-विकास की दिशा मूर्त (Concrete) से अमूर्त (Abstract) की ओर होती है। बहुधा ६ वर्ष तक अमूर्तमूलक भावना का गठित उद्रेक नहीं हो पाता है, किन्तु पृष्ठभूमि का निर्माण होता रहता है। आरम्भ में बच्चे अपने व्यावहारिक जीवन की समस्याओं की पूर्ति में संलग्न रहते हैं, यथा दाँत से आम काटना, छूरी से अमरूद काटना या सिकहर पर से मिठाई का बर्तन उतारना आदि। क्रमशः अवस्था विशेष से सामान्य भावनाओं के आधार पर विचार-धारा का विकास होता जाता है। यदि ६ वर्ष के बच्चे से पूछा जाय : अमरूद क्या है ? गुड़िया क्या है ? तो वह इनकी परिभाषा यों करेगा : अमरूद खाने के लिए है, गुड़िया खेलने के लिए है। ८ वर्ष का बच्चा वर्गीकरण (Classification) के द्वारा पदार्थों की परिभाषा उपस्थित करता है, यथा—ताश वह है जो कई आदमियों द्वारा हाथ से खेला जाता है, योद्धा वह है जो युद्धभूमि में जाता है, बैडमिण्टन वह है जो रैकट और हाथ से खेला जाता है। १२ वर्ष की अवस्था में किशोर बच्चे सहानुभूति, दया, द्वेष आदि अमूर्त भावनाओं की यथार्थ

परिभाषा दे लेते हैं।

मनोवैज्ञानिकों ने ऊपर की अवस्थाओं के अनुरूप कुछ विशेष संज्ञाओं का निर्माण किया है जो बच्चों की मध्यकालीन अवस्था के विचार-विकास की गतियों के द्योतक हैं : सर्वात्मवादी, विषम समवायवादी, आत्मीय एवं अतिव्यक्तिक (Animistic, Syncretic, Subjective and Objective)। आरम्भिक अवस्था में बच्चे एक दूसरे का अनुकरण (Imitation) करते हैं और इस प्रकार वे लोक-रीति (Conventional rule) का समादर करते दीखते हैं। क्रमशः उनकी अभिरुचि (Interest) का विस्तार होता है जिसके फलस्वरूप उनका अवधान-विस्तार (Span of Attention) बढ़ जाता है और वे किसी पदार्थ को बहुत देर तक देख उसके गुणों की अभिज्ञता प्राप्त कर लेते हैं। फलतः सामान्य भावनाएँ एव अमूर्त कल्पनाएँ द्रुत गति से विकसित होती हैं और बच्चों का विचार अतिव्यक्तिक अथवा वस्तु-जगत-सम्बन्धी (Objective) हो जाता है। ७ वर्ष के बच्चों मे (१) सर्वात्मवादी (२) विषमसमवायवादी एवं (३) आत्मीय विचार पाये जाते हैं। प्रथम प्रकार के विचार वे हैं जिनके द्वारा बच्चे सभी वस्तुओं में सजीवता देखते हैं और सोचते हैं कि सभी वस्तुएँ स्वयं संचालित हैं और उनमे सवेदनशीलता है। बच्चे जादू से सब कुछ अपने मन के अनुरूप जिलाने को उद्यत हो जाते हैं, वे अपने को सर्व-शक्तिमान् समझते हैं और उनमें यह धारणा होती है कि वे अपने माता-पिता को बीमार कर सकते हैं। दूसरे प्रकार के विचार वे हैं जो बिना किसी विशेष सम्बन्ध के एक दूसरे से समन्वित कर दिये जाते हैं। ५ वर्ष के एक बच्चे ने सोचा, "यह जहाज पानी में चल रहा है। इसमें आदमी हैं और वे काम कर रहे हैं, और वे पानी में जाकर तैरते हैं, और वहाँ मछलियाँ हैं, उन्हे हम पकड़ते हैं और वे तैरती हैं……।" इस प्रकार के सोचने एवं कल्पना करने में "और" शब्द किसी तार्किक सम्बन्ध या उपाधि का द्योतक नहीं है। तीसरे प्रकार के विचार बच्चों की आत्मीयता (Subjectivism) के द्योतक हैं।

.§. [१४] क्या बचपन स्मृति का स्वर्ण-काल है ? क्या बचपन में अवधारणा बहुत होती है ? वास्तव में, अवधारणा तभी हो सकती है, जब उसकी आवश्यकता होती है। प्राचीन समय में, और बहुत अंशों में आज भी, यह समझा जाता था कि बच्चों में विवेक कम होता है, किन्तु स्मृति-धारणा तीव्र होती है, अतः उन्हे बहुत-सी बातें याद करायी जाती थीं, जिससे वे कालान्तर मे अपने विवेक का विकास कर सकें। किन्तु आज के प्रयोग इन बातों का विरोध करते हैं। स्मृति के विभिन्न क्षेत्रों के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि कंठस्थ-स्मृति (Rote Memory) में बचपन सर्वोत्तम पाया जाता है; बचपन के उपरान्त इस प्रकार की स्मृति मे कोई विशेष उन्नति नहीं होती। किन्तु जटिल क्रिया मे कुछ और ही बातें पायी जाती हैं। युक्तिसंगत स्मृति या तार्किक स्मृति के लिए बड़ी अवस्था अपेक्षित है। प्रौढ़ लोगों से बच्चे कुछ विषय में अधिक स्मृतिशील होते हैं, किन्तु वे अन्ततोगत्वा स्मृति के प्रत्येक अंग के विचार मे प्रौढ़ लोगों से आगे नहीं जा सकते। बचपन स्मृति का स्वर्ण-काल नहीं है। हाँ, जैसा कि गत प्रकरण मे बताया गया है बच्चों में मौलिक प्रतिरूप (Eidetic images) पाये जाते हैं।

स्मृति का स्वर्ण-काल

बचपन में विचार-विकास (Development of Thought)

निर्णय और तर्क (Judgement & Reasoning)

.§. [१५] कुछ लोग कहा करते हैं कि तर्क किशोरावस्था (Adolescence) में उत्पन्न होता है। कुछ लोग सोचा करते हैं कि चिन्तन की कोई ऐसी अवस्था नही बचती जो एक ७ वर्ष के बच्चे मे नहीं पायी जाती। तो, निर्णयात्मक चिंतन (Thinking) कब से आरम्भ होता है ? बच्चों में तर्क (Reasoning) कब जगता है ? प्रसिद्ध बालमनोवैज्ञानिक पियाजे (Piget) के सिद्धान्त इस विषय मे अति प्रसिद्ध हैं। हम पहले उनके सिद्धान्त को स्पष्ट करते हैं और पुनः देखेंगे कि तर्क एवं निर्णय की उद्भावना कब होती है।

गत प्रकरणों के विवेचन से स्पष्ट हुआ कि बच्चों में विचार की कई अवस्थाएँ पायी जाती हैं। विचारणा वह ज्ञान-सम्बन्धी क्रिया (Cognitive Process) है जिसमें ज्ञात गुणों के आधार पर अव्यक्त गुण की स्थापना की जाती है, यथा—सभी मनुष्य मरणशील हैं, श्याम एक मनुष्य है, अतः श्याम मरणशील है। इस उदाहरण में श्याम के मरणशील होने का गुण मनुष्य एवं श्याम के बीच के सम्बन्ध पर अवलम्बित है अतः विचार को उपाधिक (Relational) प्रक्रिया की संज्ञा भी मिली है। विचार मे कई प्रमुख उपाधियाँ पायी जाती हैं : कार्य-कारण (Casuality), देश-काल (Space & Time), समता (Similarity), भेद (Difference) आदि। बचपन की विचार-सरणियो में भी ये उपाधियाँ (Relations) विद्यमान देखी गयी हैं। विचार का मूलाधार है संवेदना (Sensation), क्योंकि उसी से वस्तु-संवेदना, वस्तु-प्रत्यक्ष, वस्तु-संवेदना से प्रतिरूप (image) तथा मूर्त प्रतिरूप से सामान्य भावना की धारणा (General Concept) का विकास होता है। स्पष्ट होता है, विचार-विकास मे वर्त्तमान से अनुपस्थित का, मूर्तता (Concreteness) से सामान्यता (Generality) एवं अमूर्तता या परोक्षीकरण (Abstraction) का विकास होता है। सिरिल बर्ट (Cyril Burt) द्वारा उपस्थित प्रश्नों के उत्तर इन अवस्थाओं की ओर संकेत करते हैं (देखिए पृष्ठ २२०)।

विचार की प्रारम्भिक अवस्था में इन्द्रिय-तीव्रता एवं हस्तव्यवसायक क्रियाएँ (Manipulatory activities) देखी जाती हैं, यथा १ वर्ष के पश्चात् बच्चे दूर एवं निकट, छोटा एवं बड़ा, ऊपर एवं नीचे तथा गोल एवं त्रिकोण की पहचान करने लगते हैं। १½ वर्ष की अवस्था में बच्चे १६ में १३ ईंटों के घनों (Cubes) को बॉक्स के विभिन्न छिद्रों में सजाने में समर्थ होते हैं। २ वर्ष के बच्चे १६ ईंटों के घनों को १२५ सेकण्डो में सजा लेते हैं। २½ वर्ष के बच्चे चतुर्भुज, समकोण चतुर्भुज, त्रिकोण आदि के ठप्पों को उनके तदनुरूप छिद्रो में रख सकते हैं। इस अवस्था के बच्चे कई रंगों की पूर्ण पहचान (Match-

बच्चे बहुधा अपनी अभिरुचियों एवं अपने स्वरूप से ही अन्य वस्तुओं को रोकते हैं। वे इस प्रकार वैयक्तिक होते हैं। सभी वस्तुएँ मानो उनकी और उनके उपयोग के लिए ही हैं। वे इतना नहीं समझते कि पानी सबको सुख देता है अथवा पानी का गुण सबके लिए समान है। किन्तु यह अवस्था ७ वर्ष की अवस्था तक प्रायः समाप्त हो जाती है।

६ वर्ष का बच्चा चुम्बक के विषय मे कहता है : चुम्बक मे प्राण होते हैं। उसमे इतने छोटे हाथ हैं कि तुम नहीं देख सकते, वह इन्हीं हाथों से लोहे को अपनी ओर खींच लेता है। ८ वर्ष तथा उसके उपरान्त यथार्थ ज्ञान जाग पड़ता है। क्रमशः विचार सामाजिक एवं यथार्थवादी हो जाते हैं। ६ वर्ष की एक लड़की ने अपने स्वप्नों के विषय में कहा : हमारे विचार नहीं सोते, वे हमारी निद्रावस्था मे भी सक्रिय रहते हैं और हमारे मन की सभी क्रियाओ को जानते हैं।

प्रमाणों से सिद्ध हो चुका है कि बच्चों कि प्रारम्भिक अवस्था में भी तर्क पाया जाता है; यहाँ तक कि वे अपनी अनुभूतियों के बल पर बहुत से अटकल-पच्छू तर्क उपस्थित करते हैं। इस विषय में एक २ वर्ष के बच्चे की कथा कहावत हो गयी है। यह बच्चा अपने पिता की कलाई के बाल खींच रहा था। पिताजी ने झिड़क कर कहा, "नहीं, बच्चे, ऐसा न करो, इससे पिताजी को कष्ट होता है।" इस पर बच्चा बोल उठा, "इससे दादा को चोट नहीं लगी।" एक ३ वर्ष की बच्ची ने एक सिक्के को पृथ्वी में गाड़ कर अपनी माँ से कहा, "अब हम लोगों को बहुत-से सिक्के मिल जाएँगे"। इसमें सन्देह नहीं कि ऊपर के २ वर्ष के बच्चे और ३ वर्ष की लड़की के अनुमान भ्रमपूर्ण थे, किन्तु क्या हम लोगों के बहुत-से अनुमान भ्रामक अथवा त्रुटिपूर्ण नहीं होते ? चिंतन मे बहुत से अनुमान त्रुटिपूर्ण होते हैं, क्या बच्चे क्या किशोर, क्या प्रौढ सभी ऐसी उक्तियाँ किया करते हैं। यहाँ तर्क अवश्य है, भले ही वह त्रुटिपूर्ण हो। छोटे-छोटे बच्चे निर्णय (Judgement) भी करते हैं। ३ या ४ वर्ष के बच्चों में भी

निर्णयात्मक बुद्धि पायी जाती है। एक ३½ वर्ष की लड़की ने अपने पिता से, जिसके हाथ मे चोट आ गयी थी, कहा, "छोटे बच्चो के पिताओं को चोट से बचना चाहिए, क्योंकि छोटे बच्चे उन्हे प्यार करते हैं।" स्टैन-फोर्ड-बिने बुद्धि-माप द्वारा ७ वर्ष के बच्चों मे निर्णय पाया जाता है। बच्चे, तितलियों तथा मक्खियों, प्रस्तर-खण्ड और अण्डे तथा लकडी और शीशे के अन्तरों को जानते हैं। ८ वर्ष के बच्चे कोयले तथा लकड़ी, जहाज तथा मोटर गाड़ी और लोहा तथा चाँदी की विभिन्नता को बता देते हैं। ११ वर्ष के बच्चे सर्प, गाय और गौरैया; पुस्तक, अध्यापक और समाचार-पत्र, ऊन, सूत और चमड़ा, चाकू, पैसा, और लोहा के तार और गुलाब, आलू और पेड़ के अन्तर को भली भाँति बताने में समर्थ होते हैं।

तर्क का उत्तरोत्तर विकास

§. [१६] यदि हम बच्चो के व्यवहारों को किसी व्यवस्थित दशा में देखें और उनका अध्ययन करे तो हम उनकी मानसिक योग्यताओं का परिचय पा सकते हैं। छोटे-छोटे बच्चे अपने पास की पड़ी हुई वस्तुओ की देखभाल करते हैं। यदि उन्हे कई टुकड़ों से संयोजित कोई खिलौना मिले तो वे उसे छिन्न-भिन्न करके देखते हैं। उन्हें बिगाड़ कर बना देने में २ से ४ वर्ष के लड़के समर्थ हो जाते हैं। यदि उनके सामने कोई समस्या आ जाती है तो वे उसे दूर करने अथवा समझने का उद्योग करते हैं। बड़े अथवा बुद्धिमान् लड़के औरों से अधिक और पहले समर्थ होते हैं। इस प्रकार उनकी बुद्धि की माप भी हो जाती है, क्योंकि चिन्तन-प्रणाली में निर्णय तथा तर्क बुद्धि के विशेष लक्षण हैं। अवस्था के विकास से चिन्तन में विकास होता है।

६ वर्ष से १२ वर्ष तक के चिन्तन (Thinking) का विशेष महत्व है। निर्णयात्मक तथा तार्किक बुद्धि क्रमशः बढ़ती जाती है। विवृद्धि तथा अनुभूतियों के आधार पर विचार-वृत्तियों विकसित होती हैं। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक सिरिल बर्ट (Cyril Burt) ने निर्णय

तथा तर्क की जाँच के लिए ५० परीक्षा-पत्र बनाये हैं जिनके द्वारा ७ वर्ष से लेकर १३ वर्ष के बच्चों की जाँच होती है। हम यहाँ पर सिरिल बर्ट द्वारा उपस्थित कुछ वर्ष के प्रश्नों को उपस्थित करते हैं। पाठकों को इनके परिशीलन से बच्चों की तर्क-शक्ति के उत्तरोत्तर विकास का पता चल जायगा।

७ वर्ष के लिए : श्याम विष्णु से अधिक खाता है, विन्दु विष्णु से कम खाता है। तो विष्णु, विन्दु तथा श्याम में सब से कम कौन खाता है?

८ वर्ष के लिए : मुझे ठंढा स्थान प्रिय नहीं है और पहाड़ी प्रदेश भी मुझे अच्छा नहीं लगता। जाड़े की छुट्टियाँ मुझे शिमला, श्रीनगर, बनारस या गया में बितानी हैं। तो, बताओ मैं कहाँ जाऊँ?

९ वर्ष के लिए : एक पंक्ति में तीन बच्चे खड़े हैं। भानु ओम की बॉयी ओर है और ओदू भानु की बायीं ओर है। तो, बताओ बीच में कौन है?

१० वर्ष के लिए : चार सड़कें हैं। मैं दक्खिन से आया हूँ और बनारस जाना चाहता हूँ! दाहिनी ओर वाली सड़क दूसरी ओर ले जाती है। जो सड़क ठीक सामने है एक बागीचे की ओर जाती है। तो, बताओ बनारस किस दिशा की ओर है।

११ वर्ष के लिए : उष्ण जलवायु में बाजरा और मक्का अधिक होता है। शीत जलवायु में गेहूँ और चना उत्पन्न होता है। बाजरा और चना के लिए आर्द्र वायु की आवश्यकता होती है। गोदावरी नदी के पास की जलवायु शीत एवं आर्द्र है। बताओ कहाँ कौन-सा अन्न अधिक उत्पन्न होगा?

१२ वर्ष के लिए : गया स्टेशन से प्रस्थान कर मैं २०० गज चला। दाहिनी ओर घूम कर १०० गज और चला गया, पुनः दाहिनी ओर मुड़ कर १०० गज और आगे बढ गया। बताओ अब मैं गया स्टेशन से कितनी दूर हूँ?

§. [१७] जैसा कि हमने ऊपर देखा बच्चों के तर्क में भ्रामक

भूलें (Errors in Reasoning) पायी जाती हैं, उसी प्रकार यदि हम बच्चों की तर्क-शक्ति का अध्ययन करें तो उनकी सीखने की कठिनाइयाँ स्पष्ट हो जायँगी। पढ़ने वाले बच्चों में गुणा करने की शक्ति में एक भूल पायी जा सकती है। यदि उन्हे ७५ को ७ से गुणा करने को कहा जाय तो वे ४९३५ रख सकते हैं। यहाँ पर भूल का कारण नियम को न जानना है। बहुधा अध्यापक एक बार बता देने के उपरान्त बच्चों से ठीक-ठीक उत्तर पा जाने की आशा रखते हैं। ऊपर की भूल ऐसी ही भूल है। इसी प्रकार कई उदाहरण दिए जा सकते हैं।

बच्चों में तर्क की भूलें

§. [१८] भ्रामक तथा असंगत बातों को जानने (Detecting absurdities) में भी तर्क काम करता है। इसका विकास ११ वर्ष उपरान्त द्रुत गति से होता है। टर्मन तथा मेरिल महोदयों ने ९-१० वर्ष के बच्चों के लिए बहुत से प्रश्न बनाए हैं जिन में से दो-एक नीचे दिए जाते हैं।

असंगत बातों को ज्ञात करना

(१) सन् १९१५ में पुरुषों की अपेक्षा अधिक स्त्रियों के विवाह हुए।

(२) एक पुरुष ने गन्दी वस्तुओं को फेंकने के लिए एक गड्ढा खोदा किन्तु वह यह तय न कर सका कि गड्ढे की मिट्टी कहाँ रखे। एक मित्र ने कहा कि उसने गन्दी वस्तुओं को फेंकने के लिए भी बड़ा गड्ढा खोद दिया।

(३) उन लोगों ने सभा का कार्य बहुत देर से आरम्भ किया, किन्तु घड़ी की सुइयों को पीछे घुमा दिया जिससे सभा का कार्य ५ बजे अवश्य समाप्त हो जाय।

(४) कल एक रेल-दुर्घटना हुई, किन्तु यह बहुत भयंकर नहीं थी। केवल ४८ आदमी मारे गए।

(५) एक साइकिल पर चढ़ा हुआ पुरुष किसी दुर्घटना से दूर फेंक दिया गया। उसका सर फट गया और वह मर गया। लोगों ने

उसे अस्पताल मे भरती कर दिया। लोग कहते हैं कि वह फिर अच्छा नहीं हो सकता।

इसी प्रकार सिरिल बर्ट ने भी बहुत-से प्रश्न-पत्र बनाये हैं, जिनसे ८ वर्ष से १४ वर्ष के बच्चों की तार्किक बुद्धि जानी जाती है।

प्रौढ़ लोगों तथा बच्चों के तर्कों का अन्तर

§. [१६] यथार्थ तथा भ्रामक अनुमानों के आधार पर ही प्रौढ़ व्यक्तियों के तर्क से बच्चों के तर्क का अन्तर नहीं प्रकट होता। हमने देखा है कि तर्क करने मे सभी से भ्रामक भूलें होती हैं। हैज़लिट तथा हीडब्रेडर (Hazlitt & Heidbreder) महोदयों ने यह सिद्ध किया है कि बच्चे तर्क करते हैं और उनकी यह क्रिया प्रौढ़ लोगों की क्रिया के सर्वथा समान है। नयी समस्या के प्रति प्रौढ़ व्यक्तियों के विभिन्न सुझाव वैसे ही होते हैं जैसे कि बच्चों के। उन लोगों ने निष्कर्ष निकाला है कि छोटे बच्चों की प्रतिक्रियाएँ अधिक तथा सफलताएँ कम होती हैं। निम्न तालिका इसे स्पष्ट करती है :

अवस्थाएँ	व्यक्ति-संख्या	प्रतिक्रियाओं की संख्या	सफल समस्याओं की संख्या
३ वर्ष के	१०	६६५	३
४ ,, ,,	१०	५४६	१७
६ से १० ,, ,,	१०	२७८	३०
प्रौढ़ व्यक्ति	१०	६०	३०

प्रौढ़ लोगों ने समस्या को समस्या समझा, किन्तु बच्चों ने स्थिति के आकार-स्वरूप पर अधिक ध्यान दिया। प्रौढ़ तथा बड़े बच्चों ने समस्या के समाधान में वाह्य बुद्धि का अधिक परिचय दिया। वास्तव में, प्रौढ़ लोगों में भाषा-ज्ञान, प्रभूत अनुभूतियाँ, विवृद्धि सहायक होती हैं। यदि, समस्याएँ समान स्थिति में बच्चों तथा प्रौढ़ लोगों को दी जायँ तो दोनों के तर्कों में समानता पायी जायगी। अतः यह स्पष्ट है कि बच्चों के तर्क और प्रौढ़ लोगों के तर्क मे केवल परिमाण का

अन्तर है न कि प्रकार अथवा स्वभाव का। वास्तव में, बच्चों में पाठशाला जाने के पूर्व, अर्थात् ५–६ वर्ष की अवस्था में तुलनात्मक, निर्णयात्मक, अनुमानात्मक चिन्तन (Comparison, Generalization, Inference) पाया जाता है। बचपन में जो मानसिक विकास होता है इसमें बुद्धि एवं उसके विकास का प्रमुख हाथ है। हम आगे के अध्याय में बुद्धि के विकास का विवेचन उपस्थित करेंगे।

ग्यारहवाँ अध्याय

बुद्धि एवं बुद्धि-माप (Intelligence and its testing)*

.१..[१] बुद्धि क्या है ? बुद्धि 'बुध्' धातु से निकली है जिसका तात्पर्य होता है समझना। बुध् से ही बोध, बोधन, बोधि बोधक आदि शब्द निकले हैं। बुद्धि एक प्रक्रिया है जिसे हम अभियोजन की सर्वतोमुखी एवं बहुमुखी प्रक्रिया कह सकते हैं। यह सजीव प्राणियों की प्रक्रिया है। प्राणी की प्रक्रियाएँ केवल अपने मौलिक ढाँचों पर ही नहीं, प्रत्युत उनके परिमार्जित स्वरूपो पर निर्भर करती हैं। यह परिमार्जन-स्वरूप विवृद्धि एवं सीखने (Maturation and Learning) से उत्पन्न होते हैं। अतः बुद्धि वह प्रक्रिया है जो प्राणी के विकास एवं परिमार्जन के साथ परिवर्तित होती जाती है। प्राणियों की कई श्रेणियाँ होती हैं जो उनके विकास-स्वरूप से सम्बन्ध रखती हैं। मनोवैज्ञानिक विचार-धारा से हम चूहों को साधारण कीडे-मकोडे से अधिक बुद्धि-युक्त कहते हैं। इसी प्रकार मनुष्य बन्दरों एवं वनमानुषों से अधिक बुद्धिमान् होते हैं। अभियोजन (Adjustment) की बहुमुखता बुद्धि पर निर्भर है। मनोवैज्ञानिक प्रयोगशालाओं की परीक्षाएँ अनुकूलन की बहुमुखी चेष्टाओं के अन्तरों को बताती हैं। वे परीक्षाएँ प्रतीकात्मक पुनरावर्तन, तर्क, प्रत्यय समझ, भाषा के सीखने एवं प्रयोग में लाने की जटिल गतियों से सम्बन्धित हैं। ये गतियाँ मानव के अनुकूलन में महान् हाथ रखती हैं और उनके विषय में जो मान-दण्ड निर्धारित हुए है वे मानव-बुद्धि की जाँच के सर्वोच्च साधन हैं। अतः यदि कहा जाय कि बुद्धि प्रतिकात्मक गतियों (Symbolic processes) के प्रति बहुमुखी प्रतिक्रिया है तो अनुचित न होगा।

बुद्धि क्या है ?

---

* इस अध्याय का अधिकाश लेखक के सामान्य मनोविज्ञान से उद्धृत है।

बुद्धि की व्यापक परिभाषाएँ

§. [२] बुद्धि कोई वस्तु नहीं है, प्रत्युत यह व्यवहार का एक स्वरूप है जिसके द्वारा अभिज्ञता प्राप्त होती है। यदि एक व्यक्ति किसी स्थिति में अपने को रख पाता है तो वह उसका बुद्धि-युक्त व्यवहार है। बुद्धि का सम्बन्ध 'समझ' से है और समझ अपने में निरीक्षण, चिन्तन, स्मरण तथा ज्ञान की प्राप्ति के सभी साधनों को समेट लेती है। बुद्धि-युक्त क्रिया ज्ञानोत्पादक होती है, उसके द्वारा समस्या का समाधान प्राप्त होता है और लक्ष्य तक पहुँचना होता है। अतः बुद्धि का तात्पर्य उपयोगितापूर्ण समझ अथवा बोध से है। किसी स्थिति की पकड़ अथवा किसी कार्य का सम्पादन बुद्धि से ही होता है। बुद्धि की परिभाषा यदि हम यों करें तो उचित ही है : **बुद्धि वह शक्ति अथवा योग्यता है जिसके द्वारा अभियोजन (अनुकूलन) की नवीन एवं अपेक्षाकृत अधिक गुणकारी पद्धतियाँ प्राप्त होती हैं जो आत्मगत अभिज्ञता से परिपूर्ण होती हैं।** बुद्धि को विभिन्न मनोवैज्ञानिकों ने विभिन्न ढङ्ग से समझने की चेष्टाएँ की हैं और तदनुरूप परिभाषाएँ दी हैं। इसे सामान्यतः "सीखने की समर्थता" (Capacity to learn) कहा जाता है। यह परिभाषा भाँति-भाँति के जाँच करने वाले यन्त्रों तथा पद्धतियों से स्थिर की गयी है। स्टर्न (Stern) महोदय ने कहा है कि यह एक व्यक्ति की वह सामान्य योग्यता अथवा समर्थता है जिसके वह चिन्तन से जीवन की नवीन समस्याओं तथा परिस्थितियों का बोध करता है। सीखने की समर्थता में, सचमुच, नवीन तथा जटिल स्थितियों को अपने अनुकूल बनाना है, जैसे इञ्जिनीयरिंग की समस्याओं को सुलझाना, औषधि, राजनीति, अर्थ-शास्त्र, सामाजिक सम्बन्ध, गणित, रसायन-शास्त्र, दर्शन, कृषि-विषयक आदि समस्याओं को समझना। फ्रांस के मनोवैज्ञानिक तथा बुद्धि-सम्बन्धी जाँच करने की प्रणाली में क्रान्ति करने वाले अलफ्रेड बिने (Alfred Binet) ने एक बहुत ही मोहक बात कही है : बुद्धि

"समझ, आविष्कार, नियमन एवं समीक्षा (Comprehension, Invention, Direction and Criticism)" में पायी जाती है। कुछ वर्ष पूर्व अमेरिका के मनोवैज्ञानिकों ने बुद्धि के स्वभाव के विषय में एक लम्बा वाद-विवाद किया था। उस वाद-विवाद में बुद्धि की कुछ परिभाषाएँ निम्न हैं : **टर्मन (Terman)**: एक व्यक्ति उसी अनुपात से बुद्धिमान् है जिस अनुपात से वह परोक्षात्मक चिन्तन (Abstract thinking) कर सकता है। **काल्विन (Colvin)**: वही व्यक्ति बुद्धि रखता है, जो सीख चुका है और अपने वातावरण के अनुकूल अपने को बना सकता है। **हैगर्टी (Haggerty)** : बुद्धि कई मानसिक गतियों का, जिन्हें मनोविज्ञान में संवेदन, प्रत्यक्षज्ञान, विचार-सम्बन्ध (साहचर्य), स्मृति, कल्पना, सादृश्य-असादृश्य ज्ञान, निर्णय एवं तर्क कहा जाता है और जिनमें संवेगों, मूलप्रवृत्तियों, इच्छा-क्रियाओं एवं तथाकथित चरित्र-लक्षणों का अभाव है, संयोग है। **थर्स्टन (Thurstone)** : प्रति दिन के जीवन से बुद्धि तीन रूपों मे पाई जाती है : (१) अपनी स्वाभाविक वृत्तियों को संयमन करने की समर्थता में, (२) कल्पनात्मक ढंग से अनुभूत क्रियात्मकता के प्रकाश में संयमित स्वाभाविक वृत्तियों की पुनर्व्याख्या में, तथा (३) संयमित वृत्तियों के स्वानुभव मे सामाजिक जीव बनने के निमित्त निश्चयात्मक समर्थता में। **थार्नडाइक (Thorndike)** ने बुद्धि तथा बुद्धि-विषयक परीक्षाओं के विषय में निम्न धारणा उपस्थित की है : परीक्षा-सम्बन्धी माप-दण्डों का कोई भी प्रकार या व्यवस्था इतनी बहुमुखी होनी चाहिए कि वह ध्यान, अवधारणा, पुनरावर्तन, प्रत्यभिज्ञा, चयनात्मक एवं सम्बन्धात्मक चिन्तन, परोक्ष चिन्तन, सामान्यीकरण, सुव्यवस्था, आगमनात्मक एव निगमनात्मक तर्क आदि को सीखने तथा सामान्य ज्ञान के साथ-साथ अपने में समेट सके। थार्नडाइक ने इस प्रकार बुद्धि को चार स्वरूपों में देखा है। *ऊँचाई* या समतलता (Altitude or level), *विस्तार* या चौड़ाई (Range or width), *दूरी* या क्षेत्र (Extent or areal) तथा *चाल* (गति, Speed)।

यदि एक व्यक्ति जटिल कार्य कर सके, समान कठिन कार्य अधिक मात्रा में कर सके, तथा शीघ्रता से यथार्थ प्रतिक्रियाएँ प्रदर्शित कर सके, तो वह उसी रूप में अधिक बुद्धिमान् है। श्री डियरबार्न (Dearborn) ने श्री बैलार्ड (Ballard) की परिभाषा को मान्यता दी है जो यों है : बुद्धि 'मनों' की सापेक्ष सामान्य योग्यता है जो ज्ञान, अभिरुचि एवं आचरण की समान दशाओं में परीक्षित होती है।

बुद्धि-परीक्षा तथा उसका विकास एवं स्वरूप

कैटेल, बिने-साइमन की माप-पद्धति

§. [३] बुद्धि-परीक्षा से सम्बन्ध रखने वाली आरम्भिक मानसिक परीक्षाएँ श्री कैटेल द्वारा कालेज के छात्रों में व्यक्ति-विभिन्नता की जानकारी के निमित्त उपस्थित किए गए अध्ययनों से प्राप्त की गई थीं। उन अध्ययनों में प्रतिक्रियाओं, ऐन्द्रिक तीव्रता या तीक्ष्णता स्मृति तथा अन्य अपेक्षाकृत सरल मनोवैज्ञानिक गतियों की चाल के माप-दण्ड निहित थे। किन्तु इस विषय में केवल व्यक्ति-विभिन्नता की जानकारी ही विशेष रूप से प्राप्त की जाती थी न कि किसी व्यक्ति की बुद्धि की जाँच होती थी। कैटेल द्वारा प्रस्तुत ये परीक्षाएँ व्यावहारिक रूप में नहीं लायी गयीं। सन् १८६६ में फ्रांस के मनोवैज्ञानिक अलफ्रेड बिने ने प्रथम बार इस ओर मनोवैज्ञानिको की दृष्टि फेरी और यह निर्देश उन्होंने अल्प बुद्धि वाले बच्चों के लिए विशेष कक्षाओं का निर्माण करके किया। आठ वर्ष के उपरान्त बिने महोदय को यह निर्णय करने के लिए फ्रांस-सरकार से आदेश मिला कि किस प्रकार के बच्चे साधारण पढ़ाई से लाभ उठा सकते हैं। अतः किसी प्रकार प्रत्यक्ष माप-दण्ड की प्राप्ति अपेक्षित थी जिसके सहारे बच्चों की बुद्धि की पक्षपातरहित परीक्षा हो सके। बिने ने अपने साथी साइमन (Simon) की सहायता से यह निश्चित किया कि किस प्रकार की ध्यान-स्मृति-निर्णयात्मक परीक्षाएँ औसत व्यक्ति के लिए उपयुक्त हो सकती हैं। इस प्रकार बिने ने सरल से जटिल ३० परीक्षाओं की व्यवस्था उपस्थित की। बिने तथा साइमन

ने प्रथम मन्द बुद्धि वाले व्यक्तियों का 'परिमाण' निश्चित किया और मूर्ख बच्चों तथा मन्द बुद्धि बच्चों को अलग-अलग करने में सफलता प्राप्त की। इस प्रकार बुद्धि-विषयक माप-दण्ड की प्रक्रिया का जन्म हुआ। बिने-साइमन ने प्रत्येक बच्चे की मानसिक शक्ति के विकास को जानने का प्रयत्न किया। **बिने-साइमन की परीक्षा** (Binet-Simon Test) में यदि एक पंचवर्षीय बच्चे ने ३० परीक्षाओं में केवल ६ परीक्षाओं में, जो कि तीन वर्ष के बच्चों के लिए निर्धारित थीं, सफलता पाई तो वह अपनी अवस्था से दो वर्ष पीछे समझा गया। यदि कोई बच्चा ६ परीक्षाओं से आगे न बढ़ सका तो वह मूर्ख समझा गया। यह परीक्षा व्यक्तिगत (Individual Test) थी।

बिने-साइमन के माप-दण्ड की विधि प्रयोग-सिद्ध (*Empirical*) थी न कि कारण-परिणाम (*Apriori*) थी, अर्थात् उन्होंने प्रयोगों के आधार पर ही अपने माप-दण्ड को स्थिर किया। उन्होंने तीन वर्ष से लेकर पन्द्रह वर्ष तक लगभग २०० साधारण बच्चों पर विविध परीक्षाओं की परीक्षाएँ कीं। यथा, जब एक परीक्षा में दसवर्षीय बच्चों की दो-तिहाई से लेकर तीन-चौथाई संख्या उत्तीर्ण हो सकी, किन्तु उस परीक्षा में नववर्षीय बच्चों की बहुत कम संख्या उत्तीर्ण हुई तो वह परीक्षा दसवर्षीय बच्चों की बुद्धि के माप के लिए उपयुक्त समझी गई। बिने ने परीक्षाओं को एक सुनियन्त्रित भाषा दी। बिने-साइमन के माप-दण्ड में विषयी (Subject) से कई बातें पूछी जाती थीं, यथा—आदेशों का पालन करना, परिचित वस्तुओं का नाम बताना, चित्रों की अनुकृति करना, पद्यों को सुनाना, प्रतिदिन की किन्हीं परिस्थितियों के विषय में कुछ कहना, शब्दों का अर्थ बताना आदि-आदि।

§. [४] बिने-साइमन ने अपने माप-दण्ड के दोषों का सुधार भी किया। उनके प्रथम माप-दण्ड एवं अन्तिम सुधार में मुख्य अन्तर ये थे: (१) आरम्भिक माप-दण्ड में केवल तीस परीक्षाएँ थीं, किन्तु अब उसमें ५४ परीक्षाएँ सम्मिलित हो गईं। (२) वे भाग (Items)

निकाल दिए गए जिनके लिए किसी विशेष शिक्षण की आवश्यकता पड़ती थी। विने ने अनुभव किया कि यदि बुद्धि-परीक्षा प्राप्त करने वाली योग्यता से सम्बन्धित है, केवल सूचनाओं से नहीं, तो उसमें ऐसी बातें होनी चाहिए जिन्हें कोई भी साधारण बच्चा, चाहे उसे शिक्षा मिली हो या नहीं, बता सके। (३) परीक्षा-भागों (Test items) को अवस्था के अनुसार पृथक्-पृथक् व्यवस्थित किया गया। इस प्रकार ३ वर्ष से लेकर प्रौढ़ावस्था तक के व्यक्तियों के लिए निश्चित परीक्षाएँ, विभिन्न अवस्थाओं के अनुसार, निर्मित की गईं। जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, किसी माप-दण्ड को स्थिर करने में बच्चों की परिगणित संख्या का उत्तीर्ण होना आवश्यक है। पञ्चवर्षीय बच्चों की बुद्धि को जाँचने के लिए एक विषय तभी यथार्थ समझा जाता है जब कि उस अवस्था के ६०% से लेकर ७५% बच्चे उसे कुशलतापूर्वक कर सकें, चार वर्ष के बच्चों की ६०% से कम संख्या उसे कर सके तथा ६ वर्ष की ७५% से अधिक संख्या उसे भली भाँति कर सके। इसका तात्पर्य यह है कि परीक्षा-विषय निश्चित अवस्था के नीचे के बच्चों के लिए अति जटिल तथा उसके ऊपर के बच्चों के लिए अति सरल हों।

विने-साइमन के माप-दण्ड का सुधार

§ [५] विने-साइमन ने बुद्धि-परीक्षा के लिए माप-दण्ड तो स्थिर किया ही, साथ-ही-साथ उन्होंने मानसिक अवस्था (Mental Age : MA : मा अ) की धारणा भी उपस्थित की। एक पचवर्षीय बच्चे ने, यदि अपनी अवस्था के निर्धारित सभी परीक्षा-विषयों को कर लिया, किन्तु छवर्षीय परीक्षा में गति न पा सका, तो वह पाँच वर्ष की मानसिक अवस्था का कहा जायगा। उस बच्चे की वास्तविक अवस्था (वा अ Chronological Age : CA) तथा मानसिक अवस्था बराबर है, अतः वह साधारण अथवा औसत बुद्धि का कहा जायगा। यदि एक तीनवर्षीय बच्चा पाँच वर्ष के बच्चों के लिए निर्धारित परीक्षा-विषयों

मानसिक अवस्था

को ठीक से कर सके तो वह अति ही बुद्धिमान् कहा जायगा और इसी प्रकार एक दसवर्षीय बच्चे की मानसिक अवस्था केवल पाँच हो तो वह मन्द-बुद्धि कहा जायगा। किन्तु बच्चो की वास्तविक बुद्धि की परिगणना केवल इसी ज्ञान से नहीं हो सकती, क्योंकि उसका अन्य बच्चों मे क्या स्थान है यह ठीक से नहीं ज्ञात हो सकता जब तक कि कोई अन्य विधि भी इसके साथ न मिलायी जाय। यह कठिनाई अन्त में दूर की गयी और बुद्धि-उपलब्धि के माप-दण्ड का निर्माण हुआ।

बुद्धि-उपलब्धि एवं उसका महत्व

६. [६] मनोवैज्ञानिकों ने मानसिक अवस्था (मा अ) को वास्तविक अवस्था (वा अ) से भाग देकर बुद्धि-उपलब्धि (Intelligence Quotient : IQ) का माप-दण्ड घोषित किया। मा अ तथा वा अ के भागफल को १०० से गुणा करके भिन्न के रूप वाली कठिनाई दूर कर दी जाती है। इस प्रकार की उपलब्धि बतलाती है कि मा अ किस चाल से वा अ के सम्बन्ध से बढ़ती जाती है। किसी बच्चे की, जिसकी बुद्धि औसत (साधारण) है और जिसकी मा अ तथा वा अ बराबर है, बुद्धि-उपलब्धि (बु उ) १०० होगी। किसी दसवर्षीय बच्चे की, जिसकी मा अ ५ है, बु उ $\frac{५}{१०} \times १०० = ५०$ होगी। यह बच्चा औसत (साधारण) बुद्धि से ५० विन्दु कम पायेगा। इसी प्रकार एक दसवर्षीय बच्चा, जिसकी मा अ १४ है, $\frac{१४}{१०} \times १०० = १४०$ बु उ पायेगा और साधारण बुद्धि से ४० विन्दु अधिक पायेगा। जब प्रथम वार बुद्धि-परीक्षाएँ की गईं तो प्रतिफल केवल घटती एवं बढ़ती (Retardation and Acceleration) से ही द्योतित किया जाता था, किन्तु इससे व्याख्या मे गड़बड़ी उत्पन्न होती थी। एक चार वर्ष के बच्चे की मा अ यदि ३ है तो वह एक वर्ष पीछे कहा जायगा अर्थात् उसमे एक वर्ष की घटती पायी जायगी। इसी प्रकार एक बारह वर्ष के बच्चे की मा अ यदि ११ है तो उसमें भी एक वर्ष की घटती पायी जायगी। किन्तु दोनों बच्चो मे यह एक वर्ष की घटती समान नहीं है, क्योंकि यद्यपि दूसरा बच्चा अपनी वास्त-

विक आयु (वा अ) से एक ही वर्ष पीछे है किन्तु पहले बच्चे की अपेक्षा अच्छा है क्योंकि पहला बच्चा ४ वर्ष की अवस्था में ही अपनी मा अ मे एक वर्ष पीछे है। इसी कठिनाई को दूर करने के लिए बुद्धि-उपलब्धि का निकालना आवश्यक समझा गया। बु उ मा अ तथा वा अ के पारस्परिक सम्बन्ध को तथा विकास की गति को बताती है। ३ मा अ वाले चार वर्षीय बच्चे की बु उ ७५ हुई तथा ११ मा अ वाले १२ वर्षीय बच्चे की बु उ लगभग ६२ हुई। स्पष्ट हो गया कि एक वर्ष की घटती दो विभिन्न व्यक्तियों मे एक ही प्रकार बु उ नहीं उत्पन्न करती, अतः बु उ की आवश्यकता एवं उसकी उपयोगिता स्वतः सिद्ध हो जाती है।

स्टैनफोर्ड-बिने-बुद्धि-परीक्षा

§. [७] श्री बिने ने अपनी परीक्षा-विधि के परिमाणों को सन् १६०५, १६०८ तथा १६११ ई० में तीन बार सुधारा। अन्तिम सुधार में प्रत्येक अवस्था के लिए पाँच प्रकार की परीक्षाएँ थी और परिमाण ३ वर्ष से लेकर १६ वर्ष के व्यक्तियो के लिए बने, केवल १२ एवं १४ वर्ष के व्यक्तियों को छोड दिया गया और चौथे वर्ष के लिए पाँच के स्थान पर केवल चार ही परीक्षाएँ नियत की गयीं। बिने-साइमन के प्रयोगों को अमेरिका के मनोवैज्ञानिको ने कार्यान्वित किया। अमेरिका के वातावरण के अनुकूल बिने की बुद्धि-परीक्षाओं को बनाने के लिए कई बार सुधार करने पड़े, क्योंकि फ्रांस की भाषा तथा उसके वातावरण एवं अमेरिका की भाषा तथा उसके वातावरण मे बहुत अन्तर है। एक स्थान में बनी बुद्धि-परीक्षा दूसरे स्थान मे उसी रूप में नहीं चल सकती। स्टैनफोर्ट यूनिवर्सिटी के प्रोफेसर श्री टर्मन ने सन् १६१६ में और पुनः १६३७ में बिने के माप-दण्ड को संशोधित किया जो आज स्टैनफोर्ड-बिने-बुद्धि-परीक्षा (The Stanford-Binet Test) के नाम से प्रसिद्ध है। नीचे कुछ अवस्थाओं की परीक्षाओ के रूप प्रदर्शित किए जाते हैं :

दो वर्ष की अवस्था के लिए परीक्षा-सरणि :

(१) तीन छिद्रो वाले फार्म बोर्ड [एक फार्म बोर्ड के छिद्रों मे टुकड़ों को रखना]; (२) वस्तु-परिचय [६ वस्तुओ को दिखाकर उनके नामों को पूछना]; (३) शरीर के अंगों की पहचान; (४) मीनार-निर्माण [चार ब्लाकों से देखकर एक मीनार बनाना]; (५) चित्र-वस्तु-परिचय तथा (६) साधारण आदेशो का पालन अथवा शब्द-परिचय खिलौना दो, यह लो ....आदि]

तीन वर्ष की अवस्था के लिए :

(१) नाक, कान आदि बताना; (२) कुञ्जी, चाकू आदि की पहचान करना; (३) चित्र को देखकर उसकी बातें बताना; (४) "तुम लड़का हो या लड़की" का उत्तर देना; (५) अपना नाम बताना; (६) सुनकर दुहराना (तीन-चार अंकों तक गिन कर)

पाँच वर्ष की अवस्था के लिए :

(१) दो संदूकों की तौल का अन्तर बताना, (२) लाल, हरा, नीला''दिखाकर उनकी पहचान करना; (३) कई चित्र देखकर सुन्दर चित्र बताना; (४) कुर्सी, घोड़े आदि का उपयोग बताना एवं (५) धैर्य का अर्थ बताना।

छः वर्ष की अवस्था के लिए :

(१) शब्द-भाण्डार [शब्दों का अर्थ बताना]; (२) अनुकृति करके एक क्रम में गोटियों को मिलाना, (३) खण्डित चित्रो के खण्डित भागों को बताना; (४) माँगे हुए टुकड़ो को उठाना; (५) बहुत से चित्रो में से असमान चित्रों को चुनना तथा (६) भूलभूलैया को पार करना।

आठ वर्ष की अवस्था के लिए :

(१) शब्द-भाण्डार, आठ शब्दों की परिभाषा बताना, (२) कहानियों की स्मृति करना, (३) शाब्दिक निरर्थकता को बताना; (४) समानता एवं अन्तर-भेदों को बताना; (५) समझ तथा (६) वाक्यों की स्मृति करना।

नौ वर्ष की अवस्था के लिए :

(१) महीना, दिन एवं तिथि बताना; (२) सदूकों को तौल के अनुसार पंक्ति में रखना, (३) जोड़-शेष बताना; (४) १, २, ३, कह कर ३, २, १....आदि कहलाना; (५) शब्दों से वाक्य बनाना एवं (६) शब्दों को तुकान्त से रखना, यथा—बाघ, माघ; पकड़ी, मकड़ी ...आदि।

बारह वर्ष की अवस्था के लिए :

(१) शब्द-भाण्डार की परीक्षा करना, (२) दया, प्रतिशोध, दान, न्याय तथा ईर्ष्या का अर्थ बताना; (३) भूलभूलैया में मार्ग खोजना; (४) अस्तव्यस्त वाक्यों को ठीक करना; (५) किसी कहानी को सुनकर उसकी शिक्षा या निष्कर्ष बताना; (६) घटना-सम्बन्धी चित्र का यथार्थ विश्लेषण करना; एवं (७) इन शब्दों की समानता बताना : (क) साँप, गाय और गौरैया, (ख) पुस्तक, शिक्षक और समाचार-पत्र, (ग) ऊन, रूई, और चमड़ा आदि।

इसी प्रकार प्रौढ़ावस्था तक परीक्षा सरणियाँ बनी हैं।

माप-प्रामाणिकता (Standardization of Tests)

§. [८] बिने द्वारा बुद्धि-माप की खोज तथा बुद्धि-सम्बन्धी अन्य परीक्षाओं के प्रतिफलों के फलस्वरूप विविध क्षेत्रों में अनुसधान, शोध एवं व्यावहारिक प्रयोग किए जाने लगे। बुद्धि-माप-सम्बन्धी प्रामाणिकता की स्थापना भी एक समस्या थी; किन्तु मनोवैज्ञानिकों ने क्रमशः प्रयोगों से उसका समाधान कर लिया। सामान्य रूप से, प्रामाणिकता के स्थापन के लिए यथार्थ विविध वस्तु-भागों का निर्वाचन, परीक्षा-सम्बन्धी प्रयोग एवं प्रतिफल उपस्थित करने के लिए एक निश्चित प्रणाली का होना, एक बड़ी संख्या में परीक्षा की प्रारम्भिक जाँच करना तथा अवस्था-विशेष के लिए उपयुक्त आदर्श उपस्थित करना अपेक्षित है। किसी विशेष प्रमाण को उपस्थित करने के लिए किसी क्रिया के विविध स्वरूपों तथा मापों के विविध भागों

की जाँच परमावश्यक है। इस प्रकार अनावश्यक माप-भागो को छाँट दिया जाता है और उन्हीं को रखा जाता है जिनका वास्तविक सम्बन्ध अधिक मात्रा में उपस्थित होता है। बालमनोविज्ञान-सम्बन्धी साहित्य का अवलोकन करके मनोवैज्ञानिकों ने बच्चों की बुद्धि के माप के लिए जो धारणाएँ उपस्थित की वे हैं : (१) माप बच्चे के लिए अति मनोरंजक होना चाहिए जिससे वह उसे खेल के रूप में ले सके; (२) माप-भागों का सम्बन्ध बच्चे के विशेष पठन-पाठन से नहीं होना चाहिए; (३) माप-भागों में केवल बुद्धि-प्रयोग ही हो तथा (४) माप-भागों का सम्बन्ध एक निश्चित अवधि से ही होना चाहिए। स्टैनफोर्ड विश्व-विद्यालय मे बिने-साइमन बुद्धि-माप शोधा गया और उसकी प्रामाणिकता स्थापित की गयी। इसके पूर्व कि वास्तविक माप-विषय उपस्थित किये जा सके, सहस्रों विषय चुन लिए गए। अनावश्यक विषयों की छँटनी की गयी और उन्हें एक पाठशाला के सहस्र बच्चों तथा पाठशाला जाने के पूर्व की अवस्था के पाँच सौ बच्चो पर प्रयोजित किया गया। देखा गया कि अब भी या तो बहुत-से विषय अति सरल थे या अति कठिन। इस प्रकार विषयों की छँटनी होती चली गई। फिर उन विषयों को अवस्था-विशेष के अनुसार विशेष-विशेष वर्ग मे रखा गया [देखिए प्रकरण .§. ७] यथा, जिन्हें सात वर्ष के औसत बच्चे सफलतापूर्वक कर सके, तथा जो ६ वर्ष के बच्चों के लिए अति कठिन थे तथा ८ वर्ष के बच्चों के लिए अति सरल थे, उनको ७ वर्ष के बच्चों के लिए ठीक समझा गया।

सामूहिक बुद्धि-माप : गत महायुद्धों के काल के प्रयत्न

.§. [९] प्रथम विश्व-महायुद्ध मे बुद्धि-माप के विषय में प्रभूत अवसर तथा प्रेरणाएँ प्राप्त हुईं। अब तक जितने प्रकार के बुद्धि-माप उपस्थित हो चुके थे, वे सभी एक व्यक्ति से सम्बन्धित (Individual Tests) थे। ये व्यक्ति-बुद्धि-माप दो प्रकार के थे : शाब्दिक एवं क्रियात्मक (Verbal and Performance)।

ये कठिनसाध्य तथा अधिक समय लेने वाले थे। इतना ही नहीं, उन्हें कार्यान्वित करने के लिए विशेष योग्यता वाले मनोवैज्ञानिक प्रयोग-कर्ताओ की आवश्यकता पड़ती थी। स्टैन-फोर्ड-बिने पद्धति की सब से बड़ी दुर्बलता यही थी। सन् १६१७ मे यह कठिनाई बहुत मात्रा मे दूर हो गयी। सन् १६१७-१८ मे १,७५०,००० व्यक्तियों की जाँच हुई तथा सन् १६४०-४५ में १०,०००,००० निर्वाचक परीक्षित हो सके! यह थी अमेरिका की अति सुघर एवं सरल प्रणाली जिसका इतिहास बड़ा ही क्रान्तिकारी सिद्ध हुआ। प्रथम महा-युद्ध के पूर्व भी प्रयत्न किए गए थे, किन्तु उनका प्रकाशन नही हो सका था। सन् १६१७ मे व्यक्तियों की बुद्धि की जाँच के लिए मनोवैज्ञानिकों की एक समिति बनायी गयी जिसने शाब्दिक एवं अशाब्दिक दोनों प्रकार के मापों को सामूहिक रूप में शोध कर उपस्थित किया जिन्हे आज आर्मी आल्फा तथा आर्मी बीटा (Group tests : Army Alpha and Beta tests) के नामों से पुकारा जाता है। इस सामूहिक माप-पद्धति ने अमेरिका के सैनिकों के वर्गीकरण मे प्रभूत सहायता दी। आर्मी आल्फा बुद्धि-माप प्रथम सामूहिक बुद्धि-माप है। इस माप मे कागद पर छपे हुए बहुत-से प्रश्न-चिह्न लगा कर, काट कर, अथवा प्रमाणित करके उत्तर के रूप मे प्रदर्शित किये जाते हैं। उत्तर-फलों को पूर्व निर्धारित गुणांकों से मिला कर प्रमाणित किया जाता है। प्रथम महायुद्ध के उपरान्त पाठशालाओं, व्यवसाय केन्द्रों तथा पद-नियुक्तियों में सामूहिक बुद्धि-माप की प्रथा चल पड़ी। द्वितीय महायुद्ध में मापों की विविधता में विकास हुआ और व्यक्तियों के सामान्य वर्गीकरण तथा विशेष उपयोग के लिए सामूहिक माप-पद्धति विशेष रूप से कार्यान्वित होने लगी। अब तो भाँति-भाँति के मापों से प्रतिफल उद्घोषित किये जाने लगे। विविध मापों (Battery of test) के प्रतिफलों का एक रूप दिया जाने लगा और उन्हे एक प्रमाण द्वारा निर्देशित किया जाने लगा, जिसे अंग्रेजी में "स्टैनाइन" (Stanine—a level based on the pooled results of

different tests) कहा जाता है। सफलता अथवा असफलता के विषय में भविष्यवाणी भी होने लगी।

मापों का वर्गीकरण (Classification of Tests)

§. [१०] अब तक के प्रयत्नों से भाँति-भाँति की परीक्षाएँ उपस्थित होती चली गयी हैं। माप-प्रणाली के विकास एवं विविध क्षेत्रों तथा विविध प्रयोजनों मे उसके उपयोग से आज न-केवल बुद्धि-विषयक परीक्षा ही मान्य है, प्रत्युत अन्य परीक्षाएँ भी उतनी ही मान्यता रखने लगी हैं। आज सामान्यतः माप की तीन कोटियाँ प्रचलित हैं: (१) व्यक्तिगत एवं सामूहिक माप (Individual and Group tests); (२) शाब्दिक एवं क्रियात्मक (Verbal and Performance) माप तथा (३) योग्यता एवं कर्तृत्व (Ability and Achievement) के माप। वास्तव मे, इस वर्गीकरण में सभी प्रकार का मिश्रण पाया जाता है। क्योंकि हम निम्न प्रकार से भी मापों को द्योतित कर सकते हैं: (१) व्यक्तिगत शाब्दिक, कर्तृत्व (प्राप्ति) माप, (२) सामूहिक, योग्यता, क्रियात्मक माप यथा (३) सामूहिक, शाब्दिक, कर्तृत्व (प्राप्ति) माप। अब हम नीचे संक्षेप में, इनके पारस्परिक सम्बन्ध का विवेचन उपस्थित करते हैं।

§. [११] बिने-माप एक परीक्षक द्वारा एक बच्चे पर परीक्षित होता है और परीक्षक प्रतिफलों का परिमाण उपस्थित करता है। सामूहिक माप एक ही समय विशेष रूप से छपे कागदों द्वारा बहुत-से व्यक्तियों पर प्रयोगित होते हैं। परीक्षोपरान्त उन परीक्षा-पत्रों के

व्यक्तिगत एवं सामूहिक माप

चिह्नित, अंकित प्रतिफलों के गुणाङ्क (Scores) उपस्थित किए जाते हैं। सामूहिक परीक्षा में परीक्षक तथा परीक्षार्थी का कोई सहभाव (Rapport) नहीं उपस्थित रहता, केवल परीक्षा-पत्रो से ही परीक्षक गुणाङ्कों की परिगणना करता है। किन्तु यह सत्य है कि बुद्धि की अयोग्यता अथवा दुर्बलता की परख के लिए तथा अन्य वैधानिक उपयोगो के लिए व्यक्ति-

गत माप ही उचित होते हैं, क्योंकि किसी विशेष स्थिति मे परीक्षक के लिए यह जानना परमावश्यक हो जाता कि माप यथार्थ है कि नहीं।

.§. [१२] सभी व्यक्ति पढ़े लिखे नहीं हो सकते, कुछ व्यक्तियों की कुछ इन्द्रियाँ भंग भी हो गयी रहती हैं। प्रथम महायुद्ध मे जब सामूहिक माप बना तो परीक्षार्थियों मे कुछ ऐसे थे जो अनपढ़ थे और उन पर आर्मी-आल्फा-माप प्रयोगित नहीं हो सकता था, क्योंकि उस माप में शाब्दिक योग्यता अनिवार्य थी। अतः दूसरा माप भी बना जिसे बीटा कहा जाता है।

शाब्दिक एवं क्रियात्मक माप

इसमें परीक्षा-विषय-भागो (Items) का सम्बन्ध चित्रों, रेखाओ, चार्टों से था और परीक्षार्थियों को रेखा खींच कर, काट कर या चिह्न बना कर समस्याओं का समाधान करना पड़ता था। माप की इस कोटि को, जिसमें शब्दों का प्रयोग नहीं होता था, क्रियात्मक माप कहा जाता है। इसमें फार्म-बोर्ड-ब्लॉक-निर्माण, पहेलियाँ तथा अन्य कौशल-सम्बन्धी वस्तुएँ रहती हैं। बिने भी बहुत से क्रियात्मक विषय-भागो को अपने बुद्धि माप मे रखा है। बिने ने इन विषय-भागो को उन बच्चों के लिए उपस्थित किया था जो बहरे थे, विदेशी थे अथवा अ धे थे और शाब्दिक योग्यता नहीं रखते थे। ध्यान रहे, ये माप क्रियावाही विशेष योग्यता अथवा कौशल के द्योतक नहीं होते। यद्यपि विषय-भागो को करके देखा जाता है, किन्तु उनका सम्बन्ध केवल बुद्धि-सम्बन्धी भविष्यवाणी से ही है। क्रियात्मक माप ८-९ वर्ष के बच्चों के लिए उपयुक्त होते हैं किन्तु इसके ऊपर की अवस्था के लिए शाब्दिक माप बुद्धि के उच्चतम स्तरो को बनाने में अधिक समर्थ होता है।

.§. [१३] बुद्धि-माप अथवा वर्गीकरण-माप (Classification tests) का सम्बन्ध सामान्य शक्ति या योग्यता से है। प्राप्ति-माप व्यक्ति के किसी विशेष अनुभव से उत्पन्न ज्ञान अथवा कौशल को बताते हैं। बुद्धि-मापों के निर्माण मे मनोवैज्ञानिक इस बात का जान-बूझ कर प्रयत्न करता है कि उनके विषय-भागों मे कोई भी ऐसे

न हों जिनका सम्बन्ध तात्कालिक अथवा हाल में प्राप्त अनुभूतियों से हो। किन्तु कर्तृत्व-माप में वह ऐसे विषय-भागों की चिन्ता नहीं करता और उन्हीं को एकत्र करता है अथवा चुनता है जिनका सम्बन्ध उस अनुभूति से हो जिसे वह प्रमाणित करना अथवा जानना चाहता है। इतिहास की कालेज-परीक्षा निरर्थक सिद्ध होगी यदि कोई तीक्ष्ण बुद्धि का परीक्षार्थी बिना पढ़े उसमें अच्छे गुणाङ्क पा ले। परिमाणतः बुद्धि-माप व्यवहार के उन्ही स्वरूपों पर विशेष बल देता है जो अपेक्षाकृत अधिक स्थिर एवं अपरिवर्तनशील हों। किन्तु प्राप्ति-माप अपेक्षाकृत कम स्थिर तथा अधिक परिवर्तनशील व्यवहार स्वरूपों की जाँच करता है और उनपर विशेष महत्व देता है। बुद्धि-माप का सम्बन्ध व्यक्ति के व्यवहार-प्रकाश, उसकी सन्नद्धता तथा दक्षता से है अथवा उसकी सीखने की समर्थता से है। कर्तृत्व या प्राप्ति-माप व्यक्ति के अनुभवों से उत्पन्न ज्ञान तथा कौशल अथवा किसी विशेष योग्यता से सम्बन्धित है। एक व्यक्ति अच्छी बुद्धि का हो सकता है किन्तु वह न पढ़ने के कारण पढ़ने-लिखने में असमर्थ हो सकता है। जिन दिनों बच्चे विवृद्धि से विकसित होते रहते हैं, उन दिनों उनकी बुद्धि तथा उनकी प्राप्ति के गुणाङ्कों में बहुत समता पायी जाती है, क्योंकि अपेक्षाकृत अधिक बुद्धिमान् बच्चा अधिक कर्तृत्व की प्राप्ति में लगता है। किन्तु सोलह वर्ष के उपरान्त जब कि बुद्धि का विकास समाप्त हो जाता है, व्यक्ति का कर्तृत्व (प्राप्ति) समाप्त नहीं होता। प्राप्ति-माप विभिन्न प्रकार के होते हैं। पढ़ने-लिखने से लेकर व्यापार के माप तथा विषयों के माप तक उनका क्षेत्र विकसित है। आजकल भारतीय विद्यालयों में जो परीक्षाएँ होती हैं वे अमनोवैज्ञानिक हैं। अमेरिका ऐसे उन्नत राष्ट्रों में कर्तृत्व-माप का प्रचलन अधिक है।

बुद्धि तथा प्राप्ति के माप

बुद्धि-योग्यता में व्यक्ति-विभिन्नता

§. [१४] बुद्धि-परीक्षा का एक महत्व है व्यक्ति-विभिन्नता का

उद्‌घोष। इतना ही नहीं, इस क्रान्तिकारी पद्धति ने आज किसी जन-संख्या में एक व्यक्ति के उचित स्थान को व्यक्त करने में हमें समर्थ कर दिया है। जन-संख्या की बुद्धि-उपलब्धियों के परिमाण में व्यक्ति अपनी स्थिति पा लेता है। जब बहुत-से व्यक्तियों को मापा जाता है तो उनके गुणाङ्क उच्च तथा निम्न रूप के विस्तार में पाये जाते हैं। यह बात वैसी ही है जैसा कि हम किसी जन-संख्या मे लोगों की ऊँचाई के विषय में जानते हैं। यदि हम ६ से लेकर १६ वर्ष के बच्चों की ऊँचाई मापें तो स्पष्ट होगा कि उनमें अधिकतर बच्चे औसत ऊँचाई के होंगे। बहुत कम बच्चे बहुत ऊँचे या नाटे मिलेंगे। लकड़बग्घे तथा वावने बहुत कम होते हैं, अधिक संख्या बीच में पायी जाती है। हम नीचे एक तालिका उपस्थित करते हैं जो सामान्य रूप से मान्य है :

जनसंख्या में बुद्धि का विभाजन

तालिका

बुद्धि-उपलब्धि का विभाजन

बु उ	जन-संख्या की प्रतिशत संख्या	नाम-करण
१४० के ऊपर	१	प्रतिभाशील
१३०–१३९	२	अति प्रखर
१२०–१२९	८	अति प्रखर
११०–११९	१६	प्रखर
१००–१०९	२३	सामान्य
९०–९९	२३	सामान्य
८०–८९	१६	मन्द
७०–७९	८	निर्बल
६०–६९	२	निर्बल
६० के नीचे	१	असमर्थ

इस प्रकार हम देखते हैं कि १४० बु उ वाले व्यक्ति प्रतिभासम्पन्न

होते हैं, १३० बु उ वाले व्यक्ति अति प्रखर बुद्धि वाले होते हैं और उनकी प्रतिशत संख्या क्रम से १ तथा २ होती है। इसी प्रकार असमर्थ व्यक्तियो की प्रतिशत सख्या १ होती है तथा सामान्य बुद्धि वाले व्यक्तियो की प्रतिशत सख्या ४६ है। यह विभाजन आदर्श रूप में ग्रहण कर लिया गया है।

व्यक्तियों की कोटियाँ

ऊपर की तालिका मे उपस्थित बु उ अपनी व्यावहारिक महत्ता रखती है। वे बच्चे जिनकी बु उ ७० के नीचे होती हैं दोषी (Defective) कहे जाते हैं, क्योंकि हमे अनुभव से ज्ञात है कि ये बच्चे समाज मे अपने को पूर्णतया रख नहीं पाते। ७० तथा ८० के बीच में जो बच्चे पाए जाते हैं उन्हे **सीमास्पर्शी** (Borderline) कहा जाता है, क्योंकि इस दशा में उनका समाजानुकूलन उनके कार्याचरण पर निर्भर करता है। ऐसे बच्चों को यदि कुछ सिखा दिया जाय तो वे अपनी जीवन नौका खे ले जा सकते हैं। यदि उनकी रक्षा न की जाय तो वे असामाजिक हो सकते हैं और तब उनके लिए विशेप सुरक्षा अनिवार्य-सी हो जाती है। ८० तथा ९० के बीच की बु उ मन्द बुद्धि (Dullness) की द्योतक है। इन बु उ वाले व्यक्ति साधारण सामाजिक आवश्यकताओं से ही संतुष्ट पाये जाते हैं और साधारण कार्य-कुशलता वाले होते हैं। ९० या ११० बु उ के बीच में औसत व्यक्ति (Individual of Normal intelligence) पाये जाते हैं। इन्हीं बु उ वाले व्यक्ति इस संसार मे अधिक सख्या में विद्यमान हैं और संसार को चला रहे हैं। ११० से १२० बु उ वाले व्यक्ति प्रखर (Superior) होते हैं तथा १२० से १४० वाले व्यक्ति अति प्रखर (Very Superior) होते हैं। १४० से ऊपर वाले उतने ही कम व्यक्ति होते हैं जितने मूढ़ और उनमें **असाधारण प्रतिभा** (Genius) या सीखने की शक्ति या अभियोजन पाया जाता है और ये बहुत कुछ विलक्षण कार्य कर जाते हैं [देखिए प्रकरण .§.२७]। असमर्थ (Feebleminded) को तीन कोटियों में बाँटा जाता है :

मूर्ख, मूढ़ एवं जड़ (Morone, Imbecile and Idiots)। जड़ लोग अपने शरीर पर नियन्त्रण नहीं रख सकते, बोलने में असमर्थ होते हैं। उन्हे बच्चों के समान सुरक्षा चाहिए, क्योंकि उनकी मानसिक अवस्था केवल २ वर्ष की होती है। मूढ़ व्यक्तियों की मानसिक अवस्था २ से ७ वर्ष तक होती है। ऐसे व्यक्ति मल-मूत्र-क्रिया अपने से कर सकते हैं, चल-फिर सकते हैं, कुछ बोल सकते हैं और कुछ आज्ञाओं का पालन कर सकते हैं। वे पढ़-लिख नहीं सकते और जीवन भर बचपन की कोटि में ही विराजमान रहते हैं। मूढ़ व्यक्ति का पालन-पोषण कठिन कार्य है। किसको इतना अवकाश है? राज्य की ओर से उनकी व्यवस्था होनी चाहिये। मूर्ख लोगों की मानसिक अवस्था ७ से लेकर १० या ११ वर्ष तक होती है। ऐसे व्यक्तियों को पढ़ाया-लिखाया जा सकता है, किन्तु यह केवल ३-४ कक्षाओं तक ही पढ़ पाते हैं। यदि इनकी रक्षा की जाय तो ये समाज में चल सकते हैं, नहीं तो शीघ्र ही विपत्तियों के घेरे में फँस जाते हैं।

बुद्धि-परीक्षा की उपयोगिता

व्यक्ति-विभिन्नता का ज्ञान

§. [१५] बुद्धि-परीक्षा द्वारा आधुनिक समाज के विचारों एवं व्यवहारों पर जितना प्रभाव पड़ा है उसकी बराबरी कोई अन्य मनोवैज्ञानिक अनुसंधान नहीं कर सकता। आज बुद्धि-परीक्षा से उत्पन्न खोजों के बल पर स्पष्ट रूप से शिक्षा-सम्बन्धी सुधार हो सके हैं और व्यक्ति-विभिन्नता (Individual difference) की अभिज्ञता से बड़ी-बड़ी योजनाएँ उपस्थित की जाती हैं। आज बुद्धि-परीक्षा के बल पर नियमन, संयमन, स्थान-निर्धारण, व्यक्तिकरण के पहलू स्पष्ट हो गए हैं।

सिद्धान्ततः आज का सभ्य समाज यह जानने को आतुर रहता है कि व्यक्ति-विभिन्नता कहाँ अधिक है, कौन-सा व्यवसाय किसके लिए श्रेयस्कर हो सकता है और कौन व्यक्ति किस व्यवसाय के लिए उपयुक्त

है। आज व्यक्ति-महत्ता स्थापित हो चुकी है। भले ही व्यक्ति शारीरिक रूप से स्वस्थ न हो, किन्तु अपनी विशेष मानसिक योग्यता के कारण वह समाज में उच्च स्थान ग्रहण कर सकता है। यदि व्यक्ति सुन्दर है, स्वरूपवान् है, किन्तु यदि वह निर्बल बुद्धि का है तो उसका सामाजिक महत्त्व उतना व्यापक नहीं हो उठता जितना कि बुद्धि-सम्पन्न व्यक्तियों का होता है। यह बहुधा देखने में आता है कि निर्बल बुद्धि वाले बच्चों के माता-पिता समाज में अपने को अपमानित समझते हैं और अपने बच्चों की शिक्षा-दीक्षा के लिए रहस्यमय सुविधाएँ उपस्थित करते हैं। बुद्धि व्यक्तित्व का एक महत्वपूर्ण तत्व है। व्यक्तित्व का विश्लेषण सोलहवें अध्याय में होगा। बुद्धि-परीक्षा उन साधनों में प्रथम साधन है जिन्होंने उपेक्षित मानवों का बड़ा कल्याण किया है। बुद्धि-परीक्षा निरपेक्ष ढंग से व्यक्तित्व की एवं मानसिक रूपों की विभिन्नताओं को स्पष्ट कर देती है। इसने वास्तविक स्थिति प्रकट कर दी है। आज विशेष शिक्षा का प्रबन्ध करके निर्बल, सबल तथा दोष-युक्त बुद्धि वाले बच्चों की शिक्षा का प्रबन्ध किया जा रहा है। विशेष पाठशालाओं तथा कक्षाओं का निर्माण (Special Schools and Special Classes) होता जा रहा है। आज अन्धे तथा बहरे बच्चों की पढ़ाई की व्यवस्था हो रही है। ऐसे बच्चों की शिक्षा के लिए विशेष शिक्षक भी तैयार किए जाते हैं। बुद्धि-सम्पन्न (Precocious and Bright) बच्चों के लिए पृथक् व्यवस्था की जाती है। मूर्ख एवं प्रतिभाशाली बच्चों को एक ही प्रकार की शिक्षा देना घोर अमनोवैज्ञानिक है। मन्द-बुद्धि के लिए, साधारण बच्चों के लिए तथा असाधारण बच्चों के लिए पृथक्-पृथक् व्यवस्थाएँ हो रही हैं। आज व्यक्ति पर विशेष बल दिया जाता है और देखा जाता है कि कौन-सा विषय उसके लिए उपयुक्त है।

§. [१६] बुद्धि-सम्बन्धी तथा अन्य परीक्षाओं का एक अन्यतम प्रतिफल है निदान (Diagnosis) करके उचित नियमन (Guidance) उपस्थित करना। मान लीजिए 'श्याम' कठिनाई में पड़ जाता

है, वह पढ़ने मे निर्बल है और पाठशाला के बाहर उपद्रव करता है और असामाजिक कार्य करता है। भला, इस

निदान एवं व्यवस्था में माप-प्रयोग

विषय में बुद्धि-परीक्षा कुछ कर सकती है ? यदि 'श्याम' की बु उ ५० है तो वह अवश्य ही असमर्थ है और वह अपने पैरों पर खड़ा हो सकने में अयोग्य है। यदि 'मोहन' की बु उ ११० है तो स्पष्ट है, उसकी असामाजिकता में वातावरण का तत्व निहित है। ऐसी स्थिति में बुद्धि-परीक्षक यह झुकाव देगा कि 'मोहन' की पढ़ाई मे परिवर्तन करना, वातावरण तथा उसके माता-पिता के व्यवहारों में परिवर्तन लाना बहुत आवश्यक है, नहीं तो मोहन का सुधार नहीं हो सकता। यहाँ 'श्याम' तथा 'मोहन' के विषय में बिना बुद्धि-माप-सम्बन्धी निदान के संयमन उपस्थित करना सम्भव नहीं है। व्यक्ति की कठिनाइयों में मनोवैज्ञानिक अपनी प्रणाली का उपयोग करता है और क्रमशः एक-एक करके सभी कठिनाइयों के मूल मे पहुँचता है और अन्त में सबसे महत्वपूर्ण कारण को खोज निकालता है। ऐसी प्रणाली को **अन्तर-भेदीकरण का निदान** (Differential Diagnosis) कहते हैं। कभी-कभी इस प्रकार के निदान को चित्र द्वारा व्यक्त किया जाता है, जिसे मनोवैज्ञानिक पार्श्व-चित्र या साइकोग्राफ (Psychograph or Profile) कहते हैं। ये चित्र कई प्रकार के प्रामाणिक मापों तथा प्राप्ति-मापों के प्रतिफल होते हैं। इनसे व्यक्तियों की योग्यताओं एवं समर्थताओं की पूरी जानकारी करके उनका पथ-प्रदर्शन किया जाता है।

बुद्धि-विकास का गन्तव्य स्थान

§. [१७] मनोवैज्ञानिकों ने केवल बच्चों के लिए बने माप-दण्डों के विषय-भागों (Items) को कठिन बना कर प्रौढ़ लोगों (Adults) के लिए बुद्धि-माप के उपकरण उपस्थित किए हैं। इन मापों से बुद्धि-सम्पन्न लड़के तथा द्वादशवर्षीय लड़कियाँ उत्तीर्ण हो जाती हैं, किन्तु प्रौढ़ लोग विशेषतया उसमें उत्तीर्ण होते पाये जाते हैं। प्रथम महायुद्ध

में २०-२३ वर्ष के सहस्रो व्यक्ति आर्मी आल्फा तथा बीटा के मापों में परीक्षित किए गए। जिन व्यक्तियो पर माप-प्रयोग लागू किए गए उनकी औसत उपलब्धि १३ वर्ष के बच्चों की अवस्था तक पहुँच सकी। इससे स्पष्ट हुआ कि १३ वर्ष के उपरान्त बुद्धि विशेष नहीं बढ़ती। बड़ा आश्चर्य है, प्रौढ़ लोग १३ वर्ष के बच्चों से अधिक बुद्धिमान् नहीं पाये जा सके! स्टैनफोर्ड-बिने-बुद्धि-माप को सुधार कर १८ वर्ष तक लाया गया है। औसत गुणाङ्क (Scores) १३ वर्ष तक क्रमशः बढ़ सके हैं, किन्तु बहुत कम १५ के उपरान्त तक जा सके हैं। इस प्रकार प्रौढ़ बुद्धि १५ वर्ष तक बढ़ सकी है। मनोवैज्ञानिकों ने सिद्ध किया है कि कुछ व्यक्तियों में बुद्धि कुछ अंशों में १६ या १८ वर्ष तक बढ़ती जाती है। कभी-कभी कुमारावस्था (Adolescence) मे बुद्धि-विकास को बार-बार माप करके देखा जाता है। हाँ, इस विषय में एक ही प्रकार के माप में अभ्यासगत योग्यता को छूट देना आवश्यक हो जाता है। इस प्रकार के प्रयोगो से स्पष्ट हुआ है कि कुछ अध्ययनों से बुद्धि में १५ वर्ष तक तथा कुछ अध्ययनों से १८ या २० वर्ष तक विकास होता जाता है। अन्त मे यही निष्कर्ष उपस्थित होता है कि शारीरिक प्रौढ़ता के समान बुद्धि कुमारावस्था में अपने स्थान पर पहुँच जाती है और १५ से १८ वर्ष तक प्रौढ़ स्तर तक पहुँच जाती है।

बु उ की स्थिरता (Constancy of I Q)

§. [१८] प्रयोगों से ज्ञात हो सका है कि सभी बु उ की औसत १०० तक स्थिर (Constant) रहती है, किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि व्यक्ति की बु उ स्थिर रूप से ही पायी जाय। 'विष्णु' की बु उ उठ सकती है और 'विन्दु' की नीचे गिर सकती है, किन्तु इससे औसत मे अन्तर नहीं पड़ता। व्यक्ति की बु उ में कुछ उतार-चढ़ाव की आशा की जा सकती है, क्योंकि माप के समय कभी तो वह प्रसन्न-चित्त रहता है, कभी अस्वस्थ और कभी माप के विषय-भाग कठिन होते हैं और कभी उसकी अवस्था के स्तर से नीचे होते हैं। परीक्षक भी इसमें उत्तरदायी

सिद्ध होता है : वह शब्द-भाण्डार आदि के विषय-भागो की परिगणना मे कभी तो दया दिखा सकता है और कभी कठिन प्रतीत हो सकता है। बुद्धि-माप तो निर्दोष होता है, किन्तु शरीरावस्था, प्रणाली आदि में अन्तर पड़ने के कारण उतार-चढ़ाव प्रकट हो जाता है। टर्मन तथा मेरिल (Terman & Merrill) ने व्यक्त किया है कि जब कुछ बच्चे एक सप्ताह के भीतर ही परीक्षित हुए तो ऊँची बु उ ६ अंकों तक मध्यम बु उ ५ अंकों तक तथा निम्न बु उ २.५ अंकों तक बढ़ या घट गयीं। कुछ व्यक्तियों में तो इन औसतों से अधिक उतार-चढ़ाव दृष्टिगोचर हुए। बुद्धि-सम्पन्न बच्चों में मन्द-बुद्धि बच्चों की अपेक्षा अधिक उतार-चढ़ाव पाया जाता है। इसी प्रकार ऊँची अवस्था की अपेक्षा छोटी अवस्था में भी उतार-चढ़ाव अधिक देखा जाता है। वास्तव में, ५ से १० तक के अङ्कों का चढ़ाव-उतार विशेष महत्व नहीं रखता, क्योंकि चढ़ाव-उतार के कारण ज्ञात हो जाते ही हैं। बु उ सम्पूर्ण रूप से तो नहीं, हाँ, बहुत अंशों में स्थिर पायी जाती है। बच्चों की बु उ के बल पर भविष्यवाणी बिना किसी विचलन के की जा सकती है, इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं है। वातावरण का प्रभाव भी उतार-चढ़ाव का कारण होता है। बुद्धि एवं आनुवंशिकता तथा वातावरण के प्रकरणों में हमने इस विषय में विस्तार के साथ पढ़ लिया है।

§. [१६] गत प्रकरण के निष्कर्ष को हम विशेष अवस्थाओं में पुनः देखते हैं। ४ या ५ वर्ष की अवस्था के पूर्व की बु उ में कुछ अस्थिरता देखी जाती है। शिर्ले ने यह बताया है कि १ या १½ वर्ष में परीक्षित बुद्धि कालान्तर में परीक्षित होने में कुछ विभिन्नता दिखलाती है। क्रमशः वह अस्थिरता कम होती जाती है। ३ या ४ वर्ष के बच्चों की बु उ में कम अस्थिरता भी गोचर होती हैं। ६ वर्ष से १२ वर्ष तक के बच्चों की बु उ एक-सी रहती है। यदि वातावरण तथा दशाओं में कोई असाधारण अन्तर न पड़े तो बु उ में थोड़े

विशेष अवस्थाओं में बु उ की स्थिरता

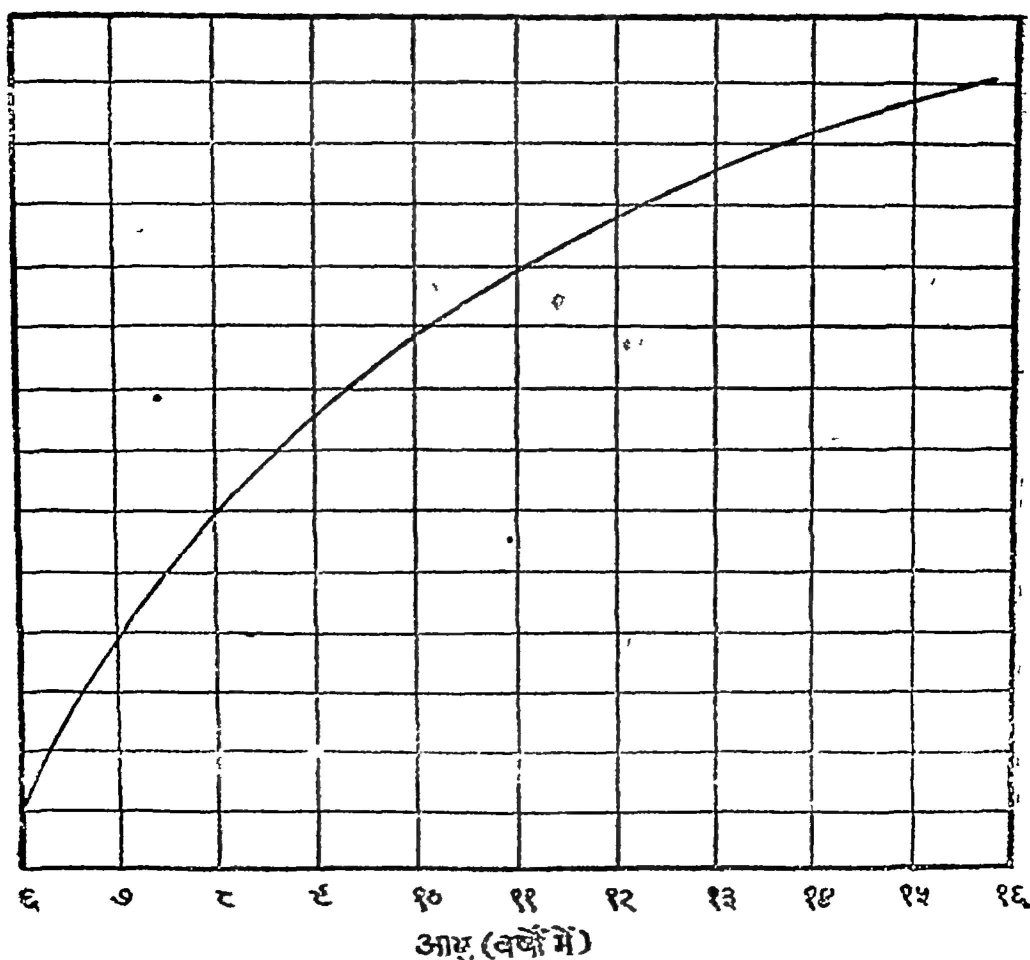
अंकों का अन्तर पड़ता है। १०० में १० से १५ तक के बच्चो में १० अंकों का अन्तर पाया जाता है और शेष ६० या ८५ स्थितियों में यह अन्तर विचारणीय नहीं है क्योंकि अन्तर २-१ अंकों का ही पड़ता है, और वह वातावरण, शरीर-सम्बन्धी क्रियाओं अथवा परीक्षा-विधियों का प्रतिफल होता है। प्रारम्भिक अवस्था में विशेष अन्तर का क्या कारण है? सम्भवतः उस समय बच्चों के बुद्धि-माप के लिये बनाई गयी जाँच-पद्धतियाँ दोषपूर्ण हों क्योंकि बचपन की सारी क्रियाओं का समुचित उपयोग सरल और सुबोध नहीं है। बच्चे बहुधा लज्जाशील, हठी होते हैं। उनके अवधान को समझना सदैव सरल नहीं है। उनकी अभिरुचि के प्रतिकूल जाने पर उनकी मानसिक स्थिति का परिज्ञान नहीं किया जा सकता। अतः बु उ की अस्थिरता का कारण परीक्षा-सम्बन्धी दोष ही कहा जा सकता है। वास्तव में, बड़ी अवस्था मे बु उ की स्थिरता पायी जाती है, क्योंकि उस समय बच्चों के अवधान, अभिरुचि का माप हम यथार्थ रूप से कर सकते हैं और स्वयं बच्चे अपनी इच्छा का उपयोग कर सकते हैं।

बचपन में बुद्धि-विकास के रेखालेखन (Growth curves)

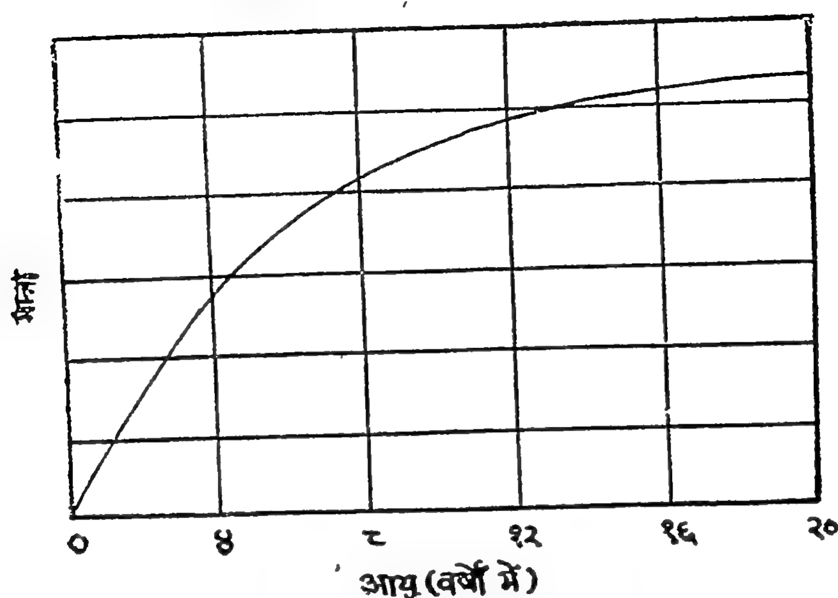
६. [२०] बचपन के बुद्धि-विकास के विषय में तीन प्रकार की रेखा-गतियाँ मिली हैं। यहाँ पर उनकी पूरी व्याख्या अपेक्षित नहीं है। केवल तीन प्रकार के निष्कर्ष नीचे दिये जाते हैं। एक विधि लूह् (Luh) महाशय की है। लूह् ने चीन तथा अमेरिका के बच्चो की बुद्धि-जाँच से रेखालेखन उपस्थित किया है। इस रेखालेखन से अभावात्मक बुद्धि-क्रम प्रकट होता है। एक ही गति से विकास होता जाता है। यहाँ रेखा लॉगरिथ्मिक (Logarithmic) अर्थात् इन्द्र-धनुषाकार है। थार्नडाइक ने भी अपने प्रयोगों से अभावात्मक गति सिद्ध की है, किन्तु उनकी रेखा अर्द्ध-अण्डाकार (Parabolic) है। तीसरी विधि थर्स्टन (Thurstone) की है। यहाँ इंगलिश के 'एस्' के आकार की रेखा बनती है। यहाँ भावात्मक बुद्धि-क्रम देखा

जाता है। किन्तु कुछ अध्ययनों से विकास-क्रम में विभिन्नता पायी गई है। इस रेखा को 'आगिव' (Ogive) अर्थात् अर्द्धधनुषाकार रेखा कहते हैं [देखिए चित्र—१५-१७ ; पृष्ठ २४७-४८]।

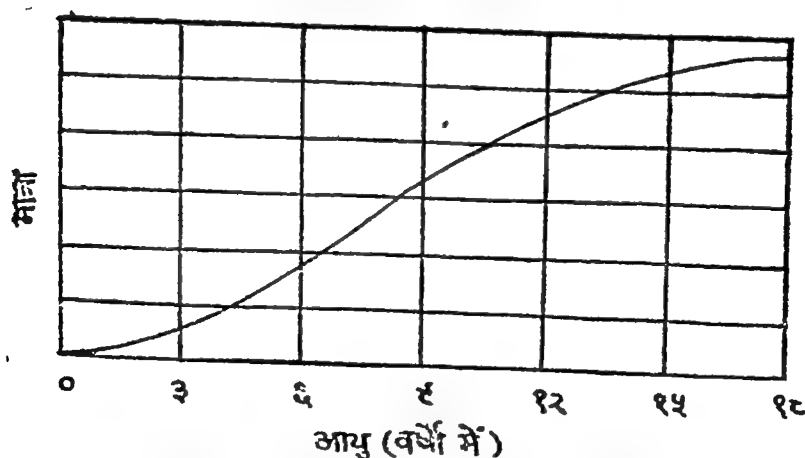
इंद्रधनुषाकार रेखा



चित्र—१५ [लूह की तालिका से उ]



चित्र—१६ [थार्नडाइक की तालिका से उत्पन्न]



चित्र—१७ [थर्स्टन की तालिका से उत्पन्न]

मानसिक विकास की मात्रा के विषय में कुछ निष्कर्ष

§. [२१] यद्यपि मानसिक विकास-मात्रा के विषय में मनोवैज्ञानिकों में कुछ मतभेद है और कुछ जाँच-विधियों से कभी-कभी विचित्र गति

भी देखने में आती है, किन्तु निम्न रूप अविकल रूप से दृष्टिगोचर होता है। प्रारम्भिक बचपन में मानसिक विकास की गति तीव्र होती है। इसके उपरान्त विकास-मात्रा में कुछ कमी आ जाती है जो अभावात्मक होती है। ६ वर्ष की अवस्था में मस्तिष्क की आकार-तौल प्रौढ़ावस्था के तौल की ६०% होती है। थार्नडाइक के अनुसार ६ या ६½ वर्ष की अवस्था में बच्चा अपनी मानसिक अवस्था का ८२% रूप धारण कर लेता है। किन्तु मानसिक विकास की व्यञ्जित रेखाएँ लॉगरिथ्मिक, पैराबलिक या आगिव (Logarithmic, Parabolic or Ogive) है अभी तक यह बात अनिश्चित है।

प्रथम वर्ष में मानसिक विकास

.§. [२२] लिनफर्ट-हीरथोल्ज़र (Linfert-Hiertholzer) की जाँच-क्रिया से प्रथम वर्ण में मानसिक विकास द्योतित किया गया है। दो प्रकार की जाँच-श्रेणियाँ नियत की गयी हैं। एक से तो १ माह से ४ माह के बच्चों की परख होती है, और दूसरे से ६ माह से लेकर १२ महीने तक की। इन परखों से बच्चो की साधारण क्रियावाही और अन्य शक्तियों की जाँच होती है। १ महीने की अवस्था मे बच्चों की ६ प्रतिशत संख्या चित्त-अवस्था में इधर-उधर घूम सकती है, २ महीने में १० प्रतिशत और ४ महीने में ५८ प्रतिशत। १ महीने में १६ प्रतिशत बच्चों की वाक्-क्रिया में 'एह' द्योतित हो जाता है, २ महीनों में ३६ प्रतिशत, ४ महोनों में ८४ प्रतिशत। ६ महीनों में १६ प्रतिशत बच्चे रेंगने लगते हैं, ६ महीनों में ७१ प्रतिशत तथा १२ महीनों में ८८ प्रतिशत। ये क्रियाएँ मानस भी हैं।

आनुवंशिकता तथा वातावरण का बुद्धि पर प्रभाव

.§. [२३] यह एक विवाद-ग्रस्त विषय है। दो प्रकार के सिद्धान्त प्रतिपादित किए जाते हैं। आनुवंशिकता-सिद्धान्त वाले (Hereditarians) कहते हैं कि बुद्धि स्वाभाविक है, जन्म के समय ही निश्चित रहती है और समय से विकास पाती है। वातावरण-सिद्धान्त वाले

(Environmentalists) ठीक इसके विपरीत कहते हैं। उनका कहना है कि सब कुछ वातावरण है; वातावरण ही बुद्धि के तत्वों को, जो संगठित होकर किसी व्यक्ति को बुद्धि का स्वरूप देते हैं, संगृहीत करता है। चाहे जो सिद्धान्त सत्य हो, इतना स्पष्ट है कि वातावरण विकास में सहायक होता है और बुद्धि स्वाभाविक तत्व है। एक ही घर के विभिन्न लड़के विभिन्न बुद्धि के भी होते हैं, मूर्ख पिता की सन्तानें बुद्धिमती भी होती हैं। हम बहुधा देखते हैं कि वातावरण की व्यवस्था से बुद्धि विकसित होकर ज्ञान का रूप धारण करती है। यहाँ इतना ही कहना अपेक्षित है कि बच्चों की बुद्धि का विकास एक क्रमिक योजना है, जिसपर मूलप्रवृत्तियों और वातावरण आदि का प्रभाव पड़ता है जिससे वह निखरती जाती है। क्या सामाजिक तथा आर्थिक दशा का प्रभाव बुद्धि-विकास पर पड़ता है? परीक्षाओं से यह सिद्ध किया गया है कि धनी घराने के लड़के दरीद्र घरों के लड़कों से अधिक संख्या में बुद्धिमान पाए जाते हैं। कभी-कभी यहाँ अपवाद भी पाया जाता है। इसका कारण नैसर्गिक तथा वातावरण-सम्बन्धी विभेद है, जिसकी व्याख्या ऊपर हो चुकी है। कौन-सी जाति अधिक बुद्धिमती है? इस पर भी बहुत से प्रयोग किए गए हैं; किन्तु कुछ मनोवैज्ञानिकों ने ऐसे निष्कर्षों को अधिक महत्त्व नहीं दिया है, क्योंकि अबतक की जाँच-क्रियाओं के विभिन्न स्वरूपों में कौन-से समीचीन हैं, कौन हटा देने चाहिएं, कौन-कौन से प्रभेदसूचक हैं, आदि बातें विवाद-ग्रस्त हैं। जाति-गरिमा बुद्धि की माप से नहीं तय की जा सकती है। हाँ, सास्कृतिक सुविधाएँ अथवा आर्थिक परिस्थितियाँ बहुत सीमा तक बुद्धि-सम्बन्धी निर्णयों को स्थापित करती हैं। जब मनोवैज्ञानिकों ने यह तय किया कि दरिद्र घरों के लड़कों की बुद्धि धनी घरों के लड़कों की बुद्धि से तीक्ष्ण नहीं होती और मजदूर किसानों के लड़के बड़े घरानों तथा धनिक लड़कों से विद्या-विकास, ज्ञान-विकास में आगे नहीं जा सकते, तो रूस ने अपनी साम्यवाद की व्यवस्था में मनोविज्ञान को देश निकाला कर दिया। यह एक विचित्र घटना

है जो मनोविज्ञान के भविष्य तथा राजनीतिक देशों की विभिन्न परम्पराओं की सूचक है ! मनोवैज्ञानिक आशावादी होता है। वह अपने अध्ययन से वातावरण को ठीक करने की योजना भी देता है। हम आगे के दो प्रकरणों में प्राप्त उपकरणों के आधार पर बुद्धि एवं आनुवंशिकता तथा बुद्धि एवं वातावरण पर प्रकाश डालते हैं।

आनुवंशिकता का परिमाण

§. [२४] (१) आनुवंशिकता के प्रभाव को जानने के लिए भाँति-भाँति के प्रयोग किए गए हैं। एक ही कुटुम्ब के लोगों, अथवा सगे सम्बन्धियों के बुद्धि-मापों से भाइयों, बहनों, माता-पिताओं तथा सम्बन्धियों की बुद्धि-उपलब्धियाँ प्राप्त की गयी हैं। नीचे हम एक तालिका उपस्थित करते हैं जो बुद्धि के सम्बन्धन (स) (Coefficient of Resemblance in intelligence between various degrees of Relationship) को बताती है :

व्यक्ति-सम्बन्ध	सम्बन्धन
समान जुड़वाँ (युग्मज)	·९०
असमान जुड़वाँ (युग्मज)	·७०
छोटे-बड़े सगे भाई-बहन	·५०
माता-पिता-सन्तान	·५०
चचेरी सन्तान	·३०
पितामह पौत्र-पौत्री	·१५
अनाथ या असम्बन्धी	·००

[टिप्पणी ; स वह सम्बन्धन है जिसे व्यक्तियों के जोड़ों के बुद्धि-माप-गुणाङ्कों से प्राप्त किया गया है, यथा, एक जुड़वाँ का दूसरे जुड़वाँ के गुणाङ्क से, एक चचेरी सन्तान का दूसरी चचेरी सन्तान के गुणाङ्क से ·······आदि। [देखिए लेखक का सामान्य मनोविज्ञान पृष्ठ ६३३-८५]

ऊपर की तालिका बताती है कि समान जुड़वाँ बच्चों में अत्यधिक समानता है, तथा अन्य भाई-बहनों में अपेक्षाकृत मध्यम समानता है। माता-पिता-सन्तान तथा पितामह-पौत्र-पौत्री के सम्बन्धन में कितनी दूरी

है ? ·३५ का अन्तर है। अनाथों तथा असम्बन्धियों में कोई सम्बन्धन नहीं है। ये प्रयोग-प्रतिफल तथा इसी प्रकार के अन्य प्रतिफल यह सूचित करते हैं कि बुद्धि में आनुवंशिक तत्त्व का परिमाण अधिक है। यह है प्रथम प्रकार की साक्षी का आदर्श स्वरूप। (२) दूसरे प्रकार की साक्षी का आदर्श-स्वरूप उन प्रयोगों से मिलता है जो विश्व के अधिकतर प्रत्येक देश में प्रतिदिन किए जाते हैं। यदि एक ६ या ७ वर्ष के मन्द-बुद्धि बच्चे के लिए उत्तमतम शिक्षक रखे जायें और उसके लिए सभी प्रकार की शिक्षण-सम्बन्धी आवश्यकताएँ एवं दशाएँ उपस्थित की जायें, तब भी उसके स्तर में कोई अन्तर नहीं दीख पड़ेगा। किन्तु यदि इन्हीं परिस्थितियों में किसी बुद्धि-सम्पन्न बच्चे को रखा जाय तो वह न-केवल बहुत कुछ सीख जाता है, प्रत्युत सामग्रियों से अधिक जानकारी पा जाता है। मन्द-बुद्धि की सम्भावनाएँ कुछ भी नहीं होतीं, किन्तु बुद्धि-सम्पन्न बच्चे अधिक सम्भावनाएँ उपस्थित कर देते हैं। सामान्य अथवा प्रखर बुद्धि वाले बच्चे बिना शिक्षकों के भी बहुत कुछ सीख जाते हैं, किन्तु निर्बल बुद्धि वाले बच्चे बहुत कम ऐसा कर पाते हैं। उत्तमतम शिक्षण-संस्थाओं के रहते हुए भी व्यक्ति-विभिन्नता पायी जाती ही है। (३) तीसरे प्रकार की साक्षी का आदर्श स्वरूप दो सम्बन्धियों के अध्ययन से प्राप्त होता है। पिता की बुद्धि के स्तर एवं उसकी व्यवसाय-स्थिति के सम्बन्ध से, तथा उसके दो, तीन या चार वर्ष के बच्चों के बुद्धि-स्तर एवं उसकी व्यवसाय-स्थिति से हमें बहुत कुछ ज्ञात होता है। यदि वातावरण अधिक उत्तेजक हुआ तो पिता के लिए सम्बन्ध उच्च होगा, किन्तु बच्चों के लिए निम्न, क्योंकि बच्चों का वातावरण से भिड़ान कम हो पाता है। वास्तव में, सम्बन्ध वही होते हैं, किन्तु व्यक्ति के भीतर "कुछ" होता है जो क्रियमाण शक्ति के स्तर को निश्चित करता है। (४) चौथे प्रकार की साक्षी का आदर्श-स्वरूप आश्रित या अनौरस सन्तानों को गोद लेने से पूर्व उनकी बुद्धि के स्तर से प्राप्त किया जाता है। इस विषय में बहुत-सी खोजें की गयी हैं। ऐसे बच्चे या तो अच्छे स्तर के घरों में मध्यम स्तर के घरों में या

निम्न स्तर के घरों में जाते हैं। क्या कुछ वर्षों के उपरान्त ये बच्चे अपने पालने वाले के अनुरूप होते हैं या अपने वास्तविक माता-पिता के? अर्थात् क्या यहाँ वातावरण उनकी बुद्धि की निश्चयता में अधिक प्रभावशील होता है या आनुवंशिकता? सम्बन्धन-समानता तो यही बताती है कि ये बच्चे अपनी बुद्धि में अपनी आनुवंशिकता ही प्रदर्शित करते हैं, अर्थात् वे अपने माता-पिता के अनुरूप होते हैं। हाँ, अन्य गुणों में, जैसे व्यक्तिता एवं चरित्र के स्वरूपों में, वे कुछ अपने पालक के अनुरूप होते हैं। ये प्रतिफल प्रदर्शित करते हैं कि मानव के कुछ निर्माण-तत्त्व आनुवंशिकता से ही अभिभूत होते हैं।

बुद्धि तथा वातावरण

६. [२५] (१) प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक शर्मन ने इस विषय में प्रथम साक्षी अमेरिका के अति अविकसित वर्जीनिया-निवासियों को पढ़ कर प्रस्तुत की है। उन्होंने संयुक्तराज्य की अति विकसित जाति से उस जाति की तुलना भी की है। अति अविकसित जाति के बच्चों में पठन-पाठन कुल मिला कर एक वर्ष तक चलता था, और उनके लिए डाक्टर-नर्स की व्यवस्था नहीं थी। उनके आवागमन के लिए सड़कें तक न थीं, अश्वों पर ही आवागमन होता था। शर्मन ने एक दूसरी जाति में देखा कि उसके बच्चे कई वर्षों तक पढ़ते थे। उन्होंने अति विकसित जातियों के बच्चों को भी पढ़ा जिनके लिए आधुनिक युग की सभी आवश्यकताएँ प्रस्तुत थीं यथा—अच्छी सड़कें, पाठशालाएँ, रेडियो तथा आवागमन के लिए मोटर आदि। इन बच्चों की बुद्धि की परीक्षा की गयी और पाया गया कि उन छोटे-छोटे बच्चों के औसत गुणाङ्क (जब कि उन पर वातावरण का प्रभाव विशेष रूप से नहीं पड़ सका था) आपस में बहुत समान थे। किन्तु जब वे बच्चे बढ़ गए और १० या कुछ अधिक वर्षों के हो गए और उनकी बुद्धि-परीक्षा की गयी तो देखा गया कि विकसित सभ्यता वाले बच्चों के गुणाङ्क अविकसित सभ्यता वाले बच्चों की अपेक्षा कुछ अधिक थे। इससे स्पष्ट होता है कि वातावरण के समृद्ध एवं उत्तेजक लक्षण गुणाकों पर

कुछ प्रभाव डालते हैं। (२) दूसरे प्रकार की साक्षी उन प्रयोगों से प्राप्त की गयी है जिनके द्वारा यह जानने का प्रयत्न किया गया है कि शिशु-पाठशालाओं (Nursery schools) में भेजे जाने वाले बच्चों की बुद्धि-उपलब्धियों मे बढ़ती पायी जाती है कि नहीं। इन प्रयोगों के प्रतिफल एक स्वर से कुछ कह नहीं पाते। यद्यपि कुछ अध्ययनों से यह ज्ञात हो सका है कि यदि अनाथ बच्चे बुरे वातावरण से अच्छे वातावरण में पाले जायँ तो उनकी बु उ में भावात्मक प्रभाव देखा जाता है। समान जुड़वाँ बच्चे, जिनमें बहुत अनुरूपता पायी जाती है, यदि विभिन्न वातावरणों में पाले जाते हैं तो उनकी बु उ में कुछ अन्तर अवश्य पड़ जाता है। किन्तु ये उदाहरण वातावरण की सजगता की अपेक्षा आनुवंशिकता के तत्वों को ही प्रमाणित करते हैं। (३) अन्तिम साक्षी जो प्रस्तुत समस्या का सर्वोत्तम विश्लेषण है, श्री शटलवर्थ द्वारा प्रस्तुत की गयी है। उन्होंने सभी साक्षिओं की परीक्षा बड़ी सावधानी से की है। इनका कहना है कि बुद्धि की परिवर्तनशीलता का अधिकांश आनुवंशिकता पर निर्भर करता है, बहुत थोड़ा अंश वातावरणजन्य होता है। इतना ही नहीं, कुछ अन्तर का कारण माप-पद्धति की त्रुटियों एव अचानक घटित घटनाओं में पाया जाता है।

बुद्धि-सम्पन्न बच्चे (Precocious children)

§. [२६] हमने ऊपर देख लिया है कि बुद्धि-सम्पन्न बच्चा की संख्या न्यून होती है। ऐसे बच्चे पाठशाला की पढ़ाई को बहुत सरल समझते हैं और ऐसी-ऐसी समस्याओं का हल करने लगते हैं जो उनकी अवस्था को सीमा के ऊपर की होती है। ऐसे बच्चों की क्रियमाण-शक्ति लोगों को चकित कर देती है। बहुधा लोग कहा करते हैं कि ऐसे बच्चों की अकाल प्रौढ़ता (Precocity) उन्हे अस्वस्थ बना देती है और वे मानसिक कठिनाइयों से संकुल हो जाते हैं। ऐसे विश्वासों में सत्य कहाँ है ? प्रो० टर्मन ने इसी प्रकार के एक सहस्र बच्चों को सन् १६१० में चुना और उनके जीवन को सूक्ष्म दृष्टि से पढ़ा।

उन्होंने सामान्य बच्चों को भी इतनी ही संख्या में लिया और इस प्रकार दो कोटियाँ बनाईं : नियन्त्रित दल एवं अनियन्त्रित दल। एक दल को उन्होंने पाठशाला, समाज तथा जीवन के अभियोजन के साथ देखा और उसकी तुलना दूसरे दल से करते रहे। आज (१९५२ ई० में) ये प्रतिभाशाली बच्चे अति प्रौढ़ हैं और भाँति-भाँति के जीवन-कार्यों में लगे हैं। ये व्यक्ति न तो पागल हैं और न हैं कुव्यवस्थित व्यक्तिता वाले। ये सामान्य व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक स्वस्थ, कुशल तथा प्रसन्न हैं। सामान्य लोगों की अपेक्षा इनमें कम ही व्यक्ति मानसिक रोगों से संकुल हुए अथवा 'दोषी' सिद्ध हुए।

बहुधा लोग कहा करते हैं कि आरम्भिक प्रखरता भयंकर होती है। इस विश्वास में भी सत्य कहाँ है ? बहुधा लोग अपवाद को ही सामान्य सत्य का रूप दे देते हैं। हारवर्ड यूनिवर्सिटी का एक व्यक्ति, जिसने १६ वर्ष की अवस्था में ही बी० ए० की डिग्री प्राप्त की थी, अन्त में पागल हो गया और पागलखाने में वास करने लगा। इसको लेकर पत्रों में बड़ा हौ-हल्ला चला। उस व्यक्ति को सभी जानते थे अतः उसके पागल हो जाने पर एक असत्य विश्वास ने घर कर लिया। जब उस व्यक्ति ने अपनी प्रतिभा का परिचय दिया था तो एक अन्य व्यक्ति भी था, जिसे पत्र या समाचार-प्रकाश नहीं मिला था। आज वह अमेरिका का एक प्रसिद्ध वैज्ञानिक है। किन्तु लोग इस बात को भूल कर पहली बात ही स्मरण रखते हैं ! दो प्रतिभा-सम्पन्न बच्चों ने एक हत्या कर डाली और समाचार-पत्रों में उस घटना का बड़ा प्रचार हुआ, किन्तु उन्हीं बच्चों के साथ अन्य सहस्रों बुद्धि-सम्पन्न बच्चे भी थे, जो बड़े ठाट से विद्याध्ययन कर रहे थे ! वास्तव में, बहुधा लोग अपवाद को लेकर ही अकाल प्रौढ़ बच्चों के विषय में सोच लिया करते हैं कि वे अन्त में कुव्यवस्थित व्यक्तित्व वाले होंगे।

अद्भुत शक्ति अथवा विलक्षणता (Child Prodigies) वाले बच्चे दो कोटियों में रखे जाते हैं : (१) वैसे बच्चे जो सामान्य बुद्धि में बहुत आगे होते हैं अर्थात् उनकी बु उ बहुत ऊँची होती है

तथा (२) वे बच्चे जिनमें विशेष योग्यता के लक्षण दीख पड़ते हैं, यथा संगीत या कला की योग्यता। सामान्यतः विलक्षण विशेष योग्यता आरम्भिक कालों में ही प्रकट हो जाती है और कुछ बच्चे इस प्रकार कुछ कौशलपूर्ण कार्यों मे इतने आगे होते हैं कि उनके माता-पिता उनसे बड़ी-बड़ी आशाएँ करने लगते हैं, किन्तु बहुधा उनके स्वप्न पूरे नहीं होते। १७० बु उ वाला एक बच्चा अपने माता-पिता की दृष्टि में आरम्भिक दिनों में अधिक कलात्मक समर्थता दिखा सकता है, किन्तु वह बढ जाने पर अन्य मध्यम बच्चों के कौशल से पीछे पड़ सकता है। १० या ११ वर्षों के उपरान्त ही कलात्मक योग्यता का विकास होता है। इस अवस्था के पूर्व बच्चा वही चित्र खींचता है जिसे वह जानता है न कि जिसका वह निरीक्षण करता है। ६ वर्ष का बच्चा साड़ी के बाहर नारी के पावों को खींच सकता है, अथवा वह किसी घुड़सवार को इस प्रकार खींच सकता है कि घोड़े की पीठ भी दिखाई पड़ती है। ऐसा क्यों होता है? बच्चा ऐसा इसलिए करता है कि वह पावों तथा घोड़े की पीठ आदि को उसी रूप में जानता है। किन्तु बड़े बच्चे निरीक्षण का अधिक उपयोग करते हैं और उनके चित्र में पट-भूमिका अथवा दृश्य-रूप (Perspective) पाया जाता है। अतः जब तक बच्चा निरीक्षण (मनोयोग + प्रत्यक्षीकरण) में कुशल नहीं हो पाता उसके भविष्य के विषय में पहले से ही निर्धारणा बना लेना श्रेयस्कर नहीं है। संगीत-योग्यता आरम्भ में ही प्रकट हो जाती है। दो वर्ष का एक बच्चा १५० फोनोग्राफ-रेकर्डों में सभी की पहचान कर लेता था और वह आठ वर्ष की अवस्था में एक अच्छा संगीतज्ञ हो सका। यह अपवाद नहीं है। संगीतज्ञों के पूर्व जीवन के अध्ययन से यही तथ्य उपस्थित होता है। गणित-योग्यता भी आरम्भिक दिनों में ही अभिव्यक्त हो जाती है। यदि आप प्रसिद्ध गणितज्ञों के बचपन को ध्यान-

बच्चों की विलक्षणता: कलात्मक, संगीतात्मक, गणितात्मक, साहित्यिक विशेष योग्यताएँ

पूर्वक पढ़ें तो यही तथ्य स्पष्ट होता है। गणित-सम्बन्धी विशेष योग्यता से उत्पन्न बहुत से अनुसंधान कुमारावस्था में ही प्रकट हुए हैं। भारत के प्रसिद्ध गणितज्ञ रामानुजम् (मद्रास) तथा डा० अवध उपाध्याय (बलिया, उत्तर प्रदेश) की कहानियाँ प्रसिद्ध हैं। साहित्यिक विशेष योग्यता बहुधा कुमारावस्था के पूर्व नहीं प्रकट होती। कुछ साहित्यिक तो प्रौढ़ावस्था में ही चमकते हैं। मानी हुई बात है, साहित्यिक अभिचेतना के लिए अद्भुत निरीक्षण अपेक्षित है और यह अनुभूतियों तथा प्रौढता की अनुगामिनी होती है। शब्दों तथा उनके विन्यास की विशेष योग्यता पर ही साहित्यिक प्रतिभा फूटती है। किन्तु बहुत से साहित्यिकों का आरम्भिक जीवन यह बताता है कि उनमे शब्दों के प्रति झुकाव अथवा लेखन-प्रेम आरम्भिक दिनों में ही प्रकट हो गया था और वे किशोरावस्था मे ही उपन्यास लिखने में समर्थ हो सके थे।

सामान्य एवं विशेष योग्यता के परिमाण तथा मात्राएँ

§. [२७] इस प्रकार हम देखते हैं कि बुद्धि में सामान्य योग्यता तथा विशेष योग्यता पायी जाती है। व्यक्तियों में इन दोनों प्रकार की योग्यताओं में असमानता भी पायी जाती है। अध्ययन से पता चला है कि उच्च सामान्य योग्यता वाले व्यक्ति में जब अद्भुत विशेष योग्यता भी साथ चलती है तो वे बहुत कुछ कर सकने में समर्थ होते हैं। किन्तु जिन बच्चों में विशेष योग्यता अधिक होती है किन्तु सामान्य योग्यता की मात्रा कम होती है वे आरम्भिक काल में तो चमक उठते हैं किन्तु अन्त मे वे सामान्य योग्यता से सम्पन्न व्यक्तियों द्वारा पराजित हो जाते हैं। संगीत में कोई बच्चा आरम्भिक दिनों में दीप्तिमय हो सकता है, किन्तु उत्तर-कालीन दिनों में वह सामान्य योग्यता वाले बच्चों से पीछे पड़ जाता है। संगीत-लेखक में दोनों प्रकार की योग्यताएँ पायी जाती हैं। विशेष योग्यता के आधार पर कला में उन्नति सीमित होती है, कुछ दिनों पश्चात् आगामी उन्नति विशेष योग्यता एवं सामान्य योग्यता के

संयमन एवं संगठन पर ही निर्भर करती है। कभी-कभी विशेष योग्यताएँ इन्द्रिय-दोष के साथ भी चलती हैं। इस प्रकार के उदाहरण बहुधा देखने में आते हैं यथा अंधे विशेषतः गायक होते हैं।

§. [२८] मनोवैज्ञानिकों ने उच्च समर्थता के बढ़ाव के लिए बहुत बल दिया है। बहुधा कुछ बच्चों को लोग आरम्भिक दिनों में अत्यधिक ढंग से बिगाड़ देते हैं। ऐसे बच्चे अहंकारी हो जाते हैं। संगीतज्ञ, कवि, लेखक, चित्रकार, कलाकार आदि बहुधा अहंकारी होते हैं। क्यों? क्योंकि उनके आरम्भिक दिनों में लोग उनकी अधिक प्रशंसा कर देते हैं और उनमें स्व-भाव उत्पन्न हो जाता है। ऐसे व्यक्ति असामाजिक हो जाते हैं और उनमे असाधारण प्रवृत्तियाँ गूँजने लगती हैं। अतः यह परमावश्यक है कि ऐसे बच्चों को सामान्य सामाजिक जीवन से ओत-प्रोत रखा जाय जिससे वे सुव्यवस्थित व्यक्तिता प्राप्त कर सकें। बहुधा कुछ बच्चे आरम्भिक कक्षाओं मे अच्छी योग्यता से परीक्षाओं में उत्तीर्ण होते हैं किन्तु आगे चल कर वे निकम्मे हो जाते हैं और उनमें आत्म-हीनता की ग्रन्थि उत्पन्न हो जाती है और वे जीवन में असफल हो जाते हैं। इसके विपरीत कुछ बच्चे सामान्य योग्यता के अभाव के कारण आरम्भिक काल में उपहास के पात्र होते हैं किन्तु अन्त में चमकने लगते हैं। बहुत से वकील जो यूनिवर्सिटी की डिग्रियों को तृतीय श्रेणी में ही प्राप्त करते हैं, अपनी विशेष योग्यता के कारण समाज में उन्नत पद प्राप्त करते हैं। जब उच्च लड़के शोषित हो जाते हैं अथवा सम्मान या आर्थिक कारणों से प्रकाश में लाए जाते हैं, तो वे अन्त में आसन्न विपत्तियों या जीवन-संकुलता से आक्रान्त हो जाते हैं। भाग्यवश, बुद्धि-सम्पन्न बच्चों के अधिकांश माता-पिता अपने बच्चों को इस प्रकार शोषित नहीं करते।

चेतावनी



बारहवाँ अध्याय

बच्चों के खेल तथा बचपन-विकास

(Play & Development in Childhood)

.§. [१] हमने बचपन-विकास में प्रेरणात्मक एवं रुच्यात्मक महत्व, के अध्याय में देख लिया है कि खेल बच्चों का जन्मजात स्वभाव है। खेल के साथ कोई विशेष संवेग नहीं होता, अपितु भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में भिन्न-भिन्न संवेगों का मिश्रण होता है। जन्म से लेकर प्रौढ़ावस्था तक बच्चों के खेल में भिन्न-भिन्न परिवर्तन दृष्टिगोचर होते हैं। वातावरण में बच्चे अपनी कल्पना के अनुसार स्फूर्तिमय क्रियाएँ करते हैं। सचमुच, खेल (Play) स्फूर्तिमय क्रिया है जिसके मूल में स्वतन्त्रता है। जब बाध्य होकर कोई कार्य (Work) किया जाता है तो उसमें खेल का प्राण नहीं रहता। खेल और कार्य में बहुत अन्तर है। खेल और कार्य को हम एक रूपक द्वारा समझ सकते हैं। यह रूपक वाटिका में माली की क्रियाओं से स्पष्ट है। जब माली अपनी जीविकोपार्जन की समस्या समझ कर वाटिका में कार्य करता है तो वह खेल नहीं है, किन्तु वाटिका का स्वामी अपने अवकाश के क्षणों में जब फूल-पत्तियों में लग जाता है, तो वह खेल का रूप धारण कर लेता है। प्राचीन काल से ही बच्चों के खेल की क्रियाओं तथा स्वभाव के प्रति बड़े-बड़े विचारकों तथा दार्शनिकों ने अपने सिद्धान्त प्रतिपादित किए हैं। पहले हम उन्हीं का अध्ययन करेंगे जिससे आगे के प्रकरणों की भूमिका स्पष्ट हो जाय।

खेल एवं कार्य

खेल के विभिन्न सिद्धान्त (Theories of Play)

.§. [२] (१) खेल का एक पुराना सिद्धान्त है जिसे प्रवृद्ध शक्ति-व्यय का सिद्धान्त (The Surplus Energy Theory) कहते हैं। इसके प्रतिपादक हैं श्री हरबर्ट स्पेंसर। किन्तु यह सिद्धान्त बहुत प्राचीन है। केवल विशेष व्याख्या करने से ही स्पेंसर का नाम उस सिद्धान्त

के साथ लगा दिया गया है। शिलर महोदय ने भी ऐसा ही कहा था।

प्रवृद्ध शक्ति-व्यय का सिद्धान्त

अतएव इसे शिलर-स्पेंसर का सिद्धान्त (The Schiller-Spencer Theory) भी कहते हैं। स्पेंसर महोदय कहते हैं कि बच्चे आवश्यकता से अधिक शक्ति रखने के कारण खेलते हैं, अतः खेल उनकी अतिपर्याप्त (Superfluous) शक्ति का निर्दोष मार्गीकरण है। बात चाहे जो हो, यह सत्य है कि बच्चे पैर फेंकते हैं, कर्कश शब्द उत्पन्न करते हैं, कूदते हैं, फाँदते हैं, दौड़ते है, भागते हैं और इन क्रियाओं मे वे अपनी प्रभूत शक्ति की अभिव्यक्ति करते हैं। किन्तु यह सिद्धान्त पूर्ण जीवन का द्योतक नहीं है। बच्चे शक्ति-अभाव में भी खेलते हैं। क्या रोगी बच्चा नहीं खेलता? बहुत से खेलों मे शक्ति की कोई विशेष आवश्यकता भी नहीं देखी जाती। कुछ खेल तो केवल शक्ति-संचय के लिए खेले जाते हैं। यह सिद्धान्त इसे यह बताने में अशक्त है कि खेल के विभिन्न स्वरूप क्यों होते हैं, और खेल-सम्बन्धी अभिरुचियाँ बच्चों के विकास-क्रम में अवस्था-विशेष से परिवर्तित क्यों होती जाती हैं। स्पेंसर ने अपने सिद्धान्त को इञ्जिन के प्रभूत वाष्प को निकाल देने की क्रिया से स्थापित करने का उद्योग किया है। इञ्जिन का अतिरिक्त वाष्प सेफ्टी वाल्व से अपने-आप निकल जाता है, यह सत्य है; किन्तु उस वाष्प का कोई विशेष प्रयोजन नहीं है। बच्चे खेल से अपने शरीर के अवयव को सुदृढ़ करते हैं, अपनी अनुभूतियाँ बढ़ाते हैं। प्रसन्नता से उनके मन का विकास होता है। अत: स्पेंसर का सिद्धान्त भ्रामक तथा एकांगी है। (२) स्विजरलैण्ड के कार्ल ग्रूस (Karl Groos) नामक मनोवैज्ञानिक ने पशुओं तथा बच्चों के खेलों का गम्भीर अध्ययन करके यह स्पष्ट किया है कि खेल

भविष्य जीवन की तैयारी वाला सिद्धान्त

भावी जीवन की तैयारी (Anticipatory Theory : The Preparation for Future Adult activities) है। पशुओं और बच्चों के खेल स्वाभाविक ईहाएँ (Instinctive

urges) हैं जो उन्हे प्रौढ़ जीवन के कठिनतम कार्यों को करने के लिए पहले से ही सन्नद्ध करती हैं। बिल्ली का एक छोटा बच्चा एक गोली के पीछे इसलिए दौड़ता है कि उसे अन्त में पक्षियों को उसी प्रकार पकड़ना है। बच्चों के खेल भी उनके आगामी कार्यों के सूचक हैं। लड़कियाँ गुड़ियों से खेलती हैं, क्योंकि अन्त में उन्हें एक दिन माँ बनना है और छोटे बच्चों की सेवा करनी है। लड़कियों के खेल, जैसे मिट्टी की रोटी बनाना, विवाह करना, विदा करना, आदि उनके भविष्य जीवन के दुस्तर कार्यों के संकेत हैं। इसी प्रकार लड़के घर-घरौंदा के खेल खेलते हैं, क्योंकि उन्हें मकानादि बनाने हैं। लड़के प्रौढ़ लोगों की अनुकृति कर नाट्य करते हैं; कभी साहूकार, तो कभी चोर, डाक्टर, नेता, सिपाही आदि का अभिनय करते हैं। ये खेल क्या हैं? कार्ल ग्रूस के सिद्धान्त के अनुसार ये खेल जीवन-संग्राम में विभिन्न स्थितियों के सूचक हैं। भला बच्चों को पहले से ही बड़ों की अथवा भविष्य जीवन की आवश्यकताओं का बोध कैसे हो पाता है कि वे उन्हें अपने खेलों द्वारा अभिव्यक्त करें! आज का मनोविज्ञान कार्ल ग्रूस के इस सिद्धान्त का समर्थक नहीं है। बच्चे खेलते अवश्य हैं, क्योंकि बिना खेले वे रह नहीं सकते, और ये खेल उन्हे भविष्य जीवन में सहायक भी होते हैं। बच्चे खेलों द्वारा बहुत कुछ सीखते हैं, किन्तु वे खेल इसलिए नहीं खेलते हैं कि उन्हें कुछ सीखना है अथवा कुछ करना है। (३) तीसरा सिद्धान्त प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक सर स्टैनली हाल (Sir Stanely Hall) का है। इसके अनुसार बच्चा अपने खेल में सम्पूर्ण मानव-जाति के विभिन्न अनुभवों का पुनरावर्तन करता है। अब

जाति-स्वभाव-पुनरावर्तन सिद्धान्त

तक मानव ने जितने अनुभव प्राप्त किए हैं, जितनी अवस्थाएँ पार की हैं, वे सभी बच्चों के खेल द्वारा प्रदर्शित हो जाती हैं, ऐसा स्टैनली हाल का मत है। इस मत को जाति-स्वभाव-पुनरावर्तन सिद्धान्त (The Recapitulatory Theory) की संज्ञा दी गयी है। हाल ने अपने इस सिद्धान्त को क्रियात्मक रूप में भी प्रकट किया। पाठशाला की अध्ययन-

अवस्थाएँ इसी सिद्धान्त पर निर्धारित की गयीं। ६ वर्ष के बच्चे पाषाण-काल के युग से गुजर रहे हैं, अतएव उनके पाठ्य-क्रम में गुहाओं का निर्माण, मिट्टी के ठीकरे बनाना आदि रखा गया! ६ वर्ष के बच्चों के पाठ्य-क्रम में टोकरियाँ बनाना, धनुष-तीर, मिट्टी के बर्तन बनाना आदि सम्मिलित था। इस सिद्धान्त पर बहुत वाद-विवाद किए गए, प्रयोग किए गए, जिनके फलस्वरूप यह भ्रामक सिद्ध कर दिया गया। लेहमैन तथा विटी (Lebman & Witty) महोदयों के अध्ययन ने यह सिद्ध किया कि बच्चों की खेल-सम्बन्धी अभिरुचियों में अतीत के विभिन्न युग की विशेषताएँ नहीं पायी जातीं और अभिरुचियाँ जल-वायु, स्थान तथा लिंग-भेद से परिवर्तित होती रहती हैं।

मूलप्रवृत्तियों का सिद्धान्त

(४) चौथा सिद्धान्त मैक्डूगल का है जिसके बारे में बहुत पहले कहा जा चुका है और यह अध्याय उसी की भूमिका के साथ आरम्भ भी हुआ है। किन्तु अमेरिका के मनोवैज्ञानिक इसका घोर विरोध करते हैं। वे यह मानने को तैयार नहीं कि बच्चों में मूलप्रवृत्तियाँ अथवा जन्मजात प्रवृत्तियाँ पायी जाती हैं, और खेल एक जन्मजात अवधान है।

विश्राम का सिद्धान्त

(५) पाचवें सिद्धान्त के प्रतिपादक पैट्रिक (Patrick) महोदय हैं। यह सिद्धान्त उस पुराने विचार को स्मरण करता है जिसके अनुसार यह समझा जाता था कि खेल, प्रतिदिन के कार्य से उत्पन्न थकान को मिटाने के लिए अति आवश्यक है (The Relaxation Theory)। पैट्रिक के कथनानुसार बच्चों का मस्तिष्क उतना परिपक्व नहीं होता, अतः वे ऊपर की कठिन क्रियाओं की अपेक्षा खेलते हैं। वे खेलेंगे अवश्य। इसमें सन्देह नहीं कि खेल से विश्राम मिलता है, और थकान मिटती है और खेल द्वारा जीवन के कार्य में परिवर्तन होता जाता है। किसी कार्य में लगातार लगे रहने से बच्चे तथा प्रौढ़ श्लथ हो जाते हैं। किन्तु यह सिद्धान्त भी एकांगी है, क्योंकि यह सिद्ध हो चुका है कि मस्तिष्क कभी थकता नहीं। दूसरे, हम अपने

जाति-सम्बन्धी आचरणों को जन्म के समय पाते हैं कि नहीं, यह अभी विवाद-ग्रस्त है। (६) छठवाँ सिद्धान्त शिक्षा-शास्त्री तथा दार्शनिक ड्यूई (Dewey) का है। इन्होंने कहा है कि प्राणी-मात्र क्रियाशील है। वे क्रियाएँ, जो कार्य की सीमा के बाहर हैं, खेल हैं। बच्चे खेलते हैं, क्योंकि वे बिना खेले नहीं रह सकते, उनका जीवन ही क्रियाशील है (Play is life–Theory)। सचमुच, यह सिद्धान्त बहुत ही ठीक जँचता है। इस सिद्धान्त में व्यर्थ के पचड़े नहीं हैं जो कि ऊपर के सिद्धान्तों के मूल में पाये जाते हैं। ऊपर के सभी सिद्धान्तों में खेल की वृहत् व्याख्याएँ अवश्य हैं, किन्तु उनमें बहुत-सी भ्रामक उक्तियाँ हैं जो मनोविज्ञान की कसौटी पर नहीं ठहर सकतीं। अतः ड्यूई का सिद्धान्त ग्राह्य है, क्योंकि इसमें मनोवैज्ञानिकता है, सत्यता है और है खेल का वास्तविक रूप।

खेल ही जीवन है

§. [३] ऊपर खेल को स्फूर्तिमय कहा गया है। वास्तव में, खेल और कार्य में कोई क्रियात्मक अन्तर नहीं है। इन दोनों को किसी विशेष रेखा से पृथक्-पृथक् नहीं कर सकते। सब कुछ मनःस्थिति (Mental attitude, pleasure) पर निर्भर करता है जिसके अनुसार खेल भी कार्य-सा प्रतीत होगा और कार्य खेल-सा प्रतीत होगा। खेल, वास्तव मे, प्रसन्नता तथा आह्लाद का सूचक है। स्वस्थ लड़के अवश्य खेलते हैं। उन्हें खेलने के लिए उद्बोधित नहीं करना पड़ता। उनके लिए खेलना ही लक्ष्य है। छोटे-छोटे बच्चे अपनी जाग्रतावस्था में खेलते ही रहते हैं और प्रसन्न दीखते हैं। अस्वस्थ बच्चे सुस्त पड़े रहते हैं। स्वस्थ बच्चे कभी-कभी १०२ डिग्री के ज्वर में भी खेलते पाए गए हैं। जब ज्वर तेज हो जाता है या १०३°, १०४° तक पहुँच जाता है तो वे सुस्त पड़ जाते हैं, किन्तु १०१°, १०२° के होते ही वे फिर हाथ-पर चलाने लगते हैं। कुछ बड़े बच्चे स्वभावतः घर के कामों में व्यस्त हो जाते

खेल की कसौटी

हैं, कोई कार्य उन्हें करने को दिया गया, दौड़ते-दौड़ते कर डालते हैं। यह उनके लिए खेल है। अतः क्रिया ही सब कुछ नहीं है, यह मनः स्थिति है जो प्रसन्नता की द्योतक है और जिससे खेल सर्वप्रिय लगता है। मनःस्थिति का प्रिय होना ही किसी कार्य को खेल का रूप देना है। पहले कहा जा चुका है, खेल में स्वतन्त्रता (Freedom) अपेक्षित है। यदि किसी अनिच्छित कार्य को करने के लिए कहा जाय तो, भले ही उसमें खेल के प्रसाधन उपस्थित हों, वह खेल का रूप नहीं ग्रहण कर सकता। जब किसी क्रिया में स्वतन्त्रता रहती है, अथवा प्रयोग तथा खोज की गुंजाइश होती है तो वह क्रिया खेल हो जाती है। खेल में प्रेरणा (Motivation) होती है। स्वतन्त्रता तथा प्रियता खेल की दो विशेषताएँ हैं; किन्तु सभी व्यवहार में इन दोनों की उपस्थिति खेल का रूप नहीं ग्रहण कर सकती। खाना प्रिय लगता है, किन्तु खाना खेल नहीं है। खेल में प्रियता, स्वतन्त्रता तथा प्रेरणा का होना आवश्यक है। यदि दो बच्चे स्कूल जाते समय दो मार्ग से जाते हैं, और यह बदते हैं कि "देखें कौन आगे पहुँचता है" तो यह खेल है। इसमें प्रेरणा है। यह स्पष्ट हुआ कि खेल की कसौटी स्वतन्त्रता, प्रियता, तथा प्रेरणा (The criteria of Play : Freedom, Pleasurableness and Motivation) है। नियमों से बँधे हुए खेलों मे भी यह कसौटी पायी जाती है। फूटबॉल, कबड्डी आदि खेलों में स्वतन्त्रता, प्रियता तथा प्रेरणा तीनों हैं। बिना प्रेरणा के कोई बच्चा अपने दल को विजय नहीं दिला सकता। सभी खेलाड़ी जीतने की प्रेरणा से स्वतन्त्र हैं, वे प्रसन्न हो संगठित खेल खेलते हैं, नियमों का निर्वाह करते हैं, क्योंकि नियमों के पालन में उनकी भी विजय है और दूसरे पक्ष की भी विजय है। गुलिक (Gulick) के शब्दों में इस प्रकार ऊपर की बातों को ध्यान में रखकर हम खेल की परिभाषा यों कर सकते हैं : खेल वह है जिसे हम स्वतन्त्र होकर जो चाहते हैं वही करते हैं (Play is what we do when we are free to do what we will)।

खेल के विभिन्न प्रकार

§. [४] वातावरण एवं परिस्थिति के अनुसार बच्चों के खेलों में अन्तर होता है। अवस्था एवं लिंग-भेद से खेलों के प्रकार में विभिन्नता पायी जाती है। शरीर तथा मानसिक विकास भी खेलों के प्रकार के विधान में लगा रहता है। गाँव के लड़कों के खेल नगर के लड़कों के खेल से भिन्न होते हैं। लड़के और लड़कियों के खेल में अन्तर होता है। कार्ल ग्रूस ने खेलों में पाँच-प्रकार देखे हैं :(१) परीक्षणात्मक, (२) दौड़-धूप वाले, (३) रचनात्मक, (४) लड़ने-झगड़ने वाले, तथा (५) मानसिक खेल (Kinds of play : Experimental play, Movement play, Constructive play, Fighting play, and Intellectual play)। ये खेल-प्रकार बच्चों की विभिन्न अवस्थाओं के परिचायक हैं। (१) आरम्भिक अवस्था में बच्चा पैरों और हाथों को फेंकने में प्रसन्नता दिखाता है। 'कू कू', ओष्ठों को कँपाकर स्वर निकालना आदि क्रियाएँ खेल की ही हैं। बढ़ने पर वह वस्तुओं को उलटने-पलटने में तल्लीन रहता है। लगता है, मानो वह सब पदार्थों की परीक्षा कर रहा हो। जो वस्तु उसके अधिकार में आ जायगी उसे उठा कर पटकेगा, तोड़ेगा तथा फोड़ेगा। यह वैयक्तिक स्थिति बहुत दिनों तक नहीं रहती। (२) क्रियावाही शक्तियों के उद्भव के साथ जब बच्चे चलने-फिरने लगते हैं तो दौड़-धूप वाले खेल आरम्भ हो जाते हैं। "चोरों की आती पाती", छिपना, ऊपर-नीचे धमाक-चौकड़ी भरना इसमें सम्मिलित हैं। ऐसी अवस्था में सामूहिक खेल आरम्भ हो जाते हैं। प्रथम प्रकार का खेल वैयक्तिक (Egoistic) है। दूसरे प्रकार मे सामाजिकता (Sociability) का प्रकाश हो जाता है। किन्तु इस प्रकार की प्रारम्भिक स्थिति में दूसरे बच्चों के साथ खेल करते हुए बच्चे कुछ दिन वैयक्तिक भी रहते हैं। किन्तु मानसिक विकास के साथ वे सामाजिकता भी दिखाते हैं अर्थात् दूसरों के साथ मिल कर खेलते हैं। (३) रचनात्मक खेलों में विभिन्न प्रकार की वस्तुओं का निर्माण

होता है। यहाँ स्थान-विशेष में परिवर्तन देखा जाता है। आस-पास की वस्तुओं के निरीक्षण (Observation) का प्रभाव अविकल रूप से रहता है। इस प्रकार के खेलों में लड़के, लड़कियों से अधिक क्रियाशील होते हैं। यहाँ अनुकरण (Imitation) विशेष मात्रा में देखा जाता है। गाँव-गँवई के लड़के गाय, बैल, घोड़ा, घर, चिड़िया आदि का निर्माण करते हैं तथा लड़कियाँ रोटियाँ, जाँता, बेलन, बर्तन आदि बनाती हैं। गुड़ियों को बना कर खेलना, उन्हें प्यार करना, दूध पिलाना, सुलाना आदि क्रियाएँ होती रहती हैं। (४) लड़ने-झगड़ने के प्रकार के खेल में द्वन्द्व की (Combatative & Pugnacious) प्रकृति जगती है। कबड्डी, हॉकी, गुल्ली-डंडा आदि खेल लड़ने-झगड़ने वाले खेल हैं। वे खेल पूर्णतया सामाजिक (Social) होते हैं। सामूहिक खेलों में अपने दल के प्रति स्नेह, सहानुभूति आदि भावों का उदय पाया जाता है। इन खेलों का मन, चरित्र तथा व्यक्तित्व के विकास में विशेष महत्व है। बच्चे अपने माता-पिता की अतिप्रियता तथा स्नेहातिरेक से दूर रहते हैं, जो उनके व्यक्तित्व-निर्माण में बहुत सहायक है। माता-पिता को चाहिए कि बच्चों के लिए अच्छे वातावरण, खुली हवा, मैदान का उचित प्रबन्ध करें तथा उनके लिए समवयस्क बच्चों को जुटावें। नगरों के बच्चो को इसमें प्रभूत कठिनाइयाँ होती हैं। ग्रामीण बच्चों का शारीरिक गठन तथा मानसिक उद्‌बोधन पर्याप्त रूप मे होता है, क्योंकि उन्हे खेलने के लिए बच्चों की कमी नहीं होती। (५) मानसिक खेल बड़ी अवस्था के द्योतक हैं। सतगोंवा का खेल, चिग्गी-डाँड़ी, ताश, शतरंज तथा चौपड़ आदि इसमें सम्मिलित हैं। इन खेलों में मन की तन्मयता अधिक अपेक्षित है। दूसरे दल को बुद्धि-विवेक में हराना इन खेलों से प्रकट होता है।

बचपन-विकास में खेलों की महत्ता (Utility of Play)

§. [५] बचपन का खेल स्वाभाविक क्रियाओं का अभिव्यञ्जन तथा वातावरण की उत्तेजनाओ की प्रतिक्रिया है। खेल स्वय

प्रसन्नता, आह्लाद, उल्लास और हर्ष का द्योतक है। यह बात ऊपर की व्याख्या से स्पष्ट हो चुकी है। अब हम खेल से जो लाभ होते हैं उनका मूल्यांकन करेंगे। खेलों से बच्चे (१) शारीरिक स्वस्थता प्राप्त करते हैं। उनका शरीर गठीला होता है, उनमें शक्ति-संचय होता है, गति आती है। दौड़ने, कूदने, पेड़ों पर चढ़ने, झुकने, फेंकने की क्रियाओं से शरीर के अंग-प्रत्यंग सुपुष्ट हो जाते हैं; शरीर में रक्त-संचालन हो जाता है और स्वेदादि से शरीर का निखार हो जाता है। खेल से शरीर की बड़ी-बड़ी मांसपेशियाँ वृद्धि (Maturation) पाती हैं तथा क्रियावाही शक्तियाँ प्रबल होती हैं।

खेलों से शारीरिक, संवेगात्मक, सामाजिक, मानसिक एवं व्यक्तित्व-सम्बन्धी विकास

गतिशील होने से दुर्घटनाओं से बचने की क्रिया में प्रवीणता आती है तथा रोग नहीं ग्रस्त करता। यदि कभी कोई रोग हो भी जाता है तो स्वस्थ शरीर उसे शीघ्र दूर करने में समर्थ होता है। भय के समय अपनी स्फूर्ति (Spontaneity) से बच्चा अपनी रक्षा कर लेता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वास्थ्य के निर्माण के लिए, मांशपेशियों की वृद्धि के लिए, रोग से दूर भागने के लिए, खेल का महत्व (Value of Play) बचपन में बहुत अधिक है। हमने ऊपर देख लिया है कि बच्चे सामूहिक खेल से अपने (२) संवेगों का विकास करते हैं, उन्हें संयमित करते हैं, और समयानुकूल उनको कार्य रूप में परिणत करते हैं। मनुष्य सामाजिक प्राणी है। समाज में रहने के लिए (३) सामाजिकता का विकास अपेक्षित है। सामूहिक खेलों में इसका विकास पाया जाता है। बच्चे नियम के पालन में व्यर्थ का क्रोध नहीं दिखाते, उनमें केवल दल को जिताने के लिए एक प्रेरणा (Motivation) होती है कि वे आगे बढ़ जायें। ऐसा करने में वे अपने दल के प्रत्येक बच्चे को सहायता देते हैं, अपने नेता या कैप्टन की आज्ञाओं का पालन करते हैं। बच्चे जानते हैं कि प्रत्येक के हृदय में जीतने की अभिलाषा है, प्रत्येक अपनी बारी की टोह में है,

अतः वे संयम करना सीखते हैं। वे नियमों का पालन इसी लिए करते हैं कि लोग उन्हें अच्छे बच्चे कहे। इससे उनमें आज्ञाकारिकता का स्थायीभाव मिलता है। यदि लड़के खेल में न लगे रहें तो दिवा-स्वप्न ("जागते सपने"; Day-dreaming) में लगे रहेंगे, लज्जालु हो जायेंगे, भयशील हो जायेंगे, दूसरों को घृणा की दृष्टि से देखेंगे, कोमल संवेगों के वशीभूत हो जायेंगे, और हठी हो जायेंगे। खेल में बच्चे सब प्रकार के लड़कों के साथ खेलते हैं। धोबी, चमार, मुसलमान, ईसाई आदि सभी जाति के लड़के साथ खेलते हैं। इसमें व्यर्थ की जातीयता का प्रेम दूर हो जाता है और भ्रातृ-भाव (Brotherhood) जागता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि खेल बच्चों को सामाजिक बनाता है, उनके संवेगों को उचित रूप देता है और उन्हें अच्छे व्यक्तित्व के निर्माण में सहायता देता है। (४) "बच्चे करके सीखते हैं" (Children learn by doing) एक पुराना मनोवैज्ञानिक तथ्य है। खेल में 'करना' व्यापक रूप से पाया जाता है। प्रयोगात्मक, विश्लेषणात्मक खेल बच्चों मे प्रभूत मात्रा में विवेक, तर्क, निर्णय (Reasoning & Judgement) भरते हैं। किसी खेल में पारंगत होने के लिए जो-जो क्रियाएँ अपेक्षित हैं, उनके आविष्कार तथा समीक्षा से बच्चे अपने मन को पकड़ते हैं। खेल में लगी हुई वस्तुओं का पूर्ण निरीक्षण, उनका विवेचन, उनसे सम्बन्धित निर्णयात्मक अथवा निश्चयात्मक तर्क आदि बालमनोविकास में बहुत सहायक होते हैं। खेलों से विचारों (Thoughts) की वृद्धि होती है, मस्तिष्क की क्रियाओं का विस्तार होता है, अवधान बढता है, स्मृतियाँ गठित होती हैं तथा अनुभूतियाँ मिलती हैं जो जीवन को गम्भीर तथा सफल बनाने मे सहायक होती हैं। खेलों द्वारा बच्चों का व्यक्तित्व जाना जा सकता है। खेलों द्वारा बच्चा अपने व्यक्तित्व के विविध स्वरूपों की अभिव्यक्ति करता है। व्यक्तित्व तो व्यवहारों द्वारा प्रकट किए गए बहुत-से अनुभूत तत्वों में निहित है जिन्हे बच्चा अपने कार्यों एवं अपनी विशेषताओं

द्वारा अथवा लोगों से व्यवहार करके प्रदर्शित करता है। हँसना, प्रसन्न रहना, नियम का पालन करना, सत्य बोलना, ईमानदारी बरतना, आत्म-विश्वास, आत्म-निर्भरता आदि गुण खेलों से प्रकट हो जाते हैं। शारीरिक, मानसिक, सामाजिक, संवेगात्मक तथा नैतिक प्रतिक्रियाएँ खेलों मे इस प्रकार समाहित हैं कि हम उन्हे पृथक्-पृथक् करके नहीं देख सकते। व्यक्ति की वातावरण-सम्बन्धी प्रतिकूलता अथवा अनुकूलता उसके खेल से ज्ञात हो जाती है। आत्म-संयम, उदारता क्रियात्मक चिन्तन आदि गुण खेलों से प्रकट होते हैं। इस प्रकार थोड़े में हम कह सकते हैं कि खेल के द्वारा बच्चों का व्यक्तित्व अपने सभी विशिष्ट लक्षणों के साथ गठित हो सकता है।

खेल और शिक्षा (Play and Education)

§ [६] उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि खेल बच्चों के वास्तविक जीवन की क्रिया है। यदि शिक्षक बच्चों की इस स्वाभाविक स्वतंत्र, प्रिय तथा प्रेरणात्मक स्फुरणा को काम में लावे तो वे उन्हे शिक्षित करने में पूर्णतया समर्थ हो सकेंगे। आजकल सौभाग्यवश बच्चों के पाठ्य-क्रम में खेलों को महत्व दे दिया गया है। रूसो, पेस्तालौजी, फ्रोबेल, माण्टेसरी, ड्यूई (Rousseau, Pestalozzi, Froebel, Montessori, Dewey) आदि शिक्षा-शास्त्रियों के प्रयत्न आज सफलता के चिह्न देख रहे हैं। बच्चों का पठन-पाठन खेल पर आश्रित किया जा रहा है। महात्मा गान्धी ने जिस आधारभूत शिक्षा (Basic Education of Mahatma Gandhi) की योजना की है उसके मूल में भी खेल है। आशा है, भारत के शिक्षक ऊपर की खेल-व्याख्या को समझ कर बच्चों के अध्ययन तथा उनकी शिक्षा मे तल्लीन होंगे। बच्चों का वास्तविक विकास उनकी सहज क्रिया तथा उनकी सर्वप्रिय स्वतंत्रता में है। यदि उस स्वतन्त्रता में समय के योग में अथवा अभिरुचि के आधार पर, कार्य की भित्ति निर्धारित कर दी जाय, तो बच्चो का मानसिक विकास बड़ी सरलता से हो जाय

और उनके चरित्र तथा व्यक्तित्व की सम्वृद्धि वातावरण तथा संस्कृति के अनुकूल हो सके। शिक्षा-पद्धति में खेल (Playway in Education) का महत्व इतना बढ़ गया है कि नील (O. S. Kneil) महोदय ने एक अपने ढग का विद्यालय खोल रखा है जिसमें बच्चे स्वतन्त्र हैं, उनका अपना संगठन है, नियम है और है शासन। आशा की जाती है कि नील महोदय के प्रयोग श्रेयस्कर सिद्ध होंगे।

बहुधा माता-पिता, अभिभावक तथा अध्यापक उन बच्चों को गर्हित करते हैं जो खेलने में तल्लीन रहते हैं। यह व्यवहार घोर अमनोवैज्ञानिक है। वास्तव में, बच्चों के खेलों से लाभ उठा कर उनकी शिक्षा की व्यवस्था करनी चाहिए तथा पाठ्य-क्रम इस प्रकार गठित होना चाहिए जो खेल-सा लगे। इसके विपरीत जाने से बच्चों में अवरोध-प्रवृत्ति के जागरण से व्यक्तित्व-सम्बन्धी उलझनें उत्पन्न होती हैं। अतः शिक्षा-नियमन में बच्चों के सहज खेलों का मनोवैज्ञानिक नियन्त्रण एवं परिष्कार अपेक्षित है।



तेरहवाँ अध्याय

बचपन में कल्पना एवं सौंदर्यानुभूति का विकास

(Imagination & Aesthetic Development in childhood)

§. [१] बच्चों के मन तथा व्यक्तित्व के विभिन्न तत्वों के विकास में कल्पना (Imagination) का प्रभूत महत्व है। कल्पना के विकास में सौन्दर्यानुभूति (Aesthetic experience) निहित है। जीवन के द्वन्द्वों के प्रति जो मानसिक व्यवस्था होती है उसमें कल्पनात्मक प्रत्यक्षज्ञान अधिक प्रबल होते हैं। इस अध्याय में हम, कल्पना क्या है तथा उसका बचपन से क्या सम्बन्ध है, कल्पना-शक्ति का स्वरूप क्या है तथा उससे बच्चों में सौन्दर्यानुभूति किस प्रकार होती है, कल्पना और कला में क्या पारस्परिक सम्बन्ध है, तथा बच्चों में कल्पना और कला से उद्भूत मानसिक विकास किस प्रकार होता है, अथवा हो सकता है आदि बातों का अध्ययन करेंगे। प्रत्यक्षानुभूति की अनुपस्थिति में हमें जो अनुभूति होती है वह कल्पना है। संवेदन

कल्पना-शक्ति का स्वरूप एव महत्व

(Sensations) तथा उनसे उद्भूत जो प्रत्यक्षज्ञान (Perception) होता है उससे हमारे मस्तिष्क-तन्तु-स्थान प्रभावित हो जाते हैं और हमें कालान्तर में वाह्य इन्द्रियज्ञान के अभाव में भी अतीत प्रभाव-चिह्नों की अनुभूति होने लगती है। इन्द्रियजन्य ज्ञान मस्तिष्क में अपना संस्कार छोड़ जाते हैं और ये संस्कार हमारी कल्पना के आधार होते हैं, अतः पुरानी अनुभूतियों को मानस-पटल पर चित्रित करना ही कल्पना है। इस कल्पना-परिभाषा से यह स्पष्ट हो जाता है कि काल्पनिक अनुभव के विभिन्न प्रकार होते हैं और ये विभिन्न इन्द्रियों द्वारा विविध रूप वाले होते हैं। देखने, सुनने, सूँघने, स्वाद लेने और स्पर्श करने अथवा हिलाने-डुलाने-छूने-उठाने से हमें जो संवेदनाएँ होती हैं वे अर्थयुक्त होने पर प्रत्यक्षज्ञान हो

जाती हैं और कालान्तर मे हमारे संस्कार के रूप मे परिणत हो जाती हैं, जिनके आधार पर हम कल्पनाएँ करते हैं। हमारे मानसिक संस्कार क्रमशः संगुम्फित हो जाते हैं, फलतः उनमें विविध इन्द्रिय-ज्ञानों का समाहार पाया जाता है। यह समाहार हमारी कल्पनाओं को किसी एक इन्द्रिय-ज्ञान के अतिरेक में विशिष्ट रूप देता है और यही विशिष्ट रूप अथवा चित्र हमारी विशिष्ट कल्पना है। मानसिक विकास के लिए कल्पना-विवृद्धि अपेक्षित है। अतीत के प्रति जो मोह उत्पन्न होता है वह हमारी वर्त्तमान कल्पना है अथवा भविष्य के प्रति जो जागरूकता होती है उसमें हमारी कल्पना-शक्ति है। कवि, साहित्यकार, चित्रकार, गणितज्ञ, वैज्ञानिक तथा राजनीतिक इसी कल्पना के सहारे नवीन भावों-विचारों-क्रियाओं की सृष्टि करते हैं। कवि को स्रष्टा अथवा द्रष्टा (Creator or Seer) की उपाधि मिलती है। मनुष्य मात्र कल्पना के सहारे अपने प्रयासों की भूलें जानता है अथवा दूरदर्शी होता है। कल्पना के आधार पर बच्चा अतीत अनुभूतियों की भूमिका में विचार-विकास पाता है। इसी से उसकी चेतना जगती है, निर्णयात्मक तथा तार्किक बुद्धि जगती है। अतः बुद्धि का विकास कल्पना के आधार पर भी निर्भर है। कल्पना और स्मृति में भेद होता है। स्मृति तो अतीत प्रत्यक्षज्ञान है, किन्तु कल्पना नवीन सृष्टि है और नवीन सृष्टि पर ही मनोविकास निहित है। कल्पना का आधार असत्य नहीं है। वास्तविकता कल्पना-प्रसूत उपलब्धि है। आज तक जितने आविष्कारों की सृष्टि हुई है उसके मूल में कल्पना का विशाल अतीत है।

बचपन और कल्पना

§. [२] ऊपर की संक्षिप्त कल्पना-विवेचना से स्पष्ट है कि बच्चों के विकास से कल्पना का गहरा सम्बन्ध है। बच्चा कल्पना के सहारे मदमस्त हो अह्लाद, प्रसन्नता, हर्ष तथा उल्लास का अनुभव करता है। उसकी संवेदनाओं मे उसके छोटे जीवन के अनुभव की मर्यादा है।

बचपन कल्पना का स्वरूप

उसकी असहायावस्था का सहारा उसकी कल्पना है। बच्चा दूसरों की अनुकृति (Imitation) में कल्पना के सहारे भाँति-भाँति के खेल खेलता है और अपनी सजीवता (Liveliness) प्रदर्शित करता है। उसके खेलों के विभिन्न स्वरूपों में उसकी कल्पना का साम्राज्य रहता है। हम बच्चों के खेलों में देख चुके हैं कि वे किस प्रकार अपनी सुखानुभूति के लिए नाना प्रकार की कल्पनाएँ करते हैं। इन कल्पनाओं में उनका प्रत्यक्षज्ञान अपरिहार्य रूप से विद्यमान रहता है। लड़कियाँ अपने जीवन की कल्पना में माता का तथा लड़के अपने भाव-सौष्ठव की कल्पना में पिता आदि का अनुकरण करते हैं। विभिन्न कल्पना-शक्तियों से ही विभिन्न व्यक्तियों की श्रेणियाँ बँधती हैं। इन्द्रिय-सम्बन्धी कल्पनाएँ, जैसे दृष्टि-कल्पना, शब्द-कल्पना, घ्राण-कल्पना, रस-कल्पना तथा स्पर्श-कल्पना, बच्चों की भावी शक्तियों का वर्गीकरण करती हैं। यों तो, जैसा कि ऊपर कहा भी जा चुका है, प्रत्येक बच्चा सब प्रकार की कल्पनाएँ कर सकता है और एक प्रकार की कल्पना में कल्पनाओं का सम्मिश्रण रहता ही है; किन्तु विशेष कल्पना-शक्ति भी होती है जिसके फलस्वरूप बच्चों में विभिन्न श्रेणियाँ पायी जाती हैं, और वे कालान्तर में किसी एक की विशालता में प्रवीणता ग्रहण कर लेते हैं, और फलतः कवि होते हैं, चित्रकार होते हैं, गणितज्ञ होते हैं या इञ्जिनीयर होते हैं। अतः शिक्षक-कार्य कुछ कठिन है। शिक्षण-प्रणाली में बहुत से परिवर्तनों की आवश्यकता है जिससे हम बच्चों की अविकल कल्पनाओं को जान लें और उन्हें समुचित विकास दें।

[२] इस प्रकार हम देखते हैं कि बच्चों की कल्पना की कई स्पष्ट विशेषताएँ होती हैं। (१) प्रथम है प्रतिमाओं की सजीवता एवं तीव्रता (Liveliness and Intensity)। विविध संवेदनाओं से उद्भूत प्रतिमाएँ (Images) पूर्वानुभूतियों के रूप में अभिव्यञ्जित होती हैं। ये प्रतिमाएँ बड़ी सजीव होती हैं। भाँति-भाँति की दर्शन-

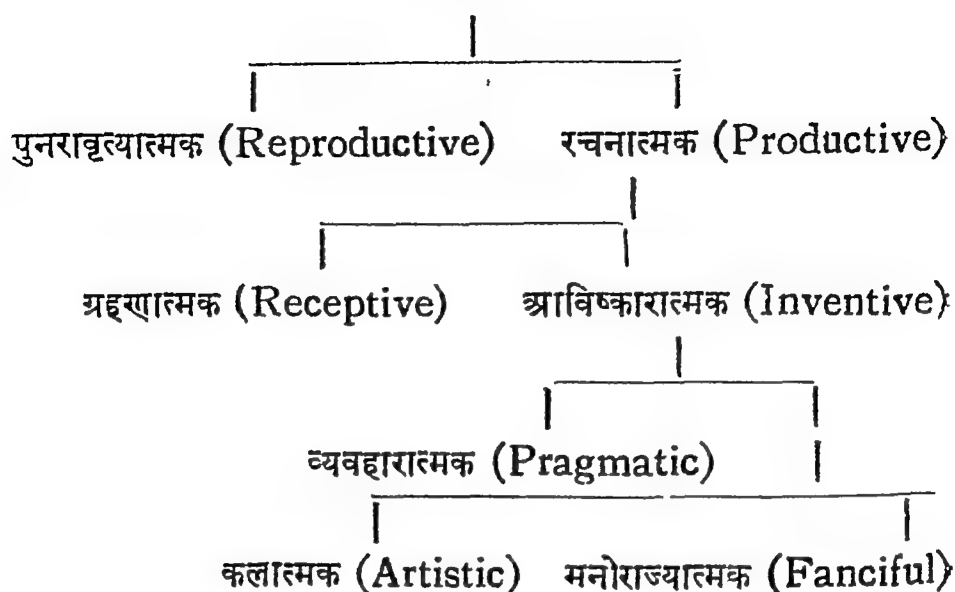
बचपन की कल्पना की विशेषताएँ

श्रवण–स्वाद–घ्राण–स्पर्श आदि की प्रतिमाएँ साम्वेदनिक अनुभूतियों की छाप मात्र हैं। बच्चों को ये प्रतिमाएँ अपने वास्तविक रूप में स्पष्ट-सी होती हैं। इसी कारण बच्चों मे मिथ्या-कथन (Lies) की संभावनाएँ पायी जाती हैं। यदि बच्चे कल्पना करने लगते हैं कि बछड़ा बहुत बड़ा है और उसका आकार फाटक में समा सकता है तो हम सुनकर चकित हो जातेहैं। प्रतिमा-सजीवता के कारण बच्चे काल्पनिक एवं वास्तविक जगत् मे विभेद नहीं कर पाते। बच्चों की काल्पनिक प्रतिमाएँ इतनी सजीव होती हैं कि उन्हें प्रतिमा-दर्शन (Eidetic imagery) की संज्ञा मिली है। आरम्भिक बचपन की सजीव प्रतिमाएँ किशोरावस्था तक चलती जाती हैं, किन्तु कालान्तर में यह शक्ति क्षीण हो जाती है। लगता है बच्चे प्रत्यक्षीकृत उद्दीपकों को ज्यों-का-त्यों देख रहे हैं (देखिए लेखक का संक्षिप्त सामान्य मनोविज्ञान पृष्ठ-३४२-४३। ऊँची कक्षा के विद्यार्थी देखें सामान्य मनोविज्ञान, भाग २, पृष्ठ-३६८-४०१)। यह है बच्चों के प्रतिरूपों का प्रथम लक्षण। दूसरा लक्षण है शाब्दिक प्रतिमा (Verbal imagery) का अभाव, क्योंकि बच्चों में भाषा-ज्ञान की अपूर्णता के कारण अनुभवों का अभाव पाया जाता है। वे मूर्त (Concrete) प्रतिमाओं का ही दर्शन कर पाते हैं, यथा कुत्ते को देखकर उसका प्रतिरूप धारण करना। प्रौढ़ लोग 'कुत्ता' शब्द से भी कुत्ते की प्रतिमा धारण कर लेते हैं। बहुधा बच्चों में चाक्षुष-प्रतिरूप (Visual imagery) ही विशेष रूप से गुम्फित होते हैं। ग्रीफिथ महोदय के एक अनुसंधान से व्यक्त होता है कि बच्चों में १८% प्रतिमाएँ उपस्थित वस्तुओं की, ५२% स्थावर (अग, Static) वस्तुओं की, २६% चल वस्तुओं की तथा ४% नूतन होती हैं। (२) बच्चों की प्रतिमाओं की दूसरी विशेषता है तारंगिकता एवं स्व-तन्त्रता। बहुधा बच्चे अपने ही संसार में विचरण करते रहते हैं; वे आत्म-केन्द्रित एवं विषयी-गत (Egocentric and Subjective) होते हैं; आत्माभिव्यञ्जन की शक्ति-प्रबलता के कारण वे संवेगात्मक,

शरीर आदि आवश्यकताओं से प्रेरित हो नवीन जगत् की सृष्टि करते रहते हैं। मनोवैज्ञानिकों ने कई प्रकार के प्रयोगों से, जिनमें बच्चों की कहानियों, चित्रकारियों एवं मसि-चिह्नों (Ink-blot tests) का अध्ययन प्रमुख है, बच्चों की कल्पना का स्वरूप स्पष्ट किया है। ५ से ७ वर्ष के बच्चे सभी वस्तुओं को आत्ममय एवं जीवमय समझते हैं। वे निर्जीव वस्तुओं से बोलते हैं, खेलते हैं, लगता है, उनसे उनका आत्मगत सम्बन्ध स्थापित हो गया है। इस प्रकार की कल्पना में वे अपनी विशिष्ट कल्पना-स्वतन्त्रता द्योतित करते हैं। (३) बच्चों की कल्पना की तीसरी विशेषता है प्रतीकत्व (Symbolism)। बच्चे बहुधा लकड़ी का घोड़ा बना कर उसपर सवारी करते हैं, टेढ़ी लकीर बना कर साँप की प्रतीकात्मक अनुभूति करते हैं। यहाँ 'लकड़ी' एव 'लकीर' प्रतीक (Symbols) हैं। वे गुड्डा-गुड़ियों को दुल्हा-दुल्हन समझ कर ब्याह रचाते हैं। बच्चों की कल्पना के प्रतीक चित्र-विचित्र होते हैं। एक लड़की की एक प्रकार की कल्पना यों थी: मेरा पिता एक परी है, वह जाड़े में उड़ता है। वह मुझे सोते देखता है। वह पृथ्वी के एक छेद से उड़ता है। वह भोजन कर रहा है, इसी से मर गया" इसमें कई प्रकार के प्रतीक हैं : 'परी' (चिड़ियों को उड़ता देखकर), 'पृथ्वी-छिद्र', (पृथ्वी के छिद्रों से पतंगों को निकलते देखकर), 'मर गया' (मृत वस्तुओं को देखकर)। इस प्रकार देखते है कि बच्चों की कल्पना की विशेषताएँ तीन हैं : (१) प्रतिरूपों की सजीवता एवं तीव्रता, (२) मनोराज्यात्मकता (तारङ्गिकता) तथा स्वच्छन्दता एवं (३) प्रतीकत्व।

कल्पना के प्रभेद

§. [४] कल्पना को मनोवैज्ञानिकों ने निम्न रूप से देखा है। वास्तव में, कल्पना द्विधा होती है : असंयत, स्वतंत्र या निष्क्रिय (Free, Controlled or Passive) तथा (२) संयत, रचनात्मक या सक्रिय (Controlled, Creative or Active)। हम नीचे कई प्रकार के कल्पना-विभेद प्रकट करते हैं।



ऊपर कहा जा चुका है कि अतीत अनुभूति का पुनः मानस पटल पर उदय होकर एक नवीन सृष्टि करना ही कल्पना है। इसी आधार पर हम कल्पना के विभिन्न भेदों की व्याख्या करेंगे। पुनरावृत्यात्मक कल्पना और स्मृति में थोड़ा अन्तर है। जब हम पुराने अनुभवों को उसी प्रकार चित्रित करते हैं तो उसे पुनरावृत्यात्मक कल्पना की संज्ञा देते हैं। किसी किए हुए कार्य से सम्बन्धित घटनाओं को चित्रित करना अभिरुचि पर निर्भर होता है। मेला में देखे हुए पदार्थों अथवा किसी स्थान पर देखी हुई विशेष वस्तुओं के बारे में बच्चे से प्रश्न किया जाय तो वह बहुत-सी बातों का ध्यान करके कुछेक का वर्णन करता है, क्योंकि उसे सभी वस्तुएँ नहीं जँच सकतीं। यह क्रिया तो स्मरण मात्र है। पुनरावृत्यात्मक कल्पना में चुनाव (Selection) नहीं होता। बच्चों की अतीत अनुभूतियों को दुहराना आवश्यक है, क्योंकि इससे उनकी रुचि प्रकट होती है और साथ-ही-साथ उनकी मानसिक शक्तियों की अभिवृद्धि भी हो जाती है। पुराने अनुभवों के आधार पर नवीन

कल्पना की उद्भूति रचनात्मक कल्पना है। पुराने भवन को गिरा कर जिस प्रकार उसी के ईंट-गारों से नवीन भवन का निर्माण किया जाता है, उसी प्रकार रचनात्मक कल्पना का अवलम्बन पुराना होता है, किन्तु इसकी सृष्टि नवीन होती है। वास्तविक कल्पना रचनात्मक कल्पना है। बच्चों के मानसिक विकास में इस प्रकार की कल्पना बड़ी श्रेयस्कर होती है। बच्चों का सुन्दर भविष्य-निर्माण रचनात्मक कल्पना पर निर्भर करता है। किसी विषय पर सोचना तथा उससे आगामी अर्थ-अनुभव निकालना रचनात्मक कल्पना है। कोई विशेष योजना बनाना ही रचनात्मक कल्पना है। इस प्रकार की योजना में आनन्द छिपा रहता है। ड्यूई (Dewey) महोदय ने अपनी शिक्षा-पद्धति में रचनात्मक कल्पना को विशिष्ट स्थान दिया है (Project Method)। लड़कों को अपने पुराने अनुभवों के आधार पर कोई योजना बनानी होती है और उसकी सफलता के लिए नवीन समस्याओं और उनके समाधान को कल्पना से ढूढ़ना होता है। रचनात्मक कल्पना के दो रूप होते हैं: ग्रहणात्मक तथा आविष्कारात्मक कल्पना। मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि बच्चों की कल्पना का आरम्भिक विकास ग्रहणात्मक रूप से ही होता है। बच्चों में अनुकृति तो जन्मजात स्वभाव है, वे उसी के सहारे लोगों के विचारों को सुन कर अपने मन में कल्पना के संसार का निर्माण करते हैं। हमारी कहानियों और मनोरंजक बातों को श्रवण कर बच्चे अपने मन में कुछ चित्रण करते हैं। बच्चे छोटी-छोटी कविताओं को सुन कर ग्रहणात्मक कल्पना के द्वारा उनके अर्थों को समझने का उद्योग करते हैं। वास्तव में, जब हम किसी को कविता पढ़ते सुनते हैं, अथवा कवि की कविता पढ़ते हैं तो उस समय कवि की कल्पना हमारा संवेदन बन जाती है। बच्चों को इसलिए कहानियों इत्यादि का सुनाना बहुत ही आवश्यक है, क्योंकि इन्हीं के द्वारा हम उनमें ग्रहणात्मक कल्पना का विकास कर सकते हैं। आविष्कारात्मक कल्पना द्वारा अपनी अनुभूतियों के आधार पर स्वतन्त्र काल्पनिक संसार का निर्माण करना

होता है । वास्तव मे, इस प्रकार की कल्पना की उपादेयता बहुत अधिक है। विषम परिस्थितियों की उलझन को दूर करना इसी प्रकार की कल्पना से सम्भव है। बच्चों में जब इस प्रकार की कल्पना का गाहेबगाहे, अनायास तथा कभी-कभी अप्रत्याशित उदय हो जाता है तो समझिए, उनका मानसिक विकास यथार्थ रूप से चल रहा है। बच्चों को सारी बातें नहीं समझा देनी चाहिए। उन्हें अवसर देना चाहिए कि वे अपनी साधारण समस्याओं का समाधान स्वयं कर लें। कला का निर्माण आविष्कारात्मक कल्पना पर निर्भर करता है। इस प्रकार आविष्कारात्मक कल्पना के आधार पर जीवन की नयी-नयी योजनाएँ समर्थ होती हैं। जब बच्चे इस कल्पना के सहारे अपने जीवन-व्यवहारों को एक रूप देते हैं तो ऐसी कल्पना को व्यवहारात्मक कल्पना कहते हैं। जीवन को आह्लाद, प्रसन्नता, एवं हर्ष देने वाली कल्पना को कलात्मक कल्पना कहते हैं। इस प्रकार की कल्पना मे एक नियम होता है, एक लय होती है और होती है एक समरसता। जब इसके विरुद्ध स्वच्छन्द रूप से कल्पना की जाती है, जहाँ वास्तविकता का कोई निर्दिष्ट बन्धन नही होता, वहाँ मनोराज्यमयी या तरंगमयी कल्पना पायी जाती है। इस प्रकार की कल्पना बच्चो मे अधिक मात्रा में नहीं पायी जाती। ८-१० वर्ष मे तरंगमयी कल्पना का विकास हो जाता है : बच्चे पौराणिक तथा परियों की कहानियों में अभिरुचि प्रदर्शित करने लगते हैं। दादी एवं नानी की कहानियाँ, इस प्रकार, बच्चों की कल्पना को भोजन देती हैं। बच्चे इन कहानियो के साथ अपने को भूल जाते हैं। वे भी परियों के समान उड़ना चाहते हैं। ११–१२ वर्ष में साहसिक कहानियों (Adventurous Stories) मे अभिरुचि बढ़ती है।

बच्चों के कल्पना-संसार के साथी

§. [५] बहुधा देखा जाता है कि बच्चे अपने-आप खेलते हैं। लगता है, वे किसी और के साथ खेल रहे हैं। वे अपने-आप बातें करते हैं, अपनी सामग्रियों का बँटवारा करते हैं, लेन-देन करते हैं। मनोवैज्ञानि-

को ने यह धारणा बनायी है कि उस समय उनके पास उनका काल्पनिक साथी होता है। यदि उन्हें छेड़ दिया जाय तो वे वैसे ही दुखी दीखते हैं मानो उनके साथी के साथ कोई अन्याय हो रहा है। इस प्रकार का काल्पनिक साथी दस वर्ष तक के बच्चों में पाया जाता है। छोटी अवस्था में यह हानिकर नहीं है किन्तु यदि ऐसी अवस्था बहुत दिनों तक चले, तो समझना चाहिए कि उनके मन का वास्तविक विकास अभी नहीं हो सका है, अथवा वातावरण में कोई विशेष दोष आ गया है। इस दोष को दूर करने का उपाय करना चाहिए नहीं तो उनमें सामाजिकता (Sociability) की कमी आ जायगी, वे उदार नहीं हो सकेंगे, लज्जाशील हो जायेंगे और अपनी जीवन-कठिनाइयों का ठीक से सामना नहीं कर सकेंगे।

कल्पना-विकास का आधार

§. [६] बच्चों की कल्पना का विकास उनके इन्द्रिय-ज्ञान पर निर्भर है। उन्हें जितना ही संवेदन पुष्ट रूप से मिलेगा उनका प्रत्यक्षज्ञान बढ़ता जायगा। अतः शारीरिक विकास तथा सीखना कल्पना के आधार हैं। वातावरण की उत्तेजनाएँ उन्हें सीखने को उद्वेलित करती हैं। दृष्टि-श्रवण-घ्राण-जिह्वा-स्पर्श संवेदनों का परिपाक उनसे सम्बन्धित प्रत्यक्षज्ञानों में है। विवृद्धि तथा सीखने (Maturation & learning) से इन संवेदनों में परिपक्वता आती है और जिसके फलस्वरूप बच्चों की अनुभूतियाँ बढ़ती हैं जिनके आधार पर कल्पना के विविध रूपों का निर्माण होता है। भाषा-विकास इसमें सहायक होता है। शब्द, शब्द से वाक्य तथा वाक्यों से ज्ञान की वृद्धि होती है, पदार्थों का वास्तविक रूप झलकने लगता है और उसके आधार पर विभिन्न कल्पनाएँ बँधती हैं। इस विषय में बच्चों के जीवन में छोटी-छोटी मनोरंजक कहानियों (Stories) का अधिक महत्व है। कहानियों के विभिन्न उपांगों से उनकी कल्पना को अधिक बल मिलता है। *हितोपदेश, पंच-तन्त्र* की कहानियों का मूलाधार

कल्पना का विकास है। अलिफलैला की कहानियो मे मनोरंजनों के साथ-साथ जीवन की प्रभूत कल्पनात्मक अनुभूतियाँ भी हैं जो बच्चों के जीवन को वास्तविक विश्व में लाती हैं। इन कहानियों के द्वारा जो सदुपदेश मिलते हैं, उनके आधार पर बच्चे अपने जीवन के विषय में विभिन्न अवस्थाओं में कल्पनाएँ बनाते हैं, कहानियों के चरित्रो से अपनी कल्पनात्मक तुलना करते हैं और इसी से उनके जीवन का विकास होता है। इटली की महान् शिक्षा-शास्त्रिणी मेरिया माण्टेसरी (Maria Montessori) ने, जिनका ६ मई १६५२ को देहावसान हो गया, कल्पनात्मक कहानी को अपनी शिक्षा-पद्धति में बिल्कुल स्थान नहीं दिया है। मनोवैज्ञानिक इसका घोर विरोध करते हैं। माण्टेसरी का कहना है कि कल्पनात्मक कहानियों से बच्चों का मन अवास्तविक संसार में विचरण करने लगता है इससे वे मनोराज्य (Fantasies) की सृष्टि करने लगते हैं। यह बुरा है। किन्तु मेरिया माण्टेसरी का यह विचार विवाद-ग्रस्त है। उनकी इस विचार-धारा से यह प्रभाव पड़ा है कि अब कहानियों में उपयुक्तता पायी जाने लगी है। पुरानी राक्षस आदि सम्बन्धी कहानियाँ बच्चों को नहीं पढ़ायी जातीं, क्योंकि उनसे बच्चों को अनावश्यक भय मिलता है और उनमें अप्रत्याशित मानस-ग्रन्थियाँ (Complexes) उत्पन्न हो जाती हैं। बच्चों के मानसिक विकास में कहानियों का अत्यधिक महत्त्व है। कहानिकों का आधार ऐसा होना चाहिए कि बच्चे स्वयं उनके रहस्य को समझ जायें और अपनी कल्पना-शक्ति से उनके मूलाधार को जीवन में लावें। ज्यों-ज्यों बच्चों की अवस्था बढ़ती जाती है उनकी कहानियों में परिवर्तन होना चाहिए। प्लेटो (Plato in his *Republic*) ने भी कहानियों की महत्ता गायी है और उनके द्वारा नैतिकता की शिक्षा देने की बात कही है। इसी प्रकार प्रसिद्ध शिक्षा-शास्त्री फ्रोबेल (Froebel) ने भी बच्चों के स्वाभाविक विकास में खेल के साथ कहानियों का स्थान रक्खा है। कहानियों के चरित्रों का नाट्य भी उन्होंने ग्राह्य माना है। मेरिया माण्टेसरी के सिद्धान्त

को हम मानने को तैयार नहीं है, क्योंकि इसमें अमनोवैज्ञानिकता है। कहानियों में न-केवल मनोरंजन होता है, अभिरुचियाँ (Interests) जगती हैं, अवधा नवढ़ता है, प्रत्युत बालमनोविकास होता है, विश्व के प्रति जागरूकता बढ़ती है और मन के तत्वों का विस्तार होता है।

बच्चों के स्वप्न (Children's Dreams)

§. [७] बच्चों की स्वतंत्र (असंयत या निष्क्रिय) कल्पना में स्वप्न भी चलते रहते हैं। श्री हैनरिक क्लूवर का कहना है कि बड़े बच्चों की अपेक्षा छोटे बच्चे अधिक दुःस्वप्न देखते हैं। ज्यों-ज्यों बच्चा वास्तविक जगत् की ओर उन्मुख होता जाता है उसके स्वप्न अपेक्षाकृत कम दुखद होत जाते हैं। पाठकों को उनके बचपन की अनुभूति होगी: कदाचित उन्हें स्मरण होगा कि उनके बचपन के स्वप्न बड़े भयानक होते थे। मेरी बेटी अनामा ५ वर्ष की अवस्था में चौंककर उठ जाती और कहती थी: वह बुढ़िया आई! मेरे पैर में मैला लगा रही है……।" वह जग कर रोने लगती थी। मैं १२ वर्ष की अवस्था में रोता-कलपता अपने एक मात्र संरक्षक बड़े भाई को चिता पर जलाते समय रोता था और उनसे रो-रो कर बातें करता था: भैया, अब क्या होगा? हम सब कहाँ जायँगे? . । भैया भी फूट-फूट कर रोते थे और कहते थे: यही होना था! क्या करोगे' "देखो, लकड़ी बुझ रही है, चिता में और लकड़ी डालो।" सोचिए, इस स्वप्न की भयानकता! मैं इन स्वप्नों को कैसे भूल सकता हूँ? बड़ी अवस्था में दुखद स्वप्नों की आवृत्ति कम हो जाती है। कभी-कभी ऊँची अवस्था वाले व्यक्तियों में भी बच्चों के समान स्वप्न उदय हो जाते हैं। आरम्भिक स्वप्न बहुधा पशु-सम्बन्धी होते हैं; किन्तु क्रमशः उनमें व्यक्तिगत कठिनाइयों का समावेश होने लगता है। बहुधा दिन की अनुभूतियाँ स्वप्न में चला करती हैं। डा० फ्राएड के अनुसार बच्चों की अवदमित अभिकाङ्क्षाएँ उन्हे स्वप्न में विकल करती हैं। किन्तु उनका यह कहना कि स्वप्न काम-सम्बन्धी ही होते हैं, अमान्य है। हाँ,

प्रसन्न हो जाते हैं और अपनी गुप्त प्रतिभा को कालान्तर में विकास देते हैं। जब बच्चे बढ़ जाते हैं तो वे अपनी रुचि के अनुसार सुन्दर वस्तुओं का संग्रहण करते हैं, उन्हें सजाते हैं और उनके प्रदर्शन से आत्म-तुष्टि का अनुभव करते हैं। कला-प्रदर्शनी (Fine Arts Exhibition) का बच्चों के जीवन में अधिक महत्व है। इस विषय में इस बात का विचार करना अपेक्षित है कि कला-प्रदर्शन की वस्तुओं से बच्चों के वातावरण से अधिक सम्बन्ध हो और उनसे उनमें रचनात्मक, आविष्कारात्मक कल्पनाएँ जगें और वे भी वैसा करने को उत्सुक हों। उनकी व्यापक उत्सुकता को जगाना तथा उनसे शिक्षा ग्रहण करना प्रमुख उद्देश्य होना चाहिए। कविता-प्रेम भी सौन्दर्यात्मक भावनाओं को जगाता है। कविता में कल्पना, राग, लय और भाव पाए जाते हैं। बच्चे उन्हें याद कर लेते हैं, क्योंकि उनकी स्मृति तीक्ष्ण होती है। इन कविताओं का उनके जीवन में बहुत महत्व है। किन्तु कविताएँ अच्छी और सुरुचिपूर्ण होनी चाहिए। जिस प्रकार गन्दे चित्र, गाने, नृत्य आदि, बच्चों में अनुचित संवेग उत्पन्न कर सकते हैं, वैसे ही गंदी-गंदी कजलियाँ, कबीर आदि उनके संवेगों को बुरा रूप दे सकती हैं। अतः हमें सौन्दर्यानुभूति-सम्बन्धी वातावरण से सदा सचेष्ट रहना चाहिए। बच्चों को गंदे मेलों, नाचों, गानों में नहीं ले जाना चाहिए। कभी-कभी उनकी सौन्दर्यानुभूति को जगाने अथवा उसमें अभिरुचि उत्पन्न करने के लिए अपने घरों में अथवा पाठशालाओं में कल्पना तथा सौन्दर्य-सम्बन्धी अभिनय, प्रदर्शन, गानादि कराना चाहिए।

मानसिक विकास कल्पना तथा सौन्दर्यानुभूति पर भी अवलम्बित है, यह स्पष्ट हो गया होगा। बच्चे स्वयं इस विकास को अपने जीवन-विकास द्वारा स्पष्ट करते हैं। किन्तु बहुत से बच्चे कल्पनातिरेक से मानसिक ग्रन्थियों के फलस्वरूप असामाजिक हो जाते हैं। अतः हमें बच्चों की कल्पना को सदैव सुरुचिपूर्ण तथा सीमा के भीतर रखना चाहिए। इसी प्रकार सौन्दर्यानुभूति का रूप भद्दा नहीं होना चाहिए,

नहीं तो बच्चों में कामजनित बुराइयाँ आ सकती हैं। अब हम आगे के प्रकरणों में बच्चों की कहानियों एवं चित्रकारियों के विषय मे थोड़ा विशद विवेचन उपस्थित करते हैं।

बच्चे और कहानियाँ (Children and Stories)

§. [६] ऊपर के विवेचन से स्पष्ट होता है कि बच्चों की विविध प्रकार की कल्पना-प्रतिमाएँ उन्हें सौन्दर्यानुभूति की ओर उन्मुख करती हैं। इस प्रकरण में हम बच्चों की कहानियों पर पृथक् से प्रकाश डालेंगे। बचपन तो क्रमिक विकास की अवस्था है, बच्चे अपने को भली भाँति अभियोजित (Adjusted) नहीं कर पाते अतः वे अपने खेलों, कहानियों आदि से अपनी अभियोजना प्रदर्शित करते हैं। खेल तथा कहानियाँ काल्पनिक मानस प्रक्रियाओं का द्योतन करते हैं। बच्चे स्वतः प्रयासोन्मुख होते हैं और विजयोल्लास से प्रसन्न एवं आत्मसमर्पण से प्रदीप्त होते हैं। अभिनय, कहानी आदि से वे अपनी अभिकांक्षा प्रकट करते हैं। वे अपने साहसिक कार्यों (Adventures) की अनुभूति कहानियों में वर्णित राक्षस के नाश एवं परियों की उड़ान से करते हैं। उनमें ऐसी कहानियों के प्रति स्वतः प्रेरणा पायी जाती है। बच्चे कहानी में इतनी अभिरुचि क्यों प्रदर्शित करते हैं? प्रसिद्ध शिक्षा-शास्त्री फ्रोबेल के मतानुसार बच्चे जीवन की जानकारी करना चाहते हैं और उन्हे यह जानकारी कहानियों द्वारा प्राप्त होती है। कहानियों द्वारा मानवी जीवन पर प्रकाश पड़ता है। बच्चे, लगता है, कहानियों द्वारा अपनी स्थिति की जाँच करते हैं। वे बहुधा कहानियों के पात्रों से आत्म-साक्षात् (Identification) करते हैं। बच्चे अपने अनुदिन के अनुभवों का साक्षात् कहानियों की घटनाओं से करते हैं। मेरी पंचवर्षीया बेटी अनामा एक वर्ष तक लगातार यह कहानी कहती रही : "वह बुढ़िया आती है। उसके बाल बड़े-बड़े हैं। उसके हाथ मे कुछ है। वह गू है। वह मेरे पैरों में गू लगा देगी। अरे माई! मैं भग जाऊँगी। बाबू जी उसे मारेंगे। वह बुढिया बड़ी माँ है।"

किशोर एवं नवयुवकों के स्वप्न बहुधा काम-सम्बन्धी ही होते हैं। बचपन की उलझनें बहुधा स्वप्नों में जागरित होती हैं। बचपन की अवदमित इच्छाएँ मानस-ग्रन्थियों (Infantile Complexes) का रूप पकड़ती जाती हैं। माता-पिता, अध्यापक तथा अभिभावकों को इस विषय में सचेत होना चाहिए।

बच्चों की सौन्दर्यानुभूति

सामान्य व्याख्या: अभिनय, कहानी, संगीत, चित्रकला, कविता आदि

§. [८] बच्चे स्वभावतः सौन्दर्य-प्रेमी होते हैं। वे रंग-विरंगे पदार्थों का अवलोकन करते हैं। सुन्दर वस्तुओं तथा क्रियाओं को देखकर नाचने लगते हैं, खिलखिला उठते हैं, ताली देने लगते हैं। उनमें अभिनय (Acting) के प्रति जागरूकता का उदय होता है। कुछ लोग अभिनय को जन्मजात प्रवृत्ति मानते हैं; किन्तु अभी यह बात विवाद-ग्रस्त है। क्या पशु, क्या मनुष्य, सभी उछलकूद करते हैं, और अपने हावों, भावों, प्रचेष्टाओ से अपने सवेगों का प्रदर्शन करते हैं। बच्चों में भले ही यह जन्मजात प्रवृत्ति न हो, किन्तु वातावरण की अनुभूतियों से उनमें अभिनयात्मक प्रवृत्ति जगती है इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। अभिनय आत्म-प्रकाशन है। अभिनय का महत्व बहुत अधिक है। बच्चे जब नाचते हैं, गाते हैं, तो उनकी इन क्रियाओं में उनकी कल्पनाओ की प्रभूत मात्रा विराजमान रहती है। अतः कलात्मक कल्पना विकास पाती है। इसीसे उनमें सौन्दर्य-भावना जगती है। अभिनय द्वारा क्रमशः बच्चे यह जान जाते हैं कि वास्तविकता क्या है, कल्पना क्या है, चरित्र-भाव क्या है, संवेगों का स्वरूप क्या है, लोगों के व्यवहार क्या हैं। अतः शिक्षा-पद्धति में नाट्य की महत्ता अपने आप समाविष्ट हो गयी है। बच्चे नाट्य करने में आनन्द की अनुभूति पाते हैं। बहुत से स्थायी-भावों (Sentiments) की सृष्टि का आधार अभिनय तथा नाट्य है;

जो कल्पना के सहारे प्रस्फुटित होता है। आत्म-विश्वास (Self-confidence), प्रतिभा (Genius), प्रत्युत्पन्नमति का उदय होता है। बच्चे जान जाते हैं कि उनके जीवन की मोहकता कहाँ छिपी है। सहनशीलता(Perseverence), सहकारिता(Cooperative spirit) और विविध प्रकार के उत्तम भावों की सृष्टि मे उनके चरित्र तथा व्यक्तित्व (Character & Personality) का विकास होता है। कहानियों को सुना कर उनके विभिन्न पात्रों का अभिनय, गाना, नृत्य आदि बच्चे अपने-आप करते हैं। लगता है, अभिनय में उनकी बहुत-सी मानसिक वृत्तियों का विकास निहित है। किन्तु अभिनयातिरेक से बचना चाहिए, क्योंकि इससे बच्चे जीवन की गम्भीर बातों को समझने में अशक्त हो जायेंगे। सीमा के भीतर इसका महत्व पर्याप्त है। गाना बच्चों को स्वभावतया रुचिकर होता है। वे गाना मन लगा कर सुनते हैं। शिशुओं को रोते समय गाना सुनाया जाय तो वे चुप हो जाते हैं। माताएँ लोरियाँ गाती हैं। इन लोरियों का सास्कृतिक (Cultural) महत्व है, इनमें अतीत बालरुचि छिपी है, जो अविकल रूप से आज तक चली आयी है। बच्चों में गाने का महत्व अभिनय से कम नहीं है। सब बच्चे गा नहीं सकते और न सभी बच्चे अभिनय कर सकते, किन्तु गाने तथा अभिनय सभी को प्रिय लगते हैं। मधुर बाजे भी बच्चों को मनमोहक होते हैं। बच्चे स्वभावतः अपने स्वर-संवेदन से प्रफुल्लित हो जाते हैं। अभिनय में दृष्टि-संवेदन, गाने-बाजे में श्रवण-संवेदन तथा स्वर-सवेदन निहित है। इनकी पराकाष्ठा में प्रत्यक्षज्ञान होता है जो मन के विकास का मूलाधार है। अतः हम देखते हैं कि सौन्दर्यानुभूति मे सभी संवेदनों का अविच्छेद प्रभाव है। सुन्दर, कोमल वस्तुओं, सुन्दर फूलों का स्पर्श, उनका मधुर, सुषमा-युक्त सौरभ हठात् बच्चों को अपनी ओर प्रेरित करता है। कलात्मक भावों का विकास इसके द्वारा होता है। चित्र-कला, गान कला, अभिनय-कला आदि में बच्चों की सौन्दर्यानुभूति है जो उनके विषम क्षणों में आनन्द का स्रोत उत्पन्न करती है। दुखी बच्चे इस अनुभूति से

वास्तव में, अनामा को उसकी एक पड़ोसिन ने, जिसे वह बड़ी माँ कहती थी, कई बार पीट दिया था। कभी-कभी बच्चों में उभय-भाव (Ambivalence) पाये जाते हैं। वे अपने माता-पिता को प्यार भी करते हैं और घृणा भी करते हैं और इसीसे उनमें बुड्ढों से भय भी उत्पन्न होता है। बच्चे अपने अनुदिन की समस्याओं को अपनी कहानियों मे प्रदर्शित करते हैं। बच्चों के विषय में उनकी कहानियों द्वारा बहुत कुछ जाना जा सकता है। अतः कहानियों द्वारा बच्चों का रेचन और शोधन (Abreaction) होता है और होता है उनमें सामाजिक एवं नैतिक ज्ञान का विकास। नैतिकता से पूर्ण कहानियों के पात्र उन पर अपना प्रभाव छोड़ जाते हैं। हितोपदेश की कहानियाँ इस विषय में कितनी उपादेय हैं, इसे पाठक स्वतः समझ सकते हैं। जहाँ लम्बे-लम्बे उपदेश व्यर्थ हो जाते हैं बच्चों का कथा-जगत् उन्हें पर्याप्त ज्ञान दे देता है।

बच्चे और चित्रकारी (Children's Drawing)

§. [१०] बच्चों की कल्पनात्मक एवं सौन्दर्यात्मक अनुभूतियों में चित्रकारी अपनी एक विशिष्ट स्थान रखती है। दो विधियों से बच्चों की चित्रकारी-सम्बन्धी सौन्दर्यात्मक अनुभूति पकड़ी जाती है: (१) ग्रीफिथ-विधि, जिसके द्वारा शिशु-विशेष की चित्रकारी निरन्तर बहुत दिनों तक देखी जाती है, तथा (२) गुडइनफ-विधि, जिसके द्वारा अवस्था, बुद्धि एवं संवेगों से चित्रकारी की अवस्थाओं (Stages) का अनुशीलन किया जाता है और व्यक्त किया जाता है कि चित्रकारी से बुद्धि-विकास का गहरा सम्बन्ध है। प्रसिद्ध बालमनोवैज्ञानिक शिन, प्रेयर, सली, स्टर्न आदि ने पहली विधि से बहुत-से अनुसंधान किए हैं। इन दोनों विधियों से पता चला है कि वास्तविकता के दृष्टिकोण से चित्रकारी की तीन अवस्थाएँ हैं: (१) आकारावस्था (Schematic Drawing Stage) जिसमें केवल आकार-मात्र का परिदर्शन होता है, (२) अनुकृत्यावस्था (Imitative Stage) जिसमें वस्तुओं को देख कर खींचना होता है तथा (३) ठोस वस्तुओं के चित्रालेखन की

अवस्था। जैसा कि ऊपर कहा गया है चित्रालेखन से बच्चों की बुद्धि, संवेगों एवं अभिरुचियों का विशेष सम्बन्ध है। श्रीमती ग्रिफिथ ने ग्यारह अवस्थाएँ व्यक्त की हैं : (१) अस्पष्ट आलेखन (Scribbling) (२) पृथक्-पृथक् रेखाकार, यथा वृत्त, चतुर्भुज आदि का आलेखन (Single Representation)। बच्चे इन आकारों का नाम भी देते हैं; (३) कई वृत्तों या चतुर्भुजों का संयोगीकरण; (४) सीधी रेखाओं से वृत्त जोड कर मनुष्य-चित्र बनाना; धीरे-धीरे बच्चे हाथ, आँख, पैर जोड़ते हैं (इस अवस्था में मकड़े का भी चित्र प्रायः पाया जाता है); (५) इस अवस्था मे गत अवस्थाओं की पुष्टि होती हैं, चित्रों का सान्निद्ध्य (सटाकर रखना, Justaposition) होता है किन्तु सगठन नहीं। यदि एक पृष्ठ दिया जाय तो उसका कोना-कोना चित्रों से भर जाता है, (६) किसी चाही हुई वस्तु के प्रत्यङ्गों पर भी ध्यान जाता है, यथा खिड़की, पर्दा आदि और कोई चित्र बड़ा हो जाता है; (७) इसमें छठी अवस्था के चित्रों में वस्तु-विशेष-सान्निद्ध्य पाया जाता है; (८) इस अवस्था में कुछ चित्रों मे सम्बन्ध होता है और कुछ इसी प्रकार सन्निकट बने रहते हैं; (९) पूर्ण दृश्य की अवस्था जिसमें चित्र दृश्य के भीतर रहते हैं और उनमें एक सम्बन्ध होता है, यथा धोबी कपड़ा सुखा रहा है, तालाब है, सूखा भू-भाग है, गधा है आदि : (१०) अनेक दृश्यों की अवस्था—स्थावर वस्तुओं के साथ क्रियाशील वस्तुएँ भी रहती हैं तथा (११) यह अन्तिम अवस्था है, जिसमें किसी विषय (Topic) का आलेखन होता है तथा एक साथ कई दृश्य होते हैं। यह अन्तिम अवस्था पर्याप्त अभ्यास से आती है। इस प्रकार इन ११ अवस्थाओं में अर्थ-पूर्णता के दृष्टिकोण से पाँच स्तर स्पष्ट होते हैं : (१) पहले रेखा, तब (२) आकार, पुनः (३) एक-दूसरे के सन्निकट पदार्थों का चित्र, तब (४) दृश्य एवं अन्त में (५) विषय-दृश्य। बच्चों में ये अवस्थाएँ क्रमिक रूप नहीं भी पातीं, उनमें आगे-पीछे (Fluctuation) होता रहता है प्रतिभा-सम्पन्न बच्चों की अपेक्षा मन्द-बुद्धि बच्चों में उत्थान-पतन अधिक होता है।

चित्रों द्वारा बचपन-विकास उसी प्रकार होता है जिस प्रकार खेल एवं कहानियों द्वारा। चित्रों से रेचन, शोधन तथा विलयन (Abreaction, Sublimation & Inhibition) की क्रियाएँ होती रहती हैं। कुत्तों का चित्र बना कर कुत्ता-भय दूर किया जा सकता है। कभी-कभी चित्र का निर्माण करके अपने क्रोध एवं प्रतिशोध का शमन किया जा सकता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि सौन्दर्यात्मक अभिवृद्धि के साथ-साथ चित्रों द्वारा बचपन का समुचित विकास भी होता है।



चौदहवाँ अध्याय

बचपन में सामाजिक विकास

(Social Development in Childhood)

§. [१] नवजात शिशु न तो सामाजिक (Social) होता है और न असामाजिक (Unsocial), वह सामाजिक वृत्ति से हीन (Asocial) होता है। वह ऐसे वातावरण मे उपस्थित होता है जहाँ वह अपनी जन्मजात वृत्तियों तथा शक्तियों के सहारे क्रमशः अपना सम्बन्ध स्थापित करता जाता है। मनुष्य सामाजिक प्राणी होता है। अतः बच्चों का व्यक्तिगत विकास उसकी मूलप्रवृत्तियों, वंशानुक्रमागत शक्तियों तथा वातावरण-सम्बन्धी विशेष परस्थितियों पर निर्भर करता है। बच्चों की प्रवृत्तियों का समुचित परिष्कार उनके वातावरणजन्य क्रियाओं-उपक्रियाओं में निहित है। इस अध्याय में बच्चों के सामाजिक विकास का अध्ययन होगा। बच्चा जन्म के उपरान्त कितनी शीघ्रता से सामाजिक व्यवहार की क्रियाएँ प्रदर्शित करता है? उसकी प्रारम्भिक सामाजिक चेष्टाएँ क्या हैं? दूसरे बच्चों के प्रति जागरूकता उसमें कब जगती है? उसके बचपन के सामाजिक व्यवहार किस प्रकार होते हैं? उसका सामाजिक क्रमिक विकास किस प्रकार होता है? बच्चों की द्वन्द्व-प्रकृति का क्या महत्व है? तथा उनके सामाजिक व्यवहार की उन्नति में कौन-कौन से विभिन्न तत्व पाए जाते हैं? इन्हीं प्रश्नों का उत्तर देना इस अध्याय का लक्ष्य है।

आरम्भिक अवस्था की सामाजिक प्रतिक्रियाएँ

§. [२] मानवी शिशुओं का जीवन असहाय होता है, उन्हे बहुत दिनों तक माता-पिता तथा अन्य लोगों की रक्षा पर निर्भर करना पड़ता है। अतः प्रौढ़ लोगो की परिचर्या में ही उनके आरम्भिक व्यवहार झलकते हैं। माता बच्चे को खिलाती-पिलाती है और इसी क्रिया

से बच्चे में क्रमशः सामाजिकता का स्रोत उमड़ता है। बच्चे जब दूध पी लेते हैं, उनका बिस्तर सूखा रहता है अथवा जब उन्हें थपकियाँ मिलती हैं और माता उनसे कुछ कहती रहती है जो उनके सन्तोष से उनके प्रथम सामाजिक व्यवहारों का उदय होता है। जब वे बड़े हो जाते हैं, तो उनकी प्रसन्नता, मुसकान, गूँ-गाँ करने, एवं हाथ बढ़ाने की क्रियाओं से प्रकट होती है। इसके उपरान्त उन्हें अन्य लोगों की स्थिति का ज्ञान होने लगता है। अभिसंधान (Conditioning) से शारीरिक क्रियाओं के अतिरिक्त प्रौढ़ लोगों के प्रति जागरूकता जगती है। संवेदनाओं (Sensations) से क्रमशः प्रत्यक्षज्ञान (Perception) परिपुष्ट होता जाता है। इन प्रत्यक्ष-ज्ञानों से बच्चों में वस्तु-विशेष की पहचान जगती है।

सामान्य प्रतिक्रियाएँ

प्रथम मास में ही कुछ बच्चे किसी के प्रवेश करने, किसी के स्वर सुनने अथवा किसी को देखने से ही रोना बन्द कर देते हैं। यह अवधान की क्रिया है। दूसरे मास में किसी की पहचान अधिक बढ़ जाती है। बुहलर, गेसल (Buhler, Gesell) आदि मनोवैज्ञानिकों ने प्रमाणों से सिद्ध किया है कि दूसरे महीने में ही किसी परिचित व्यक्ति को देखते ही बच्चे मुस्की देने लगते हैं। दो महीने की अवस्था वाले बच्चे स्वर सुनकर अपने सर अथवा आँखों को घुमा लेते हैं, किन्तु अभी बच्चे किसी की मुसकान अथवा क्रोध-मुद्रा को नहीं भी समझ सकते हैं। हँसते हुए मुख को देखकर मुसकरा सकते हैं, लेकिन क्रोधित व्यक्ति को देखकर भी मुसकरा उठते हैं। ३ या ४ महीनों के बच्चे भी मुसकान, क्रोध, स्वर तथा हाव-भाव को भली भाँति समझने में असमर्थ होते हैं। इसमें कुछ अपवाद भी पाये जाते हैं। ४ महीने के उपरान्त पाँच महीनों के बच्चे क्रुद्ध स्वर को सुनकर अथवा डाँटने के स्वर को सुनकर रोने लगते हैं। इस अवस्था में उनका अवधान विकसित हो गया रहता है और वे मुखाकृति के परिवर्तनों को समझने में समर्थ हो जाते हैं। ऐसी अवस्था में स्वराकृति को भी

समझ लेते हैं। वे इतना जान लेते हैं कि मुसकान-क्रिया उन्हें प्रसन्न करने जा रही है और क्रुद्ध-मुद्रा उन्हें दण्ड देने जा रही है। एक वर्ष के बीतते-बीतते स्वर-मुखाकृतियाँ (Vocal and Facial expressions) उन्हे स्पष्ट हो जाती हैं। वे ८ या १० महीनों में क्रुद्ध हावों-भावों एवं मुद्राओं को भलि भाँति जान लेते हैं।

४ मास के बच्चे किस व्यक्ति के सानिध्य मे अपने हाथ उठाते हैं और शरीर तान लेते हैं, जिससे यह प्रकट होता है कि वे गोद में जाना चाहते हैं। वे किसी के आगमन में प्रसन्नता प्रदर्शित करते हैं। वे देखी हुई वस्तु की ओर दृष्टि-निक्षेप करते हैं और अतर्ध्यान होती हुई आकृति की ओर कुछ देर तक देखते रहते हैं। यदि कोई उनसे खेलने लगता है, तो वे गूँ-गाँ भी करने लगते हैं। ५ महीने की अवस्था में यदि आप लुका-छिपी कर रहे हैं, रह-रह कर अपना मुख छिपा रहे हैं, तो वे हँसने लगते हैं। इस प्रकार क्रिया-वाही शक्तियों (Motor activities), प्रतिकूल-व्यवहार, अवधान, व्यक्तिकरण, भाषा आदि के विकास के साथ-साथ उनमें सामाजिक प्रतिक्रियाएँ होने लगती हैं।

४-५ मास के बच्चों में एक दूसरे के प्रति अभिज्ञता प्रकट होती है। ६ माह में वे एक दूसरे की ओर अवधानित (Attentive) होते हैं, और एक-दूसरे की क्रियाओं की ओर देखने लगते हैं, छीना-झपटी आरम्भ कर देते हैं। ८ माह के बच्चे छोटे बच्चों के हाथों को पकड़ते हैं, उनसे मुसकराते हैं और कुछ गूँ-गाँ करते हैं।

सामाजिक विकास की अवस्थाएँ

§. [३] इस प्रकार हम बुहलर के शब्दों में बच्चों में क्रमशः सामाजिक अन्धता, सामाजिक आश्रितता तथा सामाजिक स्वतन्त्रता (Social blindness, Social dependence and Social independence) की अवस्थाएँ पाते हैं। (१) प्रथम स्थिति में एक बच्चा दूसरे बच्चे से अनवधानित रहता है, उसकी उपस्थिति का ध्यान न करते हुए भी वह खेलता है; इधर-उधर रेंगने

का उद्योग करता है, गूँ-गों करता है अथवा मुसकराता है। यह उसका सामाजिक अंधापन है। (२) क्रमशः इस स्थिति का विकास होता है। बच्चे दूसरे की स्थिति का अवगाहन करते हैं, किन्तु उन्हीं पर आश्रित रहते हैं। ऐसी स्थिति में अनुकृति (Imitation) होती है। बच्चे तदेव व्यवहार करते हैं। (३) तीसरी अवस्था में सामाजिक जागरण आ जाता है। बच्चे दूसरों को पहचान कर अपनी अवस्थिति का परिचय देते हैं। ऐसी अवस्था में एक-दूसरे से खेलते हैं, सर्वोपरि का भाव रखते हैं, भय नहीं खाते हैं, दूसरे की स्थिति में लज्जाशील नहीं होते। दूसरों पर अपना प्रभुत्व जमाना अथवा दूसरों की केवल अनुकृति करना पाया जाता है। अतः उच्चता तथा हीनता (Dominance and Submission) के भाव जगते है। ६ से लेकर १२ महीने के बच्चो में यह वात पायी गयी है। किन्तु कुछ बच्चों में इन तीन स्थितियों में हेर-फेर पाया जाता है। कुछ बच्चों में अधिक सामाजिक अंधता पायी जाती है, कुछ बहुत दिन तक दूसरे पर आश्रित रहते है और कुछ शीघ्र ही स्वतन्त्र हो जाते हैं। अतः बुइलर महोदय का ऊपरी वर्गीकरण सर्वथा सत्य नहीं है।

५ वर्ष के पूर्व की सामाजिकता

§. [४] बच्चों की विवृद्धि तथा सीखने (Maturation and Learning) की प्रतिक्रिया के अनुरूप उनका सामाजिक विकास बढ़ता जाता है और उनके सामाजिक व्यवहारों मे स्पष्टता, विस्तार तथा जटिलता आने लगती है। ब्रिजेज् महोदया ने एक माप-दंड (The Bridge's Scale) स्थिर किया है जिसके द्वारा बच्चों की सामाजिक क्रियाएँ परीक्षित होती हैं। इस पद्धति से २ वर्ष से ५ वर्ष तक बच्चों की सामाजिक जाँच होती है। बच्चों का बच्चों के साथ तथा प्रौढ़ लोगों के साथ किए गए व्यवहार जाने जाते हैं। यह जाना जा सकता है कि बच्चे दूसरे बच्चों से बोलते है, सामूहिक खेल खेलते हैं, वस्तुओं के प्रति अपना अधिकार जतलाते है, दूसरे बच्चों को पीडा के समय

आराम देने की प्रक्रियाएँ करते हैं, दूसरे बच्चे की खेल-गतियों में कोई अवरोध नहीं उत्पन्न करते हैं, दूसरों को पीड़ा नहीं पहुँचाते है, अपने खिलौनों में दूसरों को सम्मिलित कर लेते हैं, छोटे-छोटे बच्चों के सत्वों की रक्षा करते हैं, और दूसरे बच्चों को खेलने के लिए सन्नद्ध करते हैं। इन क्रियाओं में वे कभी-कभी प्रारम्भिक वैयक्तिक रूप भी प्रकट करते हैं। कभी-कभी वे दूसरों को परिहास में पीड़ा भी पहुँचा देते हैं; किन्तु उनके आचरणों में क्रमशः सामाजिकता का समावेश होता रहता है, यह स्पष्ट है।

§. [५] ५ महीने के बच्चे दूसरे की मुसकान, क्रोध, स्वर की मुद्राओं से परिचित होते हैं। इन्हीं के विकास से वे मानव-व्यवहार को समझने में समर्थ होते जाते हैं। गेट्स (Gates) ने ३ वर्ष से लेकर १४ वर्ष तक के बच्चों के विभिन्न संवेगों के चित्रों को प्रदर्शित कर निम्न निष्कर्ष निकाला है। ३–४ वर्ष के बच्चे की ७०% संख्या हास्य-मुद्रा को पहचानने में समर्थ हुई, और ५०% बच्चे भय, क्रोध और पीड़ा को जानने में समर्थ हो सके। ७ वर्ष की अवस्था में ५०% ने क्रोध को पहचान लिया। ११ वर्ष में आधे से अधिक ने आश्चर्य को समझ लिया। किन्तु यह आदर्श-स्थिति नहीं है। इस अध्ययन में स्वर-संवेदन का अभाव था क्योंकि चित्रों में उसका दिखाया जाना असम्भव था। केवल चल-चित्र से यह किया जा सकता है।

मुखाकृतियों की समझ में विकास

§. [६] ५ वर्ष तक के बच्चों के हँसने तथा रोने का उनकी सामाजिकता से बहुत सम्बन्ध है। २ वर्ष के बहुत-से बच्चों की हँसी उनकी वैयक्तिक सीमा तक रहती है, जब वे अपने में खेलते रहते हैं। उसके उपरान्त उनकी हँसी समूह में प्रदर्शित होती है। ब्रैकेट (Brackett) के अध्ययन के अनुसार लड़के लड़कियों की अपेक्षा लड़कों के झुण्ड में अधिक रोते अथवा

५ वर्ष के बच्चों का हँसना और रोना

हँसते हैं। इसका कारण उनको हँसाना अथवा परेशान करना होता है।

.§. [७] बच्चे न तो मित्रता के प्रेमी होते हैं और न विरोधी क्योंकि मित्रता के ये दो भाव वातावरण-जन्य हैं, और अनुभूति-मूलक हैं। शिशुओं की अत्यधिक संख्या कुटुम्ब में पालित-पोषित होती है। उनकी देख-रेख, उनके भोजन-वस्त्र-आराम की व्यवस्था होती है। उनकी क्लेशमय स्थिति दूर की जाती है, अतः स्वभावतः वे स्नेह का व्यवहार समझते हैं। वैर-भाव उनमें बहुत कम पाया जाता है। यदि बच्चों को आरम्भ में झिड़कियाँ, उलाहने, पीड़ाएँ आदि कष्टकारक भाव मिलेंगे तो वे अवश्य द्रोही होंगे। वास्तव में, उनके स्नेह-भाव को प्रदर्शित करने वाले तत्व हैं : आराम, रक्षा तथा उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति। मित्रता-सम्बन्धी विरोधी भावनाएँ हैं क्रोध तथा परेशानियाँ।

प्रथम ५ वर्षों की मित्रता

आरम्भ में बच्चे आसपास की वस्तुओं अथवा बच्चो से मित्रता स्थापित करते हैं। एक कार्य करने वाले बच्चों में स्वभावतः मित्रता पायी जाती है, ५ वर्ष के बच्चों में लिंग-भेद-सम्बन्धी मित्रता का अभाव होता है। यह भाव तो वातावरण से उत्पन्न होता है। यदि माता-पिता उनके व्यवहार में जान-बूझ कर कोई व्यतिरेक उत्पन्न न करें तो वे किसी के साथ तथा किसी जाति-रंग वाले बच्चो के साथ खेलेंगे और मित्रता स्थापित करेंगे। २–३ वर्ष के बच्चे दूसरे बच्चो के साथ खेलते हैं। आरम्भ में दो की संख्या पर्याप्त है जो कुछ महीनों तक चलती है। फिर दो से तीन की संख्या होती है।

.§. [८] एक दूसरे के विचारों, भावनाओं तथा इच्छाओं को जानने में भाषा बड़ी सहायक होती है। अतः भाषा-विकास से बच्चे एक दूसरे तथा अन्य को समझने एवं उनके व्यवहारों को जानने तथा उनके अनुरूप चलने में समर्थ होते हैं। छोटे-छोटे बच्चे पुट-पुट

सामाजिक विकास में भाषा का संबंध

बोलते रहते हैं। वे सामूहिक खेल खेलते समय अनायास बोलते रहते हैं। किन्तु भाषा-विकास का सामाजिक विकास से वास्तविक सम्बन्ध बड़ी अवस्था में होता है। प्रश्नों को पूछना, उत्सुकता प्रकट करना, कहानी कहना, घटनाओं का वर्णन करना और बातें करना आदि तत्व सामाजिकता की ओर ले जाते हैं।

सामाजिक झुकाव

.§. [९] हमने देख लिया है कि बुइलर ने बच्चों के सामाजिक विकास को तीन श्रेणियों में विभक्त किया है : सामाजिक अन्धता, सामाजिक आश्रितता तथा सामाजिक स्वतन्त्रता। ये तीनों स्थितियाँ ५ वर्ष तक पायी जाती हैं। ४ या ५ वर्ष के बच्चों में सामाजिक उदासीनता (Social indifference) बहुत कम मात्रा में पायी जाती है। इस विषय में मानसिक योग्यता भी सहायता करती है। बुद्धिहीन लड़के १० या १२ वर्ष की अवस्था में दूसरों की उपस्थिति का उतना परिज्ञान नहीं रखते। सामाजिक आश्रितता अथवा सामाजिक जागरूकता के मूल में शिक्षा-दीक्षा तथा अनुभूतियाँ हैं। भिखारी के लड़के अधिक भीरु होते हैं। यही दशा दरिद्र के बच्चों की भी है। धनी घरानों के बच्चे स्वभावतः नेतृत्व करते हैं, और अपनी सामाजिकता की उच्चता का प्रदर्शन करते हैं। वे बच्चे, जिन्हें अधिक बिगड़ा या डाँटा जाता है, अथवा जो दुष्ट विमाता द्वारा पालित होते हैं, अथवा जिनकी आवश्यकताओं की पूर्ति बिना रोक-टोक के हो जाती है और जिन्हें अपनी शक्तियों के प्रसार का अवसर कम मिलता है, स्वभावतया दूसरों पर आश्रित रहते हैं, उनमें आत्महीनता (Inferiority) के भाव का उदय होता है। यदि ये बातें न पायी जायँ तो बच्चे कुशल सामाजिक होते हैं।

६ से लेकर १२ वर्ष तक सामाजिकता का विकास

.§. [१०] ६ से १२ वर्ष तक के बच्चों की सामाजिक मान्यताओं अथवा धारणाओं (Social Concepts) से उनकी बुद्धि अथवा

भाषा के विकास-क्रम को समझा जाता है। इन अवस्थाओं में उनमें सामाजिक स्थायीभावों (Social Sentiments) का उदय होता है। अब वे गूढ-गूढ बातों को भी समझने लगते हैं। इन अवस्थाओं में मुखाकृतियों के प्रदर्शन से संवेगों का पहचानना सरल हो जाता है। स्टैनफोर्ड-बिने-बुद्धि-माप से यह सिद्ध हो चुका है कि बच्चे सूक्ष्म एवं परोक्ष भावों (Abstract feelings) को इन अवस्थाओं में, उत्तरोत्तर विकास-क्रम से समझने लगते हैं। १२ वर्ष के बच्चे 'निरन्तर' 'साहस', 'दया-दाक्षिण्य' तथा 'रक्षा' आदि शब्दों की व्याख्या कर लेते हैं, और अपने इस ज्ञान से द्योतित करते हैं कि उनमें सामाजिकता अधिक आ चुकी है। किशोरावस्था (Adolescence) के पूर्व ईमानदारी से खेलना, दयालु होना, दूसरों की सहायता करना आदि भाव पूर्णरूपेण जागरित हो जाते हैं। किन्तु कभी-कभी व्यवहार द्वारा ये भाव नहीं प्रदर्शित होते।

सामाजिक संबंध

.§. [११] पाठशाला में पहुँचने पर बच्चों को विभिन्न सामाजिक उत्तेजनाएँ (Social Stimuli) मिलती हैं। क्रमशः बच्चों में आत्मविश्वास, आज्ञाकारिता का उदय होता है, किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि वे आज्ञा का विरोध नहीं करते। रोम्बक (Rombach) ने सामाजिक सम्बन्धों के विषय में बच्चों की पाँच श्रेणियाँ बतलाई हैं: (१) पहली श्रेणी वे में बच्चे पाये जाते हैं जो दूसरों पर आश्रित रहते हैं अथवा दूसरे के आत्मभाव से प्रभावित होते हैं (Protective Contact-group)। दूसरी श्रेणी भक्त लोगों की है। इसमें वे बच्चे पाए जाते हैं जो किसी सर्वप्रिय एवं आकर्षक व्यवहारों वाले बच्चों के पिछलग्गू (Devotional group) होते। (३) तीसरी श्रेणी में नेता (Leaders) बच्चे आते हैं। (४) जब बच्चे अत्याचारी अथवा निरंकुश होते हैं तो वे निरंकुश-श्रेणी (Despots) में आते हैं। (५) अन्तिम श्रेणी उन लड़कों की होती है जो किसी प्रकार की भी सामाजिकता दिखलाने में असमर्थ होते हैं। ये बच्चे या तो शरीर

से अस्वस्थ होते हैं या गन्दे होते हैं। १२ वर्ष की अवस्था तक उपर्युक्त सभी श्रेणियाँ स्पष्ट हो जाती हैं।

मित्रताएँ

§. [१२] अवस्था-विकास से क्रमशः मित्रता (Friendship) में स्थिरता, शक्ति और अतिशय परिचयता आती है। एक स्वभाव के, एक अवस्था के, एक विकास वाले अथवा समान अभिरुचियों और क्रियाओं वाले बच्चे आपस में मित्रता स्थापित करते हैं। क्रमशः अनुभव से मित्रता की कोटि निर्धारित होती जाती है। मित्रता का आधार कोई विशेष गुण होने लगता है। बच्चे मित्रों का वरण करते हैं। किशोरावस्था में स्थिरता आ ही जाती है। फर्फे (Ferfey) महोदय ने अपने अध्ययन से सूचित किया है कि सामूहिक व्यवहार के मूल में समान वातावरण है।

दल-निर्माण के तत्व

(Factors in the Formation of Group)

§. [१३] ४ या ५ वर्ष की अवस्था तक आवश्यकता, खेल तथा अकेलापन सामूहिकता की ओर ले जाते हैं। इस अवस्था में मित्रता दो में होती है। इसके उपरान्त दल का निर्माण होता है। दल-निर्माण ६ से लेकर १२ वर्ष की अवस्थाओं में भी समान अवस्था-अभिरुचि-क्रिया तथा मानसिक विकास पर अवलम्बित है। ये दल अधिक स्थिर होते हैं। ८ या १० वर्ष की अवस्थाओं के लड़के अथवा लड़कियाँ मण्डलियाँ स्थापित करती हैं। इन दलों का नाम-संस्करण होता है, शुल्क निर्धारित होता है, तथा सभा के दिन-समय नियत किए जाते हैं। लड़कियों के दल अस्थिर तथा लड़कों के स्थिर होते हैं। इन दलों में सदस्यों की विशेषताएँ पायी जाती हैं। दल-भाव का उदय होता है। किसी दल से सम्बन्ध स्थापित कर लड़के गर्व का अनुभव करते हैं।

बारह वर्षों में नेता-भाव (Leadership)

§. [१४] प्रथम वर्ष में भी नेतृत्व का भाव देखा जाता है। जब

छ महीने के कुछ बच्चे अन्य बच्चों के बीच रहते है तो उनमें मुखियापन देखने में आता है। दूसरे वर्ष के अन्त में नेतृत्व में दो प्रकार देखे जाते है। एक प्रकार का वह नेतृत्व है जिसको बच्चे दूसरों को पीड़ा पहुँचाने अर्थात् साथियों पर आक्रमण करके दिखाते हैं। दूसरे प्रकार में वे दूसरे को साहस देते देखे जाते हैं। इसके उपरान्त ५ वर्ष की अवस्थाओं तक दो या तीन बच्चों के बीच नेतागीरी देखी जाती है। दल छोटा होता है। नये खेल का निर्माण कर अथवा घर-घरौंदा बना कर अथवा कोई मनोरंजक सामग्री जुटा कर बच्चे अपना आधिपत्य प्रकट करते है। नेता दूसरों से काम लेता है और उन्हे डॉटता अथवा फटकारता है। धीरे-धीरे इस प्रकार की मुखियागीरी का अधःपतन हो जाता है, क्योंकि इसमें स्वार्थ-भाव का आधिक्य होता है, लोकतन्त्र की व्यवस्था नहीं होती! इसके उपरान्त बहुत-से बड़े-बड़े परिवर्तन होते हैं। बच्चों की विशेष योग्यता ही उन्हें नेता बनाने में सहायक होती है। उन्हे अच्छा खिलाड़ी होना चाहिए, अथवा उन्हे अधिक साहसी होना चाहिए, अपितु उनमें दल-सम्बन्धी क्रियाओं को संगठित करने की शक्ति होनी चाहिए। इतना ही नहीं, वे जब दल के लोगो की इच्छाओं की पूर्ति कर सकेंगे तभी नेता हो सकेंगे। अध्ययनों से यह निष्कर्ष निकला है कि बच्चों के नेताओं में शारीरिक सौष्ठव, शक्ति, सहनशीलता, कल्पना और बुद्धि का होना अपेक्षित है।

बच्चों के झगड़े (Children's Conflicts)

पारस्परिक झगड़े, दल-निर्माण आदि

§. [१५] यदि बच्चो का निरीक्षण किया जाय तो उनमें पर्याप्त मात्रा में झगड़े दिखाई पड़ेंगे। ये अधिकतर बचपन की आरम्भिक अवस्था में अधिक पाए जाते हैं। एक खिलौने के दो प्रतिद्वन्द्वी हो सकते हैं, एक की वस्तु दूसरा छीनता है अथवा एक वस्तु के लिए दोनो समान रूप से लालायित होते हैं। एक बच्चा दूसरे को कष्ट देता है। माता गृह-कलह से बहुत परिचित होती है। छोटे-छोटे

बच्चे आपस में लड़ा-भिड़ा करते है, उसे उन झगड़ों का निपटारा करना पड़ता है। क्रमशः अवस्था-विशेष से ईर्ष्या जगती है और बच्चे एक दूसरे को हानि पहुँचाते पाए जाते हैं। ४-५ वर्ष के पूर्व के बच्चों मे असमानता, विभिन्नता, झगड़े बहुधा पाए जाते हैं। किन्तु आरम्भिक झगड़े क्षणिक होते हैं। झगड़ों को लेकर विभिन्न माता-पिताओं में कभी-कभी सदा के लिए वैर-भाव उत्पन्न हो जाते है, किन्तु बच्चे कभी-कभी एक दो घण्टे पश्चात् फिर आपस मे मिल जाते हैं और खेलने को तरसते रहते हैं। क्रमशः बड़ी अवस्था मे भी, खेल, ईर्ष्या, आत्म-प्रकाशन, क्रुद्ध स्वभाव, दूसरों के अधिकार के प्रति उदासीनता आदि कारणों से बच्चों मे झगड़े चला करते है। भाषा-विकास से गाली-गलौज का बाजार गर्म हो जाता है। किन्तु किशोरावस्था आते-आते झगड़ों में बहुत कमी पड़ जाती है। इसका कारण काम-वृत्ति का जागरण नहीं है, प्रत्युत सामाजिकता का अधिक मात्रा में उदय होना है। बच्चों को अपने मान-सम्मान के लिए एक दूसरे की सहायता अपेक्षित होती है। यदि इस अवस्था में झगड़ा होता भी है, तो वह बहुत दिन तक चलता है। मारना, धक्का देना, चोथा-बकोटी, क्रोधावेश में चिल्लाना, गाली देना, दूसरों से प्रार्थना करना, मिट्टी फेंकना, ढेला मारना, आदि झगड़ों की प्रतिक्रियाएँ है, जो साधारणतः छोटे-छोटे बच्चों में पायी जाती हैं। ये प्रतिक्रियाएँ कुछ मात्रा में बड़े बच्चों में (६ से १२ वर्ष तक) भी पायी जाती हैं। साधारणतया बड़े बच्चों में युद्ध तथा गाली-गलौज पाया जाता है। फिर तो दो दलों में युद्ध होता है। एक दल से दूसरा दल लड़ता है। दो महल्लो के लड़के आपस में युद्ध करते हैं। मुझे अपने बचपन के युद्ध अभी स्मरण हैं। एक ही गाँव में दो दल थे जो विभिन्न मार्गों से पाठशाला जाया करते थे। रात में एक दूसरे के मार्ग में काँटे बिछा देना, अकेले मे मिल जाने पर पीट देना आदि क्रियाएँ होती थीं। यदि बड़ों की सहायता न मिले तो कभी-कभी भयंकर स्थिति उत्पन्न हो जा सकती है।

§. [१६] इन झगड़ों को दूर करने के लिये बच्चों को स्वयं उत्साहित करना चाहिए, क्योंकि ऐसी क्रिया में उन्हें पारस्परिक भाव का मूल्य ज्ञात होगा। कभी-कभी बुद्धि-कौशल से

झगड़ों की परिचर्या

उन्हे संकेत द्वारा समझा देना चाहिए। वास्तविक सामाजिकता के विकास के लिए द्वन्द्व-प्रकृति बुरा आचरण है। अत्याचारियों के दमन करने के लिए मारना-पीटना बुरा है। अच्छे वातावरण से सुधार करना चाहिए। प्रौढ़ लोगों को बच्चों के झगड़ों में नहीं पड़ना चाहिए, क्योंकि इन्ही झगड़ों में बच्चों का वास्तविक सामाजिक विकास है। यदि हम उन्हे बराबर सचेत करते रहेंगे तो वे किस प्रकार अध्यवसायी, सहनशील तथा संयम-प्रेमी हो सकेंगे? उनकी अनुभूतियाँ उनके जीवन को स्वयं सुधार देंगी।

खेलों द्वारा सामाजिक उन्नयन

§. [१७] इसका वर्णन बारहवें अध्याय में हो चुका है। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त है कि खेल के विभिन्न प्रकार तथा अवस्थाओं मे सामाजिकता ही छिपी है। वैयक्तिक खेलों से सामूहिक खेल आरम्भ होते हैं। सामूहिक खेलों में उनके नियम में, सामाजिकता के लक्षण प्रदर्शित होते हैं।

बच्चों के सामाजिक उन्नयन के विभिन्न तत्व

(Factors in the Social Development of the Child)

§ [१८] ऊपर की लम्बी-लम्बी व्याख्याओं के उपरान्त थोड़े में यह प्रकट कर देना उपयुक्त होगा कि बच्चों के सामाजिक विकास में कौन-कौन से तत्व निहित हैं। स्वास्थ्य, शारीरिक-गठन, कुटुम्ब, परिवार, खेल और अन्य मनोरंजन-सम्बन्धी क्रियाएँ, पाठशाला की क्रियाएँ, सभा, दल, स्काउटिंग, तथा अन्य सामाजिक पहलू बच्चों के सामाजिक विकास में किस प्रकार सहायक होते हैं? जीवन एक प्रयोजन है, एक लक्ष्य है और मानवी मूलप्रवृत्तियाँ हमें उसकी प्राप्ति के लिए अग्रसर करती हैं। वातावरण एक मोहक तत्व है, इसमें सन्देह नहीं।

वातावरण में ही मूलप्रवृत्तियों तथा जन्मजात वृत्तियो का विकास होता है। जो विभिन्न तत्व सामाजिकता के विकास में सहायक होते हैं वे सीखने की विविध गतियों को, जो विभिन्न अनुभूतियों को एक रूप देती हैं, निर्धारित करते हैं। जो बच्चा जितना ही स्वस्थ होता है अथवा जिसकी शारीरिक गठन जितनी ही सुव्यवस्थित होती है, उसका सामाजिक विकास उतना ही प्रौढ़ होता है।

(१) स्वास्थ्य तथा शारीरिक गठन

बचपन का रोग सामाजिक विकास में अवरोध उपस्थित करता है। रोगी बच्चे की मनःस्थिति बुरी हो जाती है। बहुत परिचर्या, अवधान, सुरक्षा तथा एकाकीपन से बच्चे स्वार्थी, उत्तेजक स्वभाव वाले तथा हठी हो जाते हैं। उनमें कायरता, भीरुता आदि दुर्गुण आ जाते हैं। शारीरिक गठन के दोष उन्हें लज्जाशील, तथा आत्महीन बना देते हैं। दूसरे बच्चे ऐसे बच्चों को परेशान करते हैं। अतः संक्षेप मे, इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि अच्छा स्वास्थ्य, सुन्दर शारीरिक गठन बच्चों में सामाजिक अभिरुचि लाती है और फलतः बच्चे मस्ती से खेलते-कूदते हैं, प्रसन्नचित्त रहते हैं, और उनका लोगो के साथ व्यवहार बहुत सुन्दर होता है। दुर्बल और अस्वस्थ तथा शारीरिक गठन-दोषी बच्चे असामाजिक हो सकते हैं। कहा जाता है कि घर बचपन की प्रथम पाठशाला है (Family is the First School of Life)।

(२) कुटुम्ब

सामाजिकता का भाव बच्चों को उनके माता-पिता, भाई-बहन, चाचा-चाची तथा चचेरे भाई-बहनो के सम्पर्क से अधिक प्राप्त होता है। अच्छे घर के लड़के स्वभावतः अच्छे होते हैं, उनमें सुन्दर सामाजिक भाव पाये जाते हैं। कभी-कभी ऐसा होता है कि सब से छोटे बच्चे को अधिक प्यार मिलता है जिसके फलस्वरूप वह बिगड़ जाता है, उनमें असामाजिकता पायी जाती है। किन्तु इसमें अपवाद भी पाये जाते हैं। विमाता के बच्चों, अनौरस सन्तानों तथा परपालित बच्चों को सामाजिक विकास मे कुछ गड़बड़ी

होती है, क्योंकि उन्हें स्वभावतः कौटुम्बिक उलझनों तथा कटूक्तियों का पात्र बनना पड़ता है। अतः माता-पिता का चरित्र तथा घरेलू शिक्षा-दीक्षा का बच्चों के सामाजिक विकास में महत्वपूर्ण हाथ है। नैतिकता (Morality) का ज्ञान तो घर से ही आरम्भ होता है।

बच्चों के सामाजिक विकास में खेलों तथा मनोरंजनों की प्रभूत उगा- देयता है। बच्चों के व्यवहारों का अध्ययन उनके खेलों से हो जाता है। वे जिस प्रकार के बच्चों के साथ खेलेंगे अथवा जो क्रिया-कलाप प्रदर्शित करेंगे उनमें वैसी ही सामाजिकता पायी जायगी। वैयक्तिक खेलों के उपरान्त जो सामूहिक खेल होते हैं उनमें सामाजिक विकास का भविष्य पाया जाता है। इस पर बहुत कुछ बारहवें अध्याय में लिखा जा चुका है। बच्चों की नैतिकता के विकास में खेलों की बड़ी उपयोगिता है।

(३) खेल तथा मनोरंजन-सम्बन्धी क्रियाएँ

घर के पश्चात् पाठशाला का ही विशेष महत्व है, जहाँ पर बच्चों को विभिन्न प्रकार के बच्चों से मिलना पड़ता है। अच्छी पाठशालाओं में बच्चों के सामाजिक विकास के लिए सारे उपयुक्त उपकरण पाये जाते हैं। वहाँ पर एक साथ पढ़ना, एक साथ जलपान करना, एक साथ खेलना, नाटक करना, गाना, होता है। बच्चो के संवेगों को सामूहिक बल मिलता है। बच्चे सहकारिता (Cooperation) से अपने को बाँधते हैं। एक बच्चे के विकास पर सम्पूर्ण पाठशाला के बच्चों का हाथ होता है। उन्हें नियमों को पालन करना पड़ता है, आज्ञाकारिता प्रदर्शित करनी पड़ती है। आए दिन पाठशाला की सामूहिक योजनाओं में बच्चों को सम्मिलित होकर एक साथ कार्य करना पड़ता है। वे एक दूसरे के गुणों से परिचय पाते हैं। बच्चों के मन पर जो प्रभाव पड़ते हैं उनकी अमिट रेखा उनके आगामी सामाजिक विकास में लक्षित होती है। अतः पाठशाला का जो गुरुत्व बच्चों पर पड़ता है उससे उनकी सामाजिक तथा संवेगात्मक

(४) पाठशाला का वातावरण

अभिवृद्धि होती है। पहले कहा जा चुका है कि स्वयं बच्चे बड़ी अवस्था में दलों का निर्माण करते हैं और स्वयं निर्मित नियमों का पालन करना सीखते हैं।

(५) सभा, स्काउटिंग आदि

अर्वाचीन काल में जो स्काउटिंग, सेवा-समिति आदि की संस्थापना हुई है उनसे बच्चों का सामाजिक उन्नयन होता है। बच्चों को पर्याप्त स्वतन्त्रता होती है, वे दूर-दूर जाकर प्रकृति-निरीक्षण में एक दूसरे के सहायक होते हैं। इन समितियों द्वारा उन्हें सामाजिक शिक्षा मिलती है। वे स्वयं अपने अनुभवों के बल पर विश्व की बातें समझते हैं। सहकारिता उदारता, त्याग, नैतिकता आदि की शिक्षाएँ हठात् मिलती रहती हैं। स्काउटिंग के विभिन्न कार्यों से उनमें आत्मभाव, आत्मविश्वास या आत्मनिर्भरता जगती है। तैरने, दौड़ने और भाँति-भाँति की कार्यशीलताओं में बच्चे अपने को पकड़ते हैं और प्रतिद्वन्द्विता के अच्छे गुणों से प्रवाहित तथा निस्वार्थता के दुर्गुण से दूर, उनमें मित्रता की भावनाएँ जगती हैं। बच्चे दूर-दूर शिविरों में रह-रह कर साथ खाना बनाते हैं, खाते हैं, एक दूसरे की सहायता करते हैं। बाह्य जीवन (Outdoor life) से उनमें सार्वजनीन भावनाएँ जगती हैं तथा विश्व कितना लम्बा-चौड़ा है, आदि की विशाल भावनाएँ प्रस्फुटित होती हैं। एक नेता की आज्ञा के पालन करने से किस प्रकार उनका दल विजयी हुआ और किस प्रकार वे कठिन से कठिन कार्य करने में समर्थ हुए, इसे जानने से मानसिक विकास के साथ उनका सामाजिक विकास होता रहता है।

(६) सामाजिक संगठन

जैसा समाज होगा वैसा ही बच्चों का सामाजिक विकास भी होगा। समाज में बहुत-सी बातें निषिद्ध होती हैं, बहुत-सी करणीय होती हैं। यदि बच्चे इन बातों को जानेंगे तो उनका वैसा ही विकास होगा। नगर के बच्चों तथा ग्रामीण बच्चों में बहुत अन्तर होता है, और यह अन्तर विभिन्न सामाजिक संगठन का परिणाम है। इस प्रकार आसपास का सामाजिक वाता-

वरण, जो बच्चों को आरम्भिक अवस्थाओं से प्रभावित करता रहता है, उनको उनकी सामाजिकता के विकास की ओर ले जायगा। समाज की परम्पराएँ, सास्कृतिक प्रचलन, धार्मिक उत्साह आदि ऐसे तत्व हैं जो अविकल रूप से बच्चों में, उनके क्रमिक विकास के साथ, परिवर्तन लाते रहते हैं और ये परिवर्तन अन्ततोगत्वा उनके सामाजिक विकास के रूप में प्रलक्षित होते हैं। इन्हीं तत्वों पर बचपन का सामाजिक विकास निर्भर करता है। इन्हीं तत्वों में नैतिकता के उत्थान के अधिकाश तत्व पाए जाते हैं जिनका विवेचन हम आगे के अध्याय मे सविस्तार करेंगे।

पंद्रहवाँ अध्याय

बचपन में चारित्रिक एवं धार्मिक विकास

(Character and Religious Development in Childhood)

.§. [१] चरित्र, व्यक्तित्व-निर्माण के तत्वों में एक प्रमुख तत्व है। समाज के लिए बच्चों का चारित्रिक विकास करना परमावश्यक है। बच्चों की नैतिकता का विकास सामाजिक उत्थानों के नियमन में है। चरित्र मानसिक दृढ़ता से प्राप्त होता है। मानव जाति ने अपने प्रयत्नों में जो विकास किया है, जो सभ्यता और संस्कृति के माप-दंड स्थिर किए हैं, उनके मूल में विभिन्न चरित्रवान् व्यक्तियों की कृतियाँ हैं। राष्ट्र के उत्थान-पतन में व्यक्ति-चरित्र निहित है। बालकों की शिक्षा-दीक्षा का अन्तिम लक्ष्य उनका चरित्र-निर्माण है। चरित्र क्या है? नैतिक चरित्र का स्वरूप क्या है? चरित्र के विभिन्न तत्व क्या हैं? आचरणों, उद्देश्यों तथा आदर्शों के मूल में चरित्र किस प्रकार खिलता है? ये मौलिक प्रश्न हैं।

पूर्वाभास

चरित्र का स्वरूप (Nature of Character)

.§. [२] वास्तव में, मन की दृढ़ता अथवा अध्यात्म-शक्ति की वृद्धि में ही चरित्र का प्रस्फुटन है। चरित्रवान् व्यक्तियों के आचरणों में एक लक्षण पाया जाता है जो उन्हें सतत उनके लक्ष्य की ओर अग्रसर तथा उद्बोधित करता है। उनका अन्तःकरण उन्हें विघ्न-बाधाओं के ऊपर उठाता है। महात्मा गाँधी का जीवन चरित्र, उनके सत्य के प्रति प्रयोग, उनकी मान्यताएँ, उनके क्रिया-कलाप आदि उनके नैतिक बल के द्योतक थे। उनका चरित्र कितना ऊँचा था, उनमें कितना नैतिक बल था, यह पाठकों से छिपा नहीं है। यह उनके चरित्र-बल का ही प्रभाव था कि आबाल-वृद्ध उनके कहने पर मर मिटने को सन्नद्ध रहते थे। उनके चरित्र की गरिमा लोगों में उत्साह-वर्द्धन करती थी। उनके कार्यों में एक अध्यात्म-शक्ति की प्रेरणा थी। यह प्रेरणा क्या

थी जिसके फलस्वरूप महात्मा गाँधी अपने लक्ष्य का निर्माण कर सके और उसकी प्राप्ति के लिए विविध उपकरणों का विधान कर सके? सभी व्यक्तियों के मन में किसी कार्य के प्रति द्वन्द्व उठता है : क्या करें? यह कि वह? जब अन्त.करण की विजय होती है तब सारे शारीरिक तथा मानसिक पहलू उसकी प्रेरणा से उद्वेजित हो एक लय में क्रियाशील हो जाते हैं। अन्तःकरण की वियज का क्या तात्पर्य है? एक मत के अनुसार शक्तिशाली भावना अन्तःकरण को छूती है और हम उस शक्ति के वशीभूत हो अग्रसर हो जाते हैं। दो विभिन्न शक्तियों के द्वन्द्व में अच्छी और बुरी दोनों बातें होती हैं, जब अच्छी बात निर्बल होती हुई भी बुरी बात पर विजय प्राप्त करती है तब अन्तःकरण का स्वर ऊँचा होता है। जब अन्तःकरण विजयी होता है, तो मनुष्य वही कार्य करता है, जो युगों से निर्धारित है, पूजित है और जिसकी प्राप्ति में प्रायः सभी चरित्रवान् लोग रहते हैं। अन्तर्स्वर अज्ञात शक्ति है। किन्तु विभिन्न दार्शनिक तथा मनोवैज्ञानिक इस अन्तर्स्वर को विविध रूप से प्रकट करते हैं। जड़वादियों का कहना है कि

विभिन्न मत : वाट्सन, मैकूडूगल भारतीय मत

हम, वातावरणजन्य विषमताओं में अपने व्यवहार के संस्कारों से जो क्रियाएँ करते हैं वे हमें चरित्र-निर्माण में सहायक होती हैं। प्रसिद्ध जड़वादी मनोवैज्ञानिक वाट्सन (Watson) महोदय ने चरित्र को व्यवहार-संस्कार-समुच्चय माना है। वाट्सन के मत के अनुसार मन अथवा चेतना शारीरिक विकारों का फल है अतः वहाँ अध्यात्म-शक्ति अथवा किसी अज्ञात शक्ति के उद्भव की बात नहीं उठती। वाट्सन के विचारों के प्रतिकूल प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक मैक्डूगल का मत है। उनका कहना है कि मूलप्रवृत्तियों में जब धीरे-धीरे परिष्कार हो जाता है तो स्थायीभावों (Sentiments) का निर्माण होने लगता है। हमारे कार्य-निर्णय में ये स्थायीभाव हैं। मैक्डूगल ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'आउटलाइन आफ साइकोलोजी' में एक स्थान पर कहा है कि

चरित्र मनुष्य की प्रवृत्तियों का संगठित अथवा परिष्कृत रूप है। यह संगठन व्यक्ति-विशेष के प्रयत्नों के अनुसार गठित अथवा ढीला हो सकता है, उच्च अथवा नीच हो सकता है। सुन्दर चरित्र का निर्माण और आदर्श उच्च ही रहता है। विभिन्न स्थायीभावों के संगठन से क्रमशः एक स्थायीभाव प्रबल होता है जिसमें सभी का रस समाहित रहता है। यह स्थायीभाव आत्मप्रतिष्ठा (Self-regarding Sentiment–the Master Sentiment) का द्योतक है जो सभी स्थायीभावों को अपने अधिकार और संचालन में रखता है। इस विषय में हमने दसवें अध्याय मे स्थायीभाव के सिलसिले में पढ़ भी लिया है। यह उच्चतम स्थायीभाव (Sovereign Sentiment) विकास का परिणाम है। विभिन्न परिस्थितियों के संघर्ष, सामाजिक क्रियाएँ आदि इस विकास में सहायक होती हैं। किन्तु भारतीय मैक्डूगल के ऊपर उठते हैं और 'ब्रह्मानन्द' को अन्तिम स्थायीभाव मानते हैं। बच्चों की मूलप्रवृतियाँ क्रमशः परिष्कार पाती हैं। किशोरावस्था में उनमें अधिक परिष्कार होता है। समाज-बुद्धि तथा सास्कृतिक विचार-भाव उन्हें अत्यधिक कार्यशील करते हैं जिसके फलस्वरूप उनमें सूक्ष्म भाव जगते हैं और क्रमशः स्थायीभाव परोक्ष सत्ता की ओर उन्मुख होते हैं। हमारी आत्मा उत्थान की ओर बढ़ती है। बढ़ते-बढ़ते विभिन्न स्थायीभाव सगुम्फित होते जाते हैं तथा 'सत्य', 'शिव', 'सुन्दरं' (Truth, Goodness and Beauty) की अवस्था आती है, शान्ति-रस प्रवाहित होने लगता है। तत्पश्चात् परमानन्द की उद्भूति होती है और ब्रह्मानन्द का अन्तिम स्थायीभाव उत्पन्न हो जाता है। तब अहंकार-आवरण दूर हो जाता है, आत्मा परमात्मा में मिल जाती है। अतः यह स्पष्ट है कि हमारा चरित्र क्रमशः प्रवृत्तियों के परिष्कार और विकास में है। यह परिष्कार हमें अध्यात्म-शक्ति देता है। अध्यात्म-शक्ति त्याग, उदारता, सहनशीलता आदि उच्च स्थायीभावों पर आधारित है। महात्मा गाधी का जीवन इसका ज्वलन्त प्रमाण है। महात्मा गाधी ने अपने जीवन-प्रयत्नों से यह स्पष्ट कर दिया है कि किस प्रकार मानव

ने बच्चों की सहकारिता, उदारता आदि की परीक्षाएँ की हैं।

§. [५] बच्चों के नैतिक ज्ञान तथा उनके झुकावों को विभिन्न परिस्थितियों में रखकर जाँचा गया है। उन्हें अपराधों का मूल्यांकन करने, कहावतों की व्याख्या करने, नैतिक सिद्धान्तों पर आधारित प्रश्नों के उत्तर देने, आगामी सम्भावनाएँ जानने, सामाजिक माप-दण्डों के विवेचन करने, कर्तव्यों, सिद्धान्तों, जाति-स्वभावों, समाज-परम्पराओं के झुकावों को जानने और नैतिक शब्दों आदि को जानने के लिए उद्बोधित किया गया है और उनके उत्तर के आधार पर उनके चरित्र की व्याख्या की गयी है। बच्चों से यदाकदा उनकी अभिरुचियों के बारे में पूछ कर उनके बारे में जाना गया है।

विभिन्न ज्ञान तथा झुकावों की परीक्षाएँ

§. [६] विभिन्न प्रयोगकर्ता, बच्चों को देखकर उनसे बातचीत कर, प्रश्न कर, उनके बारे में अपनी-अपनी धारणाएँ निश्चित करते हैं। फिर कालान्तर में सब का एक साथ अध्ययन होता है और फिर बच्चों को कई श्रेणियों में बाँटा जाता है। किन्तु यह विधि वैज्ञानिक नहीं है, क्योंकि इसमें अन्तर्दर्शन (Introspection) का आधिक्य है, विभिन्न प्रश्न-कर्ता विभिन्न धारणाएँ बना सकते हैं, दो व्यक्तियों में आकाश-पाताल का अन्तर हो सकता है तथा प्रश्नकर्ता दयाभाव-त्रुटि एवं प्रभाव-भाव (Generosity Error & Halo Effect) से अभिभूत हो सकते हैं (देखिए इस पुस्तक का पृष्ठ १७)। तथापि यह पद्धति बहुत कुछ बताने में समर्थ होती ही है क्योंकि चरित्र-माप के लिए अभी एक पलड़ा नहीं बन सका है।

श्रेणी-विभाजन

नैतिक विकास की अवस्थाएँ

(Stages of Moral Development)

§. [७] बच्चों के चरित्र के विकास की तीन अवस्थाएँ होती हैं। (१) नैतिक वृत्ति-हीन (*Amoral*), (२) नैतिक (Moral) एवं (३)

अनैतिक (Unmoral) अवस्था। प्रथम अवस्था वह है जिसे हम नैतिक वृत्ति की हीनता की अवस्था कहते हैं (Non-Moral or Unmoral)। इस अवस्था में बच्चे केवल अपने आश्रय-दाताओं पर निर्भर करते हैं। वास्तव में, नव शिशु न तो नैतिक है और न अनैतिक, वह केवल नैतिक-वृत्ति-हीन (Amoral) है। वास्तविक नैतिकता के लिए बच्चों में जीवन के प्रति जागरूकता का उदय होना आवश्यक है। जब तक बच्चा अपनी प्रवृत्तियों को नहीं समझेगा, जब तक उसमें अपने कर्तव्यों का ज्ञान नहीं होगा तब तक उसे हम नैतिक अथवा अनैतिक नहीं कह सकते। नैतिकता की भावना तो पूर्ण किशोरावस्था तथा प्रौढ़ावस्था में आती है। किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि बच्चों में नैतिकता का पूर्ण अभाव होता है। नैतिकता का विकास-क्रम तो आरम्भिक अवस्था में ही होता है, क्योंकि प्रवृत्तियों का परिष्कार तो होता ही रहता है। बच्चों में सहकारिता तथा सबके भले को समझने के भाव पाए जाते हैं। नौ वर्ष के बच्चों में दया-दाक्षिण्य का भाव पाया गया है।

नैतिक आचरण के चार आधार

§. [८] नैतिक विकास अथवा आचरण की अवस्थाओं के विषय में चार आधार पाए जाते हैं (१) पहली अवस्था में स्वाभाविक जन्मजात प्रवृत्तियाँ (Instinctive tendencies) हैं। ये प्रवृत्तियाँ प्रयोजनशील होती हैं, बच्चे स्वाभाविक प्रतिफलों द्वारा कुछ सीखते जाते हैं। लालटेन अथवा अग्नि से जल जाने से हाथ की नयी क्रिया का उत्पन्न होना प्रथम अवस्था है। (२) क्रमशः दूसरी अवस्था आती है जिसमें प्रेरणाओं (Motives) का मुख्य हाथ है। माता-पिता, शिक्षक आदि द्वारा पुरस्कार अथवा दण्ड मिलने से आरम्भ में परिवर्तन होता है। किन्तु इस अवस्था में वाह्य प्रेरणाएँ प्रमुख हैं। (३) तीसरी अवस्था में सामाजिक मान्यताएँ (Social Approval) आती हैं। इस अवस्था में बच्चे सामाजिक पहलुओं के अनुसार चलते हैं और उनके प्रतिकूल जाने पर जो सामाजिक दण्ड मिलता है उससे

अपनी प्रवृत्तियों का परिष्कार कर सकता है और अपने चरित्र को ऊँचा कर सकता है।

मानसिक बल की चरम कोटि ब्रह्मानन्द है। हमारे वेदान्त ने हमें यह बताया है। भारतीयों का चरित्र-विकास तो जड़वादियों (Materialists) अथवा विकासवादियों (Evolutionists) की कल्पना के बहुत ऊपर है। कहा जाता है, प्रत्येक भारतीय धर्म-परायण होता है। ठीक है। प्रत्येक भारतीय दार्शनिक है, क्योंकि उसकी परम्परा मे चरित्र के अन्तिम आदर्श छिपे हैं। भारतीय विचार-धारा आज पश्चिम के भ्रामक आत्म-प्रतिष्ठा-सिद्धान्त से प्रभावित हो रही है। यह एक विचारणीय प्रश्न है। पश्चिम में कलह है, ईर्ष्या है, विद्वेष है, क्योंकि वहाँ का अन्तिम जीवन-आदर्श आत्म-प्रतिष्ठा है। हम भी इसी आदर्श से विमोहित हो रहे हैं। आश्चर्य है, बहुत से भारतीय मनोवैज्ञानिक जो अमेरिका से लौट रहे हैं, पश्चिमी वातावरण से विमोहित होकर आते हैं। जब तक हम भारतीय परम्परा में चरित्र-गठन के आदर्श पुनः स्थापित नहीं करेंगे तब तक वास्तविक शान्ति नहीं मिलेगी। जब महात्मा गान्धी के चरित्र-आदर्श हमारे आदर्श बनेंगे तभी हम अपना तथा अपने बच्चों का उचित चरित्र-निर्माण कर सकेंगे।

ऊपर की लम्बी व्याख्या के आधार पर हम कह सकते हैं कि चरित्र के मूल में मूलप्रवृत्तियों का परिष्कार (Sublimation of instincts) है, समाज की उच्चतम परम्पराएँ हैं, पूर्व पुरुषों के चरित-आदर्श हैं, जीवन की जटिल भावनाओं के द्वन्द्व से उत्पन्न कार्य-शक्ति है, आन्तरिक शक्ति है, हमारे आचरण, ज्ञान और आदर्श हैं, और हैं सामाजिक इच्छाओं से उद्भूत चेतनाएँ। चरित्र मानवी व्यक्तित्व का दुर्ग है।

चरित्र के माप का आधुनिक ढंग

(Measurement of Character)

§. [२] चरित्र के कुछ विभिन्न तत्वों अथवा लक्षणों को विभिन्न पद्धतियों से परीक्षित किया जाता है, जिनमें निम्न तीन मुख्य हैं। (१)

प्रथम वे माप-दण्ड हैं जिनके द्वारा बच्चों का वास्तविक व्यवहार जाँचा जाता है (Tests of Conduct)। (२) दूसरे वे हैं जिनके द्वारा बच्चों के ज्ञान और झुकाव जाने जाते हैं (Knowledge and Aptitude Tests)। (३) तीसरा माप-दण्ड श्रेणी-विभाजन (Rating Scales) है जिसके द्वारा कई एक लक्षणों की प्रक्रियाओं को विभिन्न श्रेणियाँ दी जाती हैं। हम इन तीनों पद्धतियों का, संक्षेप में, विवेचन करेंगे।

§. [४] प्रथम पद्धति द्वारा बच्चों की जाँच उनके कार्यों तथा व्यवहारों से की जाती है। किन्तु इनमें दो प्रमुख कठिनाइयाँ हैं।

वास्तविक व्यवहारों की परीक्षाएँ

बच्चों को वास्तविक वातावरण में किस प्रकार रखा जाय? दूसरी कठिनाई है सामान्य व्यवहारों का अभाव, क्योंकि बच्चों की क्रियाएँ क्रमशः विशिष्ट रूपों में ही प्रलक्षित होती हैं (Behaviour tends to be specific rather than generalized: Brooks)। एक परिस्थिति में हम बच्चों की ईमानदारी अथवा सत्यता की परीक्षा तो कर सकते हैं, किन्तु दूसरी स्थिति में वे परिवर्तित आचरण कर सकते हैं। वोइल्कर (Voelker) महोदय ने इस विषय में श्लाघनीय कार्य किए हैं। इन्होंने दस परीक्षाएँ निम्न आचरणों की जाँच के लिए निर्धारित की हैं: (१) शेष पैसों को न लौटाना, (२) ऋण-धन को न लौटाना, (३) अपने परीक्षा-पत्र के फल को अनुकृति के सहारे बदल देना, (४) आँख बन्द करके कार्य करने में आँख को मींच कर देखना, (५) मना करने पर भी दूसरों से पहेलियों को समझने में सहायता लेना। एक उदाहरण ऊपर की बातों को स्पष्ट कर देगा। मान लिया, एक बच्चे को कुछ पैसे देकर कोई वस्तु खरीदने को कहा गया और उसे निर्धारित क्रय-दाम से कुछ विशेष पैसे दे दिए गए। क्या उसने शेष पैसे लौटाए? वोइल्कर के उपरान्त इसी पद्धति से बहुत-से मनोवैज्ञानिकों ने कार्य किये जिनमें हार्ट्शॉर्न तथा मे (Hortshorne & May) मुख्य हैं। इन लोगों

चरित्र-निर्माण करते हैं अथवा अपने आचरणों को परिवर्तित करते हैं। (४) चौथी अवस्था निःस्वार्थता अथवा परोपकारिता (Altruism) की है। इस अवस्था में बच्चों मे स्वार्थ-भावना से रहित होकर परोपकार की भावनाएँ उमड़ती हैं। वास्तव में, परोपकार में त्याग और बलि-दान की भावना निहित है। इस अवस्था मे सूक्ष्म स्थायीभावों का उदय होना आरम्भ हो जाता है।

वैयक्तिकता, स्वार्थ-त्याग एवं व्यक्ति-विभिन्नता

.§. [९] बच्चे आरम्भिक अवस्था में स्वार्थी और वैयक्तिक होते हैं, यह निर्विवाद है। यह व्यक्तिवाद उनके बचपन में अविकल रूप से पाया जाता है। किन्तु विभिन्न अनुभूतियाँ, कार्य तथा उनके मित्रादि उनमें परिवर्तन लाते हैं, जिनके फलस्वरूप उनमें क्रमशः स्वार्थ-त्याग की भावना जगती है। वास्तव में, अवस्था, लिंग-भेद तथा अनुभूतियों के फलस्वरूप बच्चों की नैतिकता में विभिन्नता पायी जाती है। कुछ लड़के चोर होते हैं, कुछ स्वार्थी होते हैं, कुछ गाली-गलौज करते हैं, कुछ लड़के बेईमान होते हैं और कुछ निस्वार्थ भाव रखते हैं, सत्य बोलते हैं और परोपकारी होते हैं।



बच्चों के चरित्र-गठन के विभिन्न तत्व

(Factors in the Formation Character)

(१) अवस्था-प्रभाव

.§. [१०] बच्चों से भाँति-भाँति प्रश्न करके यह सिद्ध किया गया है कि अवस्था का प्रभाव विशेष होता है। किन्तु प्रारम्भिक अवस्था में उनका नैतिक विकास उनके माता-पिता पर निर्भर करता है। झूठ बोलना, चोरी करना आदि दुर्गुण उनमें वातावरण से आते हैं। यदि उनकी सहज प्रवृत्तियों के विकास में कोई दमन होगा तो स्वभावतः वे चोर और झूठे होंगे। चित्र-विश्लेषण से यह प्रमाणित हुआ है कि प्रारम्भिक अवस्था का दमन (Repression) बच्चों के नैतिक विकास में बड़ा अवरोध उत्पन्न करता है। बच्चों की बुद्धि कच्ची

होती है, वे केवल अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति चाहते हैं। यदि उनकी कांक्षाओं का उचित अध्ययन नहीं होगा और उन्हें दमन से रोका जायगा तो फलतः वे दुराचारी होंगे। वास्तव में, बच्चे जब चोर या झूठे हो जाते हैं, तो यह अपराध उनका नहीं है, प्रत्युत उनका वातावरण अपराधी है।

.§. [११] बच्चों की नैतिकता में उनकी बुद्धि का क्या प्रभाव पड़ता है ? इस विषय में मनोवैज्ञानिकों ने तीन पद्धतियों से काम लिया है और एक धारणा निश्चित की है।

(२) बुद्धि का प्रभाव असाधारण बुद्धि वाले बच्चों की नैतिकता की तुलना साधारण बुद्धि वाले बच्चों से की गई है, अथवा नैतिकता को कई परीक्षाओं से जाँचा गया है, अथवा उस विषय में शिक्षकों की राय ली गयी है और उनकी धारणाओं से कुछ समझा गया है। टर्मन महोदय ने १३२ से अधिक बु उ (I. Qs.) वाले ५३२ बच्चों की नैतिकता की तुलना साधारण बुद्धि वाले बच्चों की नैतिकता से की है और यह निष्कर्ष निकाला है कि असाधारण बुद्धि वाले बच्चे नैतिकता में बहुत ऊँचे हैं। ८०% बच्चे नैतिक बल में साधारण बच्चे से बहुत अच्छे निकले। ७५% असाधारण बच्च शिक्षकों की राय में अन्तःकरण की शुद्धता, सच्चाई, सहानुभूति, कोमल भावना, दक्षता, पूर्व विचार, इच्छा-शक्ति और सहनशीलता में अधिक प्रबुद्ध पाये गए। टर्मन ने यह सिद्ध किया कि असाधारण बुद्धि वाले बच्चे ईमानदारी, सत्यता आदि गुणों में साधारण बुद्धि वाले बच्चों से अच्छे होते हैं। किन्तु इस प्रमाण को सर्वथा सत्य नहीं मानना चाहिए, क्योंकि वातावरण और कौटुम्बिक प्रभाव का भी महत्व कम नहीं माना जा सकता। प्रारम्भिक कक्षाओं के बच्चों में बुद्धि द्वारा उनकी अभिरुचि की सीमा के भीतर के नियमों का पालन पाया जाता है। ऐसे बच्चे प्रौढ़ लोगों से अधिक भिन्न नहीं पाये जाते। सिरिल बर्ट (Cyril Burt) महोदय ने बुद्धि-हीन तथा मानसिक व्यतिरेकों से अभि-भूत अथवा अपराधी बच्चों (Delinquents) का भी अध्ययन किया

है। उन्होंने लगभग २०० असामाजिक तथा मानसिक व्यतिरेकाभिभूत बच्चों का अध्ययन किया। उनमें केवल ८ % लड़के बुद्धिहीन थे। हीली तथा ब्रानर (Healy & Bronner) ने भी ४००० अपराधी, असामाजिक बच्चों का अध्ययन किया। इन बच्चों में बुद्धिहीनों की संख्या १ % से २ % तक थी। असामाजिकता तथा अपराध में बुरी संगति तथा वातावरण का प्रभाव भी है। ऊपर के प्रमाणों से तो यह झलकता है कि बुरे आचरण का कारण बुद्धिहीनता नहीं है। हॉर्टशॉर्न और मे के अध्ययन से यह प्रकट हुआ है कि प्रतिभाशील बच्चों में वञ्चना (Deception) कम पायी जाती है। अतः यह प्रकट होता है कि अभी इस विषय में पर्याप्त अनुसंधान की आवश्यकता है। किन्तु इतना तो विदित होता है कि साधारणतः बुद्धिहीन बच्चे कम नैतिक होते हैं।

(३) घर और संगति का प्रभाव

§. [१२] सचमुच, घर और संगति का प्रभाव चरित्र-गठन पर बहुत पड़ता है। "संसर्गजा दोष-गुणाः भवन्ति"; "तुख़्म तासीर सोहबते असर"। इस विषय में भी खोजें की गयी हैं। फर्नाल्ड (Fernald), हीली, ब्रानर, आदि महोदयों ने अध्ययन किए हैं और कहा है कि उनके अध्ययनों से लगभग ८०% व्यभिचार अथवा विवाह के पूर्व योनि-सम्बन्ध रखने वाली लड़कियाँ ऐसे घरों की थीं जहाँ पर शिक्षा तथा अच्छे वातावरण का अभाव था। साथियों और मित्रों का प्रभाव भी उसी प्रकार देखा गया है। बच्चों के सद् और असद् विचारों और इच्छाओं की तुलना उनके माता-पिताओं, मित्रों, शिक्षकों, दल-नेताओं आदि के विचारों से की गयी है और पाया गया है कि उनमें सम्बन्धन (Coefficient of Correlation) क्रम से ·५५, ·३५, ·१४ तथा ·०६ पाया जाता है। इस अध्ययन से यह स्पष्ट है कि माता-पिता, मित्रों का प्रभाव बच्चों पर अधिक पड़ता है। उसके उपरान्त दल-नेता और तब शिक्षकादि का प्रभाव है।

§ [१३] संस्कृत के वे विद्यार्थी जो उन पाठशालाओं में पढ़ते

(४) पाठशाला और मन्दिरों का प्रभाव

हैं जहाँ मन्दिर हैं अथवा धर्मशालाएँ हैं, अच्छे आचरण के होते हैं, ऐसा कहा जाता है। किन्तु यह बात विचारणीय है। साधारण पाठशालाओं के विद्यार्थी संस्कृत के विद्यार्थियों से नैतिक बल में कम नहीं होते। कहीं-कहीं तो ऐसा पाया गया है कि संस्कृत के विद्यार्थी केवल संस्कृत के श्लोको को दुहरा देते हैं; किन्तु आचरण में उनके विपरीत जाते हैं। वे उदार प्रकृति के नहीं होते, उनमें स्वार्थान्धता होती है। वे अपने गुरु की अभ्यर्थना में इतने तल्लीन रहते हैं कि इनका उचित सामाजिक विकास नहीं हो पाता। अस्तु, अन्य पाठशालाओं के बच्चे विभिन्न प्रोग्रामों अथवा आयोजनों से नैतिकता का पाठ अधिक पढ़ते हैं। महात्मा गाधी को संस्कृत के विद्यार्थी उतना नहीं मानते थे, क्योंकि उनके गुरु स्वयं अहंकारी और अनुदार थे; किन्तु अन्य पाठशालाओं के विद्यार्थियों के रोंगटे खड़े हो जाते थे जब महात्मा गांधी के गुणों की व्याख्या की जाती थी। महात्मा गाधी की मृत्यु के पश्चात् बहुत-सी संख्या में बच्चे फफक-फफक कर रो पड़े थे। यह रोना इस बात का द्योतक है कि उनमें सदाशयता, उदारता, ईमानदारी, सत्यता, त्याग, बलिदान, देश-प्रेम और विश्व-बन्धुत्व के भाव उदय हो गए थे।

(५) मनोरंजन-सम्बन्धी क्रियाओं, शिविरों, दलों का प्रभाव

§. [१४] बच्चों के सामाजिक विकास में मनोरंजन-सम्बन्धी तत्वों का जो प्रभाव पड़ता है उसे हमने चौदहवें अध्याय में देख लिया है। अतः यहाँ कुछ विशेष नहीं कहना है। इसमें सन्देह नहीं कि बच्चों की मनोरंजन-सम्बन्धी क्रियाओं, शिविर-जीवन, स्काउटिंग आदि का चरित्र-बल पर अधिक प्रभाव पड़ता है। बोइल्कर ने अपनी खोजों से इसे सिद्ध भी किया है। बच्चे पुस्तके पढ़ते हैं, भाँति-भाँति की पत्रिकाओं में अपनी अभिरुचि प्रकट करते हैं। इस अभिरुचि से उनके चरित्र-गठन में सहयोग मिलता है। उनके सद्विचार-सम्बन्धी विचार

इन पुस्तकों पर आधारित होते जाते हैं। गंदी पुस्तकों को पढ़ने से गंदे विचार उत्पन्न होते हैं।

.§. [१५] आज कल जिस प्रकार के चित्र दिखाये जाते हैं उनसे बच्चों के नैतिक जीवन का ह्रास होता जा रहा है। साधारणतया चित्रों में प्रेम-विलास की कथाएँ पायी जाती हैं, गन्दे गाने गाए जाते हैं, असाधु हाव-भाव प्रदर्शित किए जाते हैं। इन चित्रों का बच्चों के चरित्र पर बड़ा बुरा प्रभाव पड़ता है। बच्चे नवीनता के प्रेमी होते ही हैं, वे चल-चित्र देखना अधिक पसन्द करते हैं। उचित सुविधा न मिलने से वे चोरी करके पैसा एकत्र कर सिनेमा देखने चले जाते हैं। दिन मे चित्रों के गन्दे हावों एवं भावों का प्रदर्शन करते हैं। वास्तव में, बच्चों के लिए नए-नए चित्रों का निर्माण होना चाहिए। रूस, अमेरिका आदि उन्नत राष्ट्रों में इस विषय में पर्याप्त उन्नति हुई है। हमारे देश में अभी सुन्दर चित्र नहीं बन रहे हैं। यह है हमारी राष्ट्रीय सरकार की दुर्बलता या उदासीनता!

(६) सिनेमा और चरित्र-गठन

नैतिकता की शिक्षा के लिए सुझाव

.§. [१६] बच्चों की नैतिकता की उन्नति के लिए माता-पिता तथा शिक्षकों को मनोवैज्ञानिक ढंग से बढ़ना चाहिए। शारीरिक विकास के साथ बच्चा सीखता जाता है। भाषा-विकास के साथ-साथ प्रवृत्तियाँ निखरती जाती हैं। अधिकतर देखा जाता है कि माता-पिता छोटी अवस्था में भी बच्चों से बड़ी-बड़ी बातों की अपेक्षा करते हैं। यदि तीन या चार वर्ष के बच्चे कुसंगति से कोई गन्दी बात कहते हैं, तो उनपर मार पड़ने लगती है। यह बड़ी भ्रामक बात है। बात यह है कि बच्चे बहुधा जो कहते हैं उसका तात्पर्य नहीं समझते। अपनी अनुभूति के बल पर वे कुछ कर जाते हैं या कह डालते हैं। बच्चों की संगति ठीक होनी चाहिए। बच्चों को अच्छी पाठशाला में भेजना चाहिए। स्वयं माता-पिता को इस प्रकार रहना चाहिए कि बच्चे बिना सिखाए

चरित्रवान् हो सके। कुछ माता-पिता बच्चों से झूठ बोलने को कहते हैं या उनसे चोरी कराते हैं। इन क्रियाओं से बच्चों का पतन हो जाता है, वे असामाजिक हो जाते हैं। बच्चों को व्यर्थ में डाँटना बुरा है। उन्हें उचित पुरस्कार मिलना चाहिए, जिससे उन्हे प्रेरणा मिले और वे सदाचरणों में लगे रहें। इस विषय में फिर कुछ कहा जायगा। चरित्र-गठन के लिए सुन्दर-सुन्दर कहानियाँ, वीर-गाथाएँ इतिहास-सम्बन्धी सुन्दर उक्तियाँ, महात्मा गान्धी ऐसे पुरुषों की जयन्तियाँ आदि बहुत आवश्यक हैं।

बचपन में धार्मिक विकास (Religious Development)

धर्म क्या है?

.१. [१७] धर्म का बच्चों के जीवन से क्या सम्बन्ध है? धर्म का विकास बच्चों में कब आरम्भ होता है और इसकी गति किस प्रकार चलती है? धर्म और नैतिकता में क्या सम्बन्ध है? बच्चों के धार्मिक विकास में माता-पिता, शिक्षक, धार्मिक नेता आदि का प्रभाव किस प्रकार होता है? इन प्रश्नों का उत्तर इतना सरल नहीं है, क्योंकि धर्म-सम्बन्धी स्थापनाओं में बहुत मतभेद है। धार्मिक प्रेरणाएँ कई रूप से प्रलक्षित होती हैं। धार्मिक व्यक्ति पूजा करता है, स्तुति करता है, श्लोकों एव स्तोत्रों को पढ़ता है, धार्मिक गानों का भजन गाता है, दूर-दूर की यात्राएँ करता है। धर्म विचारों और इच्छाओं का दमन करता है एवं विश्वासों को सामाजिकता द्वारा प्रकट करता है। धर्म जीवन, मृत्यु, मोक्ष, अमरता, परमात्मा, पुरुष, आत्मा, पाप, पुण्य, सत्य, शिवं, सुन्दरं आदि मान्यताओं तथा धारणाओं की विवेचना करता है। धर्म से बहुत से संवेगों और स्थायीभावों का निर्माण होता है। भक्ति, श्रद्धा, ज्ञान, आशा, विश्वास, उदारता, सहानुभूति, त्याग, आदि स्थायीभावों का अभिव्यञ्जन धार्मिक भी है। मानवता (Humanism), मानवतावाद (Humanitarianism), विशालता आदि स्थायीभावों पर धर्म का गहरा

रंग होता है। धर्म कर्तव्य है, आचरण है, विश्वास है, योग है, और है जीने का एक ढंग (A way of living)। मानसिक गतियाँ जैसे ज्ञानात्मक, भावात्मक, क्रियात्मक, धर्म से प्रेरित होती हैं। सत्यं, शिवं और सुन्दरं की पराकाष्ठा में ही जीवन की सच्ची अनुभूति होती है। धर्म एक आदर्श है।

.§. [१८] बच्चों का धार्मिक स्वभाव उनके सम्पूर्ण व्यक्तित्व का स्वरूप कहा जाता है। किन्तु मानव-शिशु जन्म के समय उसी अर्थ में धार्मिक कहा जाता है जिस अर्थ में

बच्चे एवं धार्मिकता

हम उसे अवैज्ञानिक, असामाजिक, अनैतिक तथा असौन्दर्यप्रेमी कह सकते हैं। धार्मिक भाव अर्जित गुण है। इसकी अनुभूति वातावरणजन्य है। ज्यों-ज्यों बच्चा अपने मानसिक विकास के साथ सत्यं, शिवं और सुन्दरं की सूक्ष्मता को समझता जाता है और विकास-गति में उनका अनुभव करता जाता है, उसी अनुरूप में वह अखिल ब्रह्माण्ड अथवा परम सत्ता के प्रति अपनी जागरूकता प्रकट करता जाता है। इसमें सन्देह नहीं कि बुद्धि, विवेक तथा निर्णय-तर्क के आधार पर बच्चा अपनी मूलप्रवृत्तियों में परिष्कार पाता क्रमशः विश्व-सम्बन्धी मौलिक-प्रश्नो की विवेचना में लगता है। यही उसका धार्मिक विकास है। बच्चों की प्रारम्भिक धार्मिक भावनाओं पर वातावरण का बहुत प्रभाव पड़ता है। बुद्धि का प्रभाव भी अविच्छेद्य रूप से होता है। बच्चों की शिक्षा-दीक्षा जिस प्रकार की होगी वैसे ही उनके धार्मिक विचार होंगे।

.§. [१९] किशोरावस्था के पूर्व बच्चों का धार्मिक स्वरूप कई प्रकार के परिवर्तनों को पाता है। ज्यों-ज्यों उनका मानसिक विकास होता है उनकी विवेचना-शक्ति बढ़ती जाती है,

बचपन में धार्मिक भावना का विकास

उत्सुकता के साथ उसमें जागरूकता आती है और प्रबल अनुभूतियों के सहारे वे अग्रसर होते हैं। संवेदन के उभार के पश्चात् प्रत्यक्षज्ञान बँधता है और इन्द्रियज्ञानों की समर्थता में ज्ञान की अभिवृद्धि होती

है। भाँति-भाँति के शब्दों एवं भावों का मनन होने लगता है। धारणा के फलस्वरूप चिन्तन-शक्ति का स्रोत उमड़ता है। धार्मिक भावों के जगने के लिये कोई विशिष्ट उत्तेजना नहीं पायी जाती। सभी संवेगों का सहारा लेना पड़ता है। बच्चे बहुधा प्रशंसा, आश्चर्य-मिश्रित-भय, श्रद्धा, विश्वास, आकांक्षा आदि शब्द सुनते हैं। क्रमशः इन भावों के साथ उनका मानसिक सम्बन्ध स्थापित हो जाता है और फलतः विश्व की विमोहकता के प्रति उनके संवेग जगते हैं। कठिनाइयों, विषमताओं के प्रति जो व्यामोह उमड़ते हैं, उनमें उनका धार्मिक विश्वास कार्यशील होता है।

बच्चों के जीवन में धर्म का महत्व

.§. [२०] धार्मिक भावनाओं के फलस्वरूप अवाञ्छित स्थितियों में आत्म-विश्वास खण्डित नहीं होता। बच्चे धार्मिक विश्वास से सुरक्षित रहते हैं। व्यर्थ के भूत-प्रेतों की शंकाएँ, जिनके मूल मे कपोल-कल्पित कहानियाँ अथवा सामाजिक अतिचार पाए जाते हैं, दूर हो जाती हैं। क्रमशः आध्यात्मिकता की ओर बच्चे उन्मुख होते हैं। पाप-पुण्य की भावनाओं मे धार्मिक विश्वास होता है। लड़के परोपकारी, उदार और सहनशील हो जाते हैं। बच्चों को व्यर्थ की धार्मिक शिक्षाएँ, जो उनके मानसिक विकास के साथ नहीं चलतीं, नहीं देनी चाहिए। पियाजे महोदय ने कहा है कि ७-८ वर्ष की अवस्था में धार्मिक शिक्षा बालू की भीत है। बच्चों में भजनों द्वारा अथवा श्लोकों द्वारा जो शिक्षाएँ दी जाती हैं उनमें केवल आडम्बर है, उनसे कोई लाभ नहीं। बच्चों के दिन-प्रति-दिन के जीवन के साथ चलने वाली इन्द्रियग्राह्य अनुभूतियों में धर्म का भाव आना चाहिए।

धार्मिक शिक्षा (Religious Education)

.§. [२१] यह विवाद-ग्रस्त विषय है। किस धर्म की शिक्षा होनी चाहिए? कौन धर्म श्रेष्ठ धर्म है? क्या शिक्षा से धर्म के प्रति अवधान

हो सकता है ? विशेषतया भारत में यह विषय गम्भीर हो गया है।

अच्छी धार्मिक शिक्षा

यहाँ पर हिन्दू-धर्म के विभिन्न मतमतान्तरों के अतिरिक्त बहुत से सम्प्रदाय हैं, बहुत से धर्म हैं। तो, बच्चों को किस प्रकार धार्मिक शिक्षा देनी चाहिए ? यह एक प्रश्न है। धार्मिक शिक्षा कौन दे सकता है ? क्या सभी व्यक्ति इसके लिए अनुकूल हैं ? इन प्रश्नों के उत्तर के लिए पहले हम धर्म के वास्तविक लक्ष्यों को समझ लें। अच्छी धार्मिक शिक्षा से निम्न बातें सम्भव हो सकती हैं: (१) धार्मिक शिक्षा द्वारा मानव-जीवन के प्रति प्रेम स्थापित होता है और परमात्मा में अटूट विश्वास होने से मानव-जीवन की महत्ता और महिमा जानी जाती है। (२) धार्मिक शिक्षा से जीवन के सिद्धान्तों मे नियमन स्थापित होता है और व्यक्तिगत जीवन का सामाजिक जीवन से अटूट सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। (३) धार्मिक शिक्षा से किसी सम्प्रदाय का प्रयोजन और लक्ष्य स्पष्ट होता है और उसकी प्राप्ति के लिए महान् उपकरणों के प्रति जागरूकता जगती है। अनुयायियों में नैतिकता का विकास होता है। (४) अच्छी धार्मिक शिक्षा से सामाजिक नियमों, परम्पराओं के प्रति भक्ति उमड़ती है।

सीखने के जितने प्रमुख सिद्धान्त अथवा नियम हैं वे सभी धार्मिक शिक्षा में लागू होते हैं। बहुत से नियम बताए गए हैं। सब से अच्छा नियम तो वह है जिसके द्वारा बच्चों के जीवन का दिन-प्रति-दिन की घटनाओं से समावेश किया जाता है। बच्चों के साथ जो रहते हैं उनकी जीवन-परिचर्याएँ बच्चों को बहुत प्रभावित करती हैं। बच्चों को जितनी धार्मिक शिक्षा वातावरण से मिलती है, उतनी पढ़ा-लिखा कर नहीं। यदि माता-पिता धार्मिक नहीं हैं, अथवा किसी विशेष धर्म में विश्वास नहीं करते तो उनकी धार्मिक शिक्षाएँ अव्यवस्थित होती हैं, क्योंकि वे बच्चे की उत्सुकता का समुचित रूप से समाधान नहीं कर सकते। उनका बच्चा समाज में आता है, पाठशाला जाता है, भाँति-भाँति के लोगों से मिलता है, उनकी

बातें सुनता है। घर आकर वह बच्चा अपनी माता अथवा पिता से प्रश्न करता है। यदि माता-पिता नास्तिकता के आवेश मे कुछ कह डालते हैं तो उस बच्चे के मन में शंकाएँ उठती हैं। बच्चे पाठशाला में पढ़ते हैं। उन्हें कई प्रकार के शिक्षक शिक्षा देते हैं। सभी शिक्षक धार्मिक अथवा नैतिक नहीं होते। बच्चों के मन में कई प्रकार की शंकाएँ उठा करती हैं। जब उन्हें समाधान नहीं मिलता तब वे विद्रोह करते हैं। ऐसी स्थिति मे बच्चों में अनैतिकता आ सकती है। बच्चे खेल खेलते हैं। खेल के मैदान में उन्हे बहुत लोगों से मिलना पड़ता है। कोई हिन्दू है, तो कोई मुसलमान अथवा ईसाई है। उनके सहयोग मे, उनकी सहानुभूति में और उनकी सहकारिता में वे अपने मनोरंजन के सामान पाते हैं। बच्चे विभिन्न धर्मावलम्बी होकर भी एक दूसरे के मित्र होते हैं। यदि वहाँ किसी विशेष दल में कोई विशेष बच्चा घर अथवा किसी व्यक्ति के सहयोग से किसी विशेष धर्म में अभिरुचि रखता है और अन्य धर्मों की खिल्ली उड़ाता है तो इसका प्रभाव अन्य बच्चो पर बुरा पड़ता है। अतः इन स्थितियों को सँभालने के लिए तथा उचित शिक्षा के लिए कोई धार्मिक व्यवस्था होनी चाहिए। किन्तु यह धार्मिक शिक्षा-व्यवस्था कहाँ है?

धार्मिक शिक्षा-सम्बन्धी सुझाव

.§. [२२] इन प्रश्नों का उत्तर इतना सरल नहीं है। वास्तव में, यह सत्य है कि व्यक्तित्व के अन्य स्वरूपों के साथ धार्मिक स्वरूपों का विकास अपेक्षित है, और यह भी सत्य है कि धार्मिक शिक्षा में घर, पाठशाला, खेल-तमाशों आदि का और सामाजिक वातावरण का बड़ा ही प्रभाव पड़ता है। अतः बच्चों के समुचित विकास के लिए किसी व्यापक धार्मिक शिक्षा-पद्धति का होना परम आवश्यक है। हमारे भारत के लिए यह प्रश्न बहुत ही गम्भीर है। बच्चो में चिन्तन-शक्ति का समुचित विकास करके और उनमें नैतिकता का भार भर कर उनकी वास्तविक सुखानुभूति को बढ़ाना हमारा कर्तव्य है, हमारा धर्म है। इसी में मानव का कल्याण है। हमारा

यह अनुरोध है कि वर्तमान भारतीय शिक्षा-प्रणाली धार्मिक शिक्षा की कोई मनोवैज्ञानिक प्रणाली निकाले। हम संक्षेप मे निम्न सुझाव दे रहे हैं : (१) माता-पिता को मनोवैज्ञानिक ढंग से बच्चों में धार्मिक भाव बढ़ाना चाहिए। उनकी उत्सुकता को नहीं दबाना चाहिए। यदि वे ऐसा न कर सकें, तो उन्हे उचित शिक्षकों की व्यवस्था करनी चाहिए। (२) पाठशाला में धार्मिक शिक्षा की उचित व्यवस्था होनी चाहिए। प्रारम्भ में स्तुति होनी चाहिए जिसके द्वारा बच्चों का ध्यान उनके आसपास के स्वाभाविक पदार्थों पर जाय और भगवान की सत्ता के बारे मे उत्सुकता उठे। (३) कभी-कभी प्रार्थना के उपरान्त कथा-वार्ता से मिला हुआ एक छोटा भाषण होना चाहिए। इसके लिये सच्चरित्र और धार्मिक शिक्षक नियुक्त करना चाहिए। ये भाषण गम्भीर न हों, बच्चों के मानसिक विकास के अनुसार हों। (४) पाठ्य पुस्तकों में धार्मिक पुरुषों की चर्चाएँ होनी चाहिए तथा उनके जीवन-सम्बन्धी कहानियों का वर्णन होना चाहिए। (५) साम्प्रदायिकता को दूर करना पाठशाला का प्रमुख उद्देश्य होना चाहिए। प्रत्येक धर्म की मोटी-मोटी बातों को कभी-कभी भाषणों में प्रयुक्त करना चाहिए। (६) बड़े बड़े पुरुषों की जयन्तियाँ मनानी चाहिए। (७) महात्मा गान्धी का चित्र प्रत्येक कमरे में टँगा होना चाहिए। पढ़ाते समय उनके जीवन-चरित्र की प्रमुख बातों का उल्लेख करना चाहिए। इस प्रकार हम बच्चों का धार्मिक विकास कर सकते हैं। विश्व की शान्ति धार्मिक भावनाओं के उद्बोधन में है। विना इसके विकास के वास्तविक नैतिकता नहीं आएगी, बिना नैतिकता के चरित्र-गठन नहीं होगा और बिना चरित्र-गठन के व्यक्तित्व का उचित निर्माण नहीं होगा। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक रस्क (Rusk) ने 'धर्म' को भी सत्यं, शिवं, सुन्दरं के साथ चौथा आदर्श माना है। अतः सत्य, शिवं, सुन्दरं के साथ धर्म का विकास पूर्ण व्यक्तित्व का विकास है।

सोलहवाँ अध्याय

बचपन में व्यक्तित्व का विकास

[Development of Personality in Childhood]

§. [१] अब तक हमलोगों ने बच्चों के शारीरिक, मानसिक, सामाजिक, चारित्रिक आदि विकासों का अध्ययन विस्तार के साथ किया है। बच्चों को भली भाँति समझने के लिए तथा उनके पथ का सुचारु रूप से प्रदर्शन करने के लिए उनके व्यक्तित्व को जानना परमावश्यक है। केवल बच्चों के ज्ञान, योग्यताओं, समर्थताओं, अभिरुचियों, प्रेरणाओं, संवेगों, आचरणों, झुकावों का ही ज्ञान अपेक्षित नहीं है। इन विभिन्न स्वरूपों के अतिरिक्त बच्चों के सम्पूर्ण व्यक्तित्व तथा उसके विविध लक्षणों, गुणों आदि का विवेचन भी अपेक्षित है। व्यक्तित्व क्या है? व्यक्तित्व के विभिन्न लक्षणों की परीक्षा किस प्रकार की जा सकती है? क्या व्यक्तित्व के विशेष स्वरूपों के अनुसार विशेष व्यक्तित्व पाये जाते हैं? व्यक्तित्व के लक्षणों एवं गुणों का विकास किस प्रकार होता है? बालमनोविज्ञान में इन प्रश्नों का समाधान महत्वपूर्ण है।

व्यक्तित्व का अर्थ (Meaning of Personality)

§. [२] कुछ दिन हुए मनोवैज्ञानिकों ने भाँति-भाँति के लोगों से व्यक्तित्व के विषय में पूछताछ की। उन लोगों के उत्तरों से निम्न बातें ज्ञात हुईं। कुछ लोग व्यक्तित्व को वाह्य रूप विशेषतः वस्त्र, केश, मुखाकृतियों से ही व्यक्त करते हैं। कुछ लोग किसी व्यक्ति के व्यक्तित्व को उसकी सामाजिक ख्याति, उसकी बुद्धि-योग्यता उसके ज्ञान, उसके नैतिक चरित्र आदि पर आधारित करते हैं। कुछ लोग व्यक्तित्व को उन्हीं लक्षणों में पाते हैं जिनके द्वारा कोई व्यक्ति अन्य लोगों से भिन्न होता है, अथवा अपने विशेष लक्ष्यों तथा

विभिन्न उक्तियाँ

आदर्शों में दूसरों से विभिन्न होता है। कुछ लोग कहते हैं, एक व्यक्ति, भिन्न स्त्री या पुरुष को जिस प्रकार विमोहित अथवा आकृष्ट करता है, अथवा वह जिस प्रकार लोगों की प्रशंसा का पात्र बनता है, उसमें उस व्यक्ति के व्यक्तित्व के लक्षण पाए जाते हैं। इन विभिन्न उक्तियों में सामाजिक गुणों का आधिक्य है। वास्तव में, व्यक्तित्व के लक्षणों में सामाजिक सम्बन्धों की महत्ता पायी जाती है।

प्रत्येक व्यक्ति, वाह्य स्वरूप, हाव-भावों, वाणी, विचारों, संवेगों, आचरणों, प्रवीणता आदि का समुच्चय है। ये लक्षण जब एक दूसरे से गुम्फित हो प्रकट होते हैं तो वे व्यक्तित्व के परिचायक होते हैं। वास्तव में, व्यक्तित्व ऐसी सत्ता नहीं है जिसका पृथक्-पृथक् विश्लेषण हो सके। व्यक्तित्व तो किसी व्यक्ति का अन्तःसार (Inner Essence) है, इकाई (Unity) है, जिसके विभिन्न तत्वों की व्याख्या अथवा विश्लेषण कठिन है। इस मत के अनुसार व्यक्तित्व को चेतनता, उपचेतनता अचेतनता पर आधारित समझा जाता है। मूलप्रवृत्तियों मे विश्वास करने वाले मनोवैज्ञानिक स्थायीभावों (Sentiments) के गुम्फन मे व्यक्तित्व का वास्तविक रूप देखते हैं। मूलप्रवृत्तियों के परिष्कार में आत्मिक सत्ता खिल जाती है, उभर आती है, और इस प्रकार क्रमशः भावों, संवेगों, इच्छाओं और आचरणों को नया जीवन मिल जाता है। जिस व्यक्ति में मूल-प्रवृत्तियों का जितना ही परिष्कार होगा, वह उतना ही ऊँचा व्यक्तित्व होगा। फ्रायड अचेतन अवस्था (Unconscious) के परिष्कार मे भी व्यक्तित्व की झाँकी पाते हैं। वे कहते हैं कि हमारी प्रसुप्त भावनाओं, विचारो, प्रेरणाओ आदि में भी स्थायीभावों का परिचार होता रहता है। समन्वयवादी, मैकडूगल और फ्रायड तथा अन्य विभिन्न मतों को एक में देखते हैं। उन्होंने जीवन की क्रियाओं को प्रयोजनशील (Purposive) मान कर, उन क्रियाओं के क्रमिक परिष्कार मे विभिन्न श्रेणी के स्थायीभावों में विभिन्न प्रकार के व्यक्तित्व की कल्पना की है। इस प्रकार हम देखते हैं कि व्यक्तित्व एक ऐसा गुण है, आत्मिक

शक्ति है जिसके विभिन्न तत्वों में प्रवृत्तियों का परिष्कार है। किन्तु इसके विपरीत व्यवहारवादी मनोवैज्ञानिक व्यक्तित्व को प्रेरणाओं, आचरणों, संवेगों और विचारों का योग मानते हैं। इनका कहना है कि व्यक्तित्व में वाह्य रूप, नैतिक गुण, बौद्धिक तथा यान्त्रिक समर्थ-ताएँ, सामाजिक विशेषताएँ और धार्मिक विश्वास भी सम्मिलित हैं। इस प्रकार वाञ्छित और अवाञ्छित गुणों का संगुम्फन व्यक्तित्व है।

लक्षणों का समन्वय

§. [३] व्यक्तित्व के विभिन्न लक्षणों के समन्वय (Integration) से तात्पर्य है उनका पारस्परिक संगठन और एकरूपता जिसके मूल में विधि है, क्रिया है, और है समरसता। समन्वय पूर्णता तथा इकाई का द्योतक है। यह समन्वय आचरणों, क्रियाओं, संवेगों आदि का सहनियम अथवा सन्तुलन है। बच्चों में इसी सन्तुलन की स्थापना करना माता-पिता और शिक्षक का प्रमुख कार्य है। यदि यह सन्तुलन नहीं स्थापित हो सकेगा तो बच्चों के व्यक्तित्व के विभिन्न तत्वों का सुचारु परिष्कार असम्भव है। कुछ बड़े बच्चों के व्यक्तित्वों में बहुधा देखा जाता है कि वे असंयमित हैं, उनके लक्षण अव्यवस्थित हैं। इसका कारण बचपन की त्रुटिपूर्ण व्यवस्था है। यदि किसी दस वर्ष के बच्चे को दूसरों पर अत्यधिक अवलम्बित पाया जाय, उसे अधिक भीरु देखा जाय, अथवा उसके स्नेहादि भावों में संकीर्णता लक्षित हो, तो यह समझना चाहिए कि उस बच्चे के व्यक्तित्व का विकास सन्तुलित रूप से नहीं हो रहा है। क्योंकि किसी व्यक्ति (सत्व, Self) का व्यक्तित्व उसकी अपनी अनूठी मनोवैज्ञानिक अभिलाषाओं एवं योग्यताओं का गतिशील संगठन है जो उसके वातावरण के अनूठे अभियोजनों का निर्माण करता है।

व्यक्तित्व के लक्षणों की परीक्षा की विभिन्न पद्धतियाँ
(Methods of Judging Personality Traits or Dimensions)

§. [४] ऊपर की व्याख्या से यह स्पष्ट हो गया होगा कि व्यक्तित्व

के विषय में दो प्रमुख मत हैं। एक मत व्यक्तित्व को इकाई मानता है और दूसरा इसे विभिन्न लक्षणों का योग मानता है। व्यवहारवादी मनोवैज्ञानिक कुछ दिनों से व्यक्तित्व के विभिन्न तत्वो की परीक्षाएँ करने मे लगे हैं। बच्चों की आत्म-निर्भरता (Self-reliance) परावलम्बन, सामाजिकता आदि गुणों की जॉच हो रही है, क्योकि ये व्यक्तित्व के विभिन्न लक्षण कहे जाते हैं। किन्तु यहाँ पर एक बड़ी कठिनाई आ उपस्थित होती है। क्या आत्म-निर्भरता में अन्य तत्वों का प्रभाव नहीं है? क्या विभिन्न लक्षणों से सभी लक्षणों का परिष्कारात्मक सम्बन्ध नहीं है? इन प्रश्नों का उत्तर स्पष्ट है; किन्तु, तथापि लक्षणों की परीक्षाएँ हो रही हैं और बहुत कुछ जानने का उद्योग किया जा रहा है। वास्तव मे, बचपन में इन लक्षणों का वास्तविक परिज्ञान अपेक्षित ही नहीं, अनिवार्य है, क्योंकि इन्हीं के ऊपर बच्चों का वास्तविक पथ-प्रदर्शन हो सकेगा। इस विषय में भाँति-भाँति की पद्धतियाँ काम मे लायी जा रही हैं। बहुधा ये परीक्षाएँ बहुत कठिन पायी जाती हैं। नीचे, बहुत ही संक्षेप मे, हम इन पद्धतियों का विवेचन करेंगे। पहले हम अवैज्ञानिक पद्धतियों (Unscientific Methods) का वर्णन करेंगे।

अवैज्ञानिक पद्धतियाँ (Unscientific Methods)

§. [५] एक पद्धति है मस्तिष्क-विज्ञान (Phrenology)। इसके द्वारा बच्चों के सर और खोपड़ी को देख कर भविष्यवाणी की जाती है। मस्तिष्क-विज्ञान-वेत्ता (Phrenolo-

(१) मस्तिष्क-विज्ञान

gist) बच्चों के सर, मस्तक, खोपड़ी के रूप-स्वरूप की जॉच करता है और उनकी बौद्धिक समर्थताओं को बताता है। बहुत-से माता-पिता उससे प्रभावित होते हैं। भारतवर्ष में भी ऐसे अमनोवैज्ञानिक तथा अवैज्ञानिक पद्धतियों का अभाव नहीं है। बहुत से फकीर या योगी, जो वास्तव मे, आडम्बर, वञ्चना और धोखा के अवतार होते हैं, ऐसी कुप्रथाएँ प्रचालित करते

हैं। सडकों पर एक चटाई बिछा कर तागों से यह क्रिया करते हैं। क्या मस्तिष्क के मध्यस्थलों की क्रियाएँ इस पद्धति से जानी जा सकती है? दूसरी पद्धति है बाह्य लक्षणों के भेदो एवं प्रभेदों की अध्ययन-पद्धति (The system which studies differences in appearances and physical characteristics)। इस पद्धति से बच्चों के बालों, चर्म, आँखों, नाक, मुख, हाथों तथा अँगुलियों के विभिन्न स्वरूपों का अध्ययन किया जाता है।

(२) बाह्य लक्षणों के भेद एवं प्रभेद

भारतवर्ष के बहुत से फलित ज्योतिष-वेत्ताओं मे यह प्रक्रिया प्रचलित है। किन्तु यह पद्धति भी अमनोवैज्ञानिक बतायी जाती है। हस्तरेखा-विज्ञान (Palmistry) की भित्ति इसी पर निर्भर है। वास्तव में, भारतीय, हस्त-रेखा पर कुछ विश्वास करते हैं। चेयरो (Chiero) ने इस पर पर्याप्त अध्ययन किया और बहुत-सी भविष्यवाणियाँ कीं जो कभी-कभी उसी रूप में घटित हुई हैं। हम कभी-कभी चोरों, बदमाशों, प्रवञ्चकों, कामातुरों को उनकी बाह्य रेखाओ, आँखों आदि से पहचान लेते हैं। किन्तु सभी बात इससे नहीं जानी जा सकतीं और इस विद्या के मूल में कोई वैज्ञानिकता भी नहीं है। कुछ लोगों का कहना है कि हमारा व्यक्तित्व, वायुमण्डल तथा ब्रह्माण्ड के ग्रहों-उपग्रहों के प्रभावों से प्रचालित है। यदि हमारा वातावरण इतना विस्तृत है, तो इसमें सन्देह नहीं कि हस्तरेखा-विज्ञान बहुत कुछ कहने में समर्थ हो सकता है किन्तु अभी इस विषय मे बहुत कुछ जानना आवश्यक है। भारतीय फलित ज्योतिष-शास्त्र (Astrology) युगों से भृगु-संहिता के गणित की सुनिश्चित व्याख्या पर अवलम्बित है। ग्रहों एवं उपग्रहों की गति में विभिन्न नक्षत्रों की क्रिया पर आधारित मानव-गति निर्भर समझी जाती है। नवजात शिशु के जन्म के समय विभिन्न नक्षत्रों की भूमिका में, उनकी कुण्डली बनायी जाती है और उनका सारा भविष्य उसी कुण्डली के आधार पर घटित देखा जाता

(३) भृगु-संहिता, फलित ज्योतिष

है। रूप, रंग, अवस्था, चरित्र, व्यक्तित्व आदि की सारी विवेचना भृगु-संहिता के आधार पर तौल दी जा सकती है। कुण्डली यदि ठीक से बनी तो बहुत-सी बातें तदनुरूप घटती भी हैं। किन्तु फलित ज्योतिष सर्वथा ग्राह्य नहीं है, क्योंकि इसकी बहुत-सी परिकल्पनाएँ जन्म-तिथियों पर आधारित हैं जिनकी परिगणनाओं में अब बहुत विभेद उपस्थिति हो गया। बहुधा चित्रों द्वारा लोगों के व्यक्तित्व की जाँच-पड़ताल होती और यह पद्धति पर्याप्त रूप से प्रसिद्ध भी है। चित्र देखकर लोगों की बुद्धि, उनके चरित्र, सामाजिकता आदि गुणों की परख की जाती है (Personality appraisals from Photographs)। किन्तु मनोवैज्ञानिकों ने बहुत-से लोगों से किसी एक चित्र के विषय में विभिन्न रायें लेकर यह सिद्ध किया है कि यह पद्धति विश्वसनीय नहीं है। अपनी बुद्धि तथा अनुभव से तो बहुत कुछ कहा जा सकता है, और कही गयी बातों में बहुत-सी सत्य भी हो सकती हैं; किन्तु इस क्रिया में अटकल-पच्चू बहुत चलता है। अतः यह पद्धति भी अवैज्ञानिक है।

(४) चित्र-पद्धति

एक पद्धति है वाणी, चलने-बैठने-उठने के ढंग से व्यक्तित्व-लक्षणों की जाँच (Judging Personality traits from voice, gait, posture etc.)। विभिन्न परिस्थितियों के मनुष्यों के बोलने, चलने-फिरने तथा बैठने-उठने के विभिन्न रूप होते हैं। तो, हम किस प्रकार एक ही ढंग से किसी व्यक्ति के व्यक्तित्व को जान सकते है? दूसरे, व्यक्तित्व के लक्षण केवल वाह्य क्रियाओं से ही नहीं प्रलक्षित हो सकते। धीरे-से चलने, बोलने, उठने, बैठने से हम किसी की क्रियाशीलता नहीं भी जान सकते, क्योंकि मनुष्य की शारीरिक अथवा मानसिक स्थिति विभिन्न लक्षणों में विभिन्न होती है; कभी वह थका हुआ हो सकता है, कभी वह प्रसन्न मुद्रा में हो सकता है। एक समय की उसकी गति उसकी अविरल गति नहीं भी हो सकती है। अतः यह विधि भी त्रुटिपूर्ण है। बहुधा लिखावट

(५) वाणी, चलना, बैठना, उठना

को देखकर, अक्षरों की गति, टेढ़ेपन तथा मात्राओं के झुकाव आदि लक्षणों से कुछ लोग व्यक्तित्व के बारे में बहुत-सी बातें बताते हैं (Handwriting and Personality appraisals)। यह क्रिया प्रसिद्ध भी है। किन्तु अनुसंधानों से यह पता चलता है कि यह पद्धति निश्चयात्मक रूप से कुछ कहने में असमर्थ है।

(६) लिखावट

एक पद्धति है साक्षात् (Interview) की। बहुधा नौकरियों के चुनाव मे यह पद्धति अब तक चली आ रही है। बातें करके, प्रश्न पूछ कर साक्षात् करने वाले अपनी-अपनी धारणाएँ निश्चित करते हैं। कुछ मनोवैज्ञानिकों ने, जिनमें हालिंगवर्थ, स्काट आदि मुख्य हैं, साक्षात्-पद्धति की परीक्षा की है और इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि यह पद्धति भ्रामक तथा त्रुटिपूर्ण है। एक व्यक्ति के बारे में विभिन्न साक्षात् करने वाले विभिन्न बातें कहते है। एक व्यक्ति को किसी ने प्रथम स्थान दिया तो औरों ने उसे अन्तिम स्थान दिया। भला, ऐसी स्थिति में साक्षात्-पद्धति किस प्रकार विश्वसनीय अथवा प्रामाणिक हो सकती है? बच्चों के बारे में भी इस पद्धति से निर्धारणाएँ बनाना उसी प्रकार भ्रामक है। इस पद्धति का विवेचन प्रथम अध्याय में हो चुका है।

(७) साक्षात्

वैज्ञानिक पद्धतियाँ (Scientific Methods)

§. [६] ऊपर की पद्धतियों के अतिरिक्त आजकल कुछ मनोवैज्ञानिक पद्धतियाँ प्रसिद्ध हैं। इन पद्धतियों का कुछ वर्णन चरित्र-विकास के अध्याय में हो भी चुका है। यहाँ पर हम विविध मनोवैज्ञानिक पद्धतियों को तीन वर्ग मे बाँट कर अध्ययन करेंगे। ये तीन वर्ग निम्न हैं: (१) श्रेणी-विभाजन-पद्धति (Rating Scales) (२) प्रश्नावली-पद्धति (Questionnaires) तथा (३) परीक्षाएँ (Tests)। यदि हमें किसी बच्चे के व्यक्तित्व के बारे में जानना हो तो हम उसके माता-पिता, शिक्षक और उसके परिचित लोगों से उसके

बारे मे बातें पूछते हैं। बडे बच्चों के विषय में हम उनसे भी अपने बारे में कहलाते हैं और उनके साथियों से उनके विषय की बाते पूछते हैं। इस विधि को एक सुनिश्चित रूप देने के लिए बहुधा कुछ विशेष व्यक्तित्व-लक्षणों को नियत कर लेते हैं और उन्हीं के बारे में लोगों से पूछते हैं। ब्लैण्टन और फेण्टन (Blanton and Fenton) महोदयों ने रेखा-आलेखन की विधि (Graphs) चलायी है और उनके द्वारा बच्चों के १४ लक्षणों की जाँच की है। इसी प्रकार कार्नेल, कोक्स तथा आर्लिएंस (Cornell, Coxe and Orleans) महोदयों ने बच्चों के पाठशाला-आचरणों मे वाञ्छित ६ गुणो की जाँच की है। हैगर्टी, आल्सन तथा विकमैन (Haggerty, Olson and Wickman) ने व्यवहार-जाँच की विधि (Behaviour Rating Scale) निकाली है। एक-दो उदाहरण यहाँ अपेक्षित हैं :

(१) श्रेणी-विभाजन-पद्धति

क्या बच्चा खोया-खोया रहता है या जागरूक है ?

अपने-आप मे डूबा रहता है।	कभी-कभी अपने में खो जाता है।	बहुधा जाग्रत रहता है।	जागरूक है	बहुत ही सचेष्ट तथा सन्नद्ध रहता है।
(५)	(४)	(२)	(१)	(३)

क्या बच्चा सामान्यतः प्रसन्नचित्त रहता है या मन मारे रहता है ?

उत्साह-हीन, चिन्तित	सामान्यतः उत्साह-हीन	बहुधा खिला रहता है	प्रसन्नचित, सजीव और बातचीत मे संलग्न	उल्लसित और आह्लादित
(४)	(३)	(१)	(२)	(५)

इस विधि मे लक्षणों की विभिन्न प्रकृतियो को क्रमिक अंक दिया जाता है। ऐप्सन महोदय ने एक ऐसी श्रेणी-विभाजन-पद्धति (Yep-

son's Adjustment Score Card) निकाली है, जिसके अनुसार बच्चे को जानने वाला कोई भी उसके बारे में कह सकता है। इसके ७० वर्णनात्मक स्वरूपों को १४ मुख्य भागों में बाँटा गया है। इस विधि से बच्चों का सामाजिक संगठन (Social Adjustment) जाना जाता है। मार्स्टन (Marston) महोदय ने इस विधि से २ वर्ष से लेकर ६ वर्ष के बच्चों की बहिर्मुखी तथा अन्तर्मुखी (Introversion—Extroversion) श्रेणियाँ उनके माता-पिताओं तथा शिक्षकों से जँचवायी हैं। उसके द्वारा बच्चों के संवेगों, योग्यताओं आदि की जाँच होती है। कुछेक उदाहरण नीचे दिए जाते हैं :

(१)

( ) क्या बच्चा आत्म-प्रबुद्ध, शीघ्र ही व्यामोह में पड़ जाने वाला, कायर तथा लज्जाशील है ?

( ) क्या बच्चा आत्मसंयमी, व्यामोह मे न पड़ने वाला, निर्भीक है ?

(२)

( ) क्या सामूहिक क्रियाशील, वैयक्तिक खेल में उतना प्रसन्न नहीं है ?

( ) अकेले खेलता है, सामूहिक खेल से भागता है।

(३)

( ) अपने मे सीमित, केवल अभिन्न मित्रों से मिलाता है, शीघ्रता से मित्रता नहीं करता।

( ) हृदयवान् है, सौजन्य-प्रेमी है, नवागन्तुको से शीघ्र ही हिल-मिल जाता है।

(४)

( ) भेदी, रहस्य-गोपन करने वाला है, बिना पूछे बोलता नहीं है।

( ) निष्कपट, वाचाल और सामाजिक है।

[कोष्ठों में तदनुसार अंक दिया जाता है।]

प्रश्नावली द्वारा व्यक्तित्व की जाँच की जाती है। किन्तु यह तभी उत्तम विधि हो सकती है जब कि दक्ष तथा प्रवीण व्यक्ति समय निकाल कर सावधानी से प्रश्नों का उत्तर लिखें।

(२) प्रश्नावली द्वारा व्यक्तित्व की जाँच

बच्चों के अध्ययन के लिए दो प्रकार की प्रश्नावलियाँ विशेष महत्वशाली हैं। इनके द्वारा बच्चों का व्यक्तित्व-संगठन तथा उनकी अभिरुचियाँ जानी जाती हैं। इनके द्वारा व्यक्तिगत झुकावों को श्री स्वीट (Sweet) ने जाँचा है। आत्म-विश्लेषण, परालोचना, भेद-भाव, आत्म-प्रकाशन, आत्म-हीनता, सामाजिक प्रबुद्धता आदि की परीक्षा की गयी है। इसी प्रकार सीमोंड्स (Symonds' Adjustment Questionnaires) ने भी बच्चों के पाठ्य-क्रम, सामाजिक जीवन, विद्यार्थी-सम्बन्ध, शिक्षकों के प्रति भाव, घर, जीवन आदि के बारे में प्रश्नों को बना कर व्यक्तित्व के लक्षणों के बारे मे जानने का प्रयत्न किया है। मालर, फर्फे (Maller & Ferfey) आदि लोगों ने भी ऐसा ही किया है। दो-एक प्रश्न नीचे दिए जाते हैं :

करके दिखाने वाली क्रियाएँ

तुम क्या पसन्द करते हो

नाचना या	कत्थक नृत्य या
कबड्डी खेलना ?	अभिनय करना।

रखने की वस्तुएँ

किसे रखना अधिक आनन्द-दायक है ?

पालतू खरगोश या

ऐन्द्रजालिक लालटेन ?

इसी प्रकार टर्मन (Termon) महोदय ने बच्चों की खेल-सम्बन्धी अभिरुचियों, उनके ज्ञान आदि का परिचय प्राप्त किया है। वाट्सन (Watson) ने १२ वर्ष के लड़कों की अभिरुचि-विश्लेषणा की है। श्रेणी-विभाजन तथा प्रश्नावलियों से मनोवैज्ञानिक परीक्षाओं (Psychological Tests) का अधिक महत्व है। किन्तु अभी तक

व्यक्तित्व-परीक्षा-सम्बन्धी बहुत ही कम प्रयत्न हो सके हैं। बच्चों के ज्ञान, निर्णय, झुकावों की परीक्षाओं के विषय में दसवें अध्याय में बहुत कुछ कहा जा चुका है। यहाँ १२ अन्य भिन्न विधियों का संक्षेप में वर्णन किया जायगा।

(३) व्यक्तित्व-परीक्षाएँ

मार्गरेट ओटिस (Margaret Otis) ने बच्चों की निर्देशितता (Suggestibility) की जाँच के लिए परीक्षा-विधि निकाली है। इसके द्वारा बच्चों की, एक विषय से दूसरे विषय में भागने वाली, प्रक्रिया की परीक्षा हुई है। यह सामूहिक परीक्षा-विधि (Group Test) है। किन्तु इस विधि से निर्देशितता के अतिरिक्त बुद्धि की विशेष परीक्षा हो जाती है। रगल्स (Ruggles) ने मन-विभ्रान्ति (Mental Distraction) की परीक्षा की है। इसी प्रकार पोर्टिएस ने प्रेहलिका-परीक्षा (S. D. Porteus' Maze Test) से व्यक्तित्व की जाँच की है। इससे सहज ज्ञान, दूरदर्शिता तथा उत्तेजना की परीक्षा होती है। उत्तेजित बच्चा शीघ्रता में भ्रामक मार्ग में पेंसिल घुमाने लगता है, दक्ष तथा दूरदर्शी बच्चा सावधानी से बढ़ता है। वास्तव मे, विभिन्न परीक्षा-विधियों में केवल परिमाण का अन्तर है न कि प्रकार का। इन विधियों से बच्चों के व्यक्तित्व की जाँच में पर्याप्त साधन और उपकरण उपस्थित हो सके हैं। भारत में इसका प्रचलन बहुत अपेक्षित है। अब कुछ प्रयत्न हो रहे है।

व्यक्ति-विशेष की कोटियाँ (Types of Personality)

§. [७] बहुधा मनोवैज्ञानिक व्यक्तियों में विशेष कोटियाँ पाते हैं और उन्हीं में सम्पूर्ण व्यक्ति-समूह को बाँटने का उद्योग करते हैं। प्रसिद्ध ग्रीक चिकित्सक गैलेन (Galen) ने, जो ईसा की दूसरी शताब्दी में उत्पन्न हुआ था, व्यक्तियों को चार कोटियों मे रखा है। उसके अनुसार पहली कोटि अरुण-रुधिर-वृत्ति (Sanguine) वाले व्यक्तियो की है, जिसमें उत्साही, प्रसन्नचित्त, आह्लादित व्यक्ति आते हैं। दूसरी

कोटि पित्त-प्रधान वृत्ति (Choleric) वाले व्यक्तियों की है, जिसमें चिढ़चिढ़ी प्रकृति के, क्रोधी, व्यक्ति पाए जाते हैं। तीसरी कोटि खिन्न-चित्त (Meloncholic) वाले व्यक्तियों की है। चौथी कोटि कफ-प्रधान-वृत्ति (Phlegmatic) वाले व्यक्तियों की है, जिसमें, शान्त-चित्त वाले, आलसी, प्रमादी व्यक्ति पाए जाते हैं। इसी विधि से मिलती हुई भारतीय पद्धति भी है, जिसके अनुसार वात, कफ, पित्त प्रकृति के पुरुषों की गणना होती है। सत्, रजस्, तमस् गुण वाले व्यक्तियों के विषय में भारतीय परम्परा बहुत प्राचीन है। अभी हाल में कुछ मनोवैज्ञानिकों ने व्यक्तियों को विभिन्न कोटियों में बाँटा है। विलियम जेम्स, क्रेश्नर, युंग (James, Kretschner & Jung) महोदय इस विषय में प्रसिद्ध हैं। इन लोगों के अनुसार व्यक्ति या तो अन्तर्मुखी, या वहिर्मुखी होंगे, भावात्मक या अभावात्मक होंगे, तथा कठोर हृदय या कोमल हृदय वाले होंगे। युंग महोदय अन्तर्मुखी और वहिर्मुखी कोटियों के विशेष प्रबोधक हैं। वे व्यक्ति अन्तर्मुखी कहे जाते हैं जो जीवन को अपने अन्तर्दर्शन पर आधारित करते हैं। ऐसे व्यक्ति अपने विचारों और आन्तरिक प्रेरणाओं मे सीमित रहते हैं। वहिर्मुखी व्यक्ति सामाजिकता के प्रेमी होते हैं, वे दूसरों के निरीक्षण तथा सामाजिक प्रक्रियाओं में तल्लीन रहते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि कुछेक व्यक्ति इन दो कोटियों में आ जाते हैं, किन्तु सामान्यतः अधिक व्यक्तियों में दोनों कोटियों की प्रक्रियाएँ पायी जाती हैं। ऐसे व्यक्ति उभयमुखी (Ambivert) कहे जाते हैं। सभी अन्तर्मुखी प्रायः अपने से ही नहीं प्रेरित होते और न सभी वहिर्मुखी केवल वहिर्मुखी ही रहते। हाँ, जब व्यक्तित्व के संतुलन अथवा व्यवस्था में कोई विशेष गड़बड़ी आ जाती है तब कभी-कभी ये कोटियाँ स्पष्ट दीखने लगती हैं। ऐसी अवस्था में इन कोटियों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन या चिकित्सा होती है। किन्तु बहुधा बच्चों के व्यक्तित्व की जानकारी इन कोटियों से नहीं हो सकती। ऐसी मनोवैज्ञानिक खोज हो चुकी है। तब भी हम कोटियों के विभाजन को सर्वथा भ्रामक नहीं समझ सकते

(विशेष विवेचन के लिए देखिए लेखक का ग्रन्थ सामान्य मनोविज्ञान A Briefer Course in General Psychology)।

बच्चों के व्यक्तित्व का विकास
(Development of Children's Personality)

§. [८] व्यक्तित्व का विकास बचपन से प्रारम्भ हो जाता है। बच्चों की मूलप्रवृत्तियों का परिष्कार क्रमशः होता है। इस विषय मे हमने चरित्र-गठन के विकास के सिलसिले में अध्ययन कर भी लिया है। सीखने के प्रभाव एवं वातावरण के प्रभाव से मूलप्रवृत्तियाँ विकासोन्मुख होती हैं। यदि बच्चे को उत्तम प्रेरणा मिलती है, उसके व्यवहारों को प्रोत्साहन मिलता है, उसकी सफलताओं को संमोहन मिलता है तो वह अपने व्यक्तित्व का अच्छा विकास पाता है। इस प्रकार उसे आत्म-निर्भरता मिलती है। यदि बच्चों को बार-बार दमन मिले, उन्हें स्वतन्त्र रूप से विकास करने की प्रेरणा, प्रोत्साहन अथवा संमोहन न मिले तो वे परमुखापेक्षी हो जाते हैं। व्यक्तित्व का विकास, उसके सभी लक्षणों तथा गुणों का समुचित संगठन अनुभूतियों पर निर्भर करता है। व्यक्तित्व के विकास में बुद्धि, स्वास्थ्य, विवृद्धि तथा शारीरिक गठन का मुख्य हाथ है। बुद्धिमान् एवं स्वस्थ बच्चे अपना विकास स्वयं और शीघ्र करते हैं। वे कठिनाइयों के व्यामोह को दूर करके चरित्र-विकास के साथ अपने व्यक्तित्व को प्रफुल्ल देखते हैं। व्यक्तित्व के लक्षण तथा गुण इतने जटिल हैं कि उनकी वास्तविक विकास-गति को जानना बड़ा कठिन है। हम नीचे बच्चों की आत्म-निर्भरता, आत्म-संयम, आत्म-प्रकाशन, आत्म-हीनता और अन्तर्मुखी-बहिर्मुखी भावनाओं का प्रकाशन, प्रसन्नता, आत्म-सुरक्षा आदि लक्षणों की व्याख्या अवस्था-विशेष से करेंगे।

विकास के मूल में

§. [९] जन्म के पश्चात् व्यक्तित्व-प्रभेदता दृष्टिगोचर होती है। ज्यों-ज्यों बच्चा बढ़ता है वह वातावरणजन्य उत्तेजनाओं के फलस्वरूप

अपने व्यवहारों को प्रकट करता है। वाह्य उत्तेजनाओं के फलस्वरूप

प्रारम्भिक व्यक्तित्व-भेदों का निरीक्षण

मुस्की देना, हँसना, रोना, २ माह में एक दूसरे से सम्बन्धित हो जाते हैं। हमने शारीरिक विकास के अध्याय में देख लिया है कि कुछ दिन उपरान्त बच्चे उठने की प्रक्रिया करते हैं। ६ माह की अवस्था में बच्चे नवागन्तुक को देख कर लज्जा दिखाते हैं, परिचितों को देख कर प्रसन्नता प्रकट करते हैं। कुछ लड़के क्रोधी, चिढ़-चिढ़े, असहनशील होते हैं। ६ महीने में ही ये बातें पायी जाने लगती हैं। ये बातें बच्चों के व्यक्तित्व के प्रभेदों के सूचक हैं।

§. [१०] क्या उपर्युक्त प्रभेद सामान्यतः अस्थिर होते हैं या स्थिर व्यक्तित्व के परिचायक होते हैं? मनोवैज्ञानिक खोजों से यह

प्रारम्भिक प्रतिक्रियाओं की स्थिरता

प्रकट हो चुका है कि इनमें से कुछ रूप स्थिर होते हैं। वाशबर्न (Washburn) ने अपने अनुसंधान से सिद्ध किया है कि मुसकराना, हँसना या रोना प्रथम वर्ष तक विभिन्न बच्चों में विभिन्न रूप में स्थिर रूप से पाये जाते हैं। पुनर्निरीक्षण से यह ज्ञात हुआ है। बेली (Bayley) ने भी रोने को १ वर्ष के अन्तिम महीनों में तदनुरूप देखा। बोनहैम तथा सार्जेण्ट (Bonham & Sargent) ने २४ और ३० महीनों तक के बच्चों में इन क्रियाओं में विभिन्नता के साथ स्थिरता देखी। २ वर्ष की अवस्था में अच्छे स्वभाव, अधैर्य तथा प्रसन्नता की अवस्था में उनकी पुरानी अवस्थाओं में क्रमशः ·६३, ·३३, ·३८ और ·४२ का सम्बन्धन-अनुपात (Correlation) पाया गया। क्रियाशील गतियों में २ वर्ष से लेकर ५ वर्ष तक पर्याप्त स्थिरता मिली। सामाजिकता तथा अपनी ओर से कुछ करने के लक्षणों में अस्थिरता पायी गयी।

§. [११] नवजात शिशु असहाय होता है। उसे परिचर्या, परिचालना की आवश्यकता पड़ती है। उसको खिलाना, आराम देना

आदि दूसरों का कार्य है। उसे जब इन क्रियाओं में कोई अभाव होता है तो वह रोने लगता है और सारे घर को अपने सर पर ले लेता है। यदि इस अवस्था में उसे तत्क्षण कुछ सहायता न मिले, तो वह अत्यधिक क्रियाओं से कुछ आराम पाता है और क्रमशः अपने ऊपर आधारित रहने का आचरण ग्रहण करता है। यह एक साधारण अवस्था है। बच्चों को आत्म-निर्भर, आत्म-विश्वासी होना परमावश्यक है। उनकी आवश्यकताएँ स्वयं उनसे ही पूरी होनी चाहिए। बहुत-से माता-पिता बच्चों को इस अवस्था मे व्यर्थ की सहायता देने लगते हैं और उन्हे परमुखापेक्षी बना देते हैं। वे इस प्रकार उनके उत्तरदायित्व को स्वयं छीन लेते हैं। बच्चे अपने से खाना चाहते हैं, वस्त्र पहनना चाहते हैं। इन क्रियाओं में उनके माता-पिता स्वयं उतारू हो जाते हैं। यह बहुत बुरा है। बच्चों को इस से आत्म-निर्भर, आत्म-विश्वासी होने तथा स्वतन्त्र बुद्धि से कार्य करने में अवरोध उपस्थित हो जाता है। इसमें सन्देह नहीं कि इन गुणों को सीखना अभ्यास तथा अनुभवों से आता है। बच्चों को स्वानुभूतियों तथा अभ्यास के लिए प्रचुर योग देना चाहिए। उन्हे स्वयं अपने को सम्भालने का अवसर देना चाहिए। ये गुण क्रमशः ज्ञान एवं आचरण के समान परिवर्द्धित होते हैं। जब तक बच्चे अपने हाथ से कार्य नहीं करेंगे, अपनी बुद्धि नहीं लगाएँगे, प्रेरणाएँ और प्रोत्साहन नहीं पायेंगे, उनमें आत्म-विश्वास नहीं उत्पन्न हो सकता। बहुत-से माता-पिता ६ अथवा ८ वर्ष की अवस्था वाले बच्चो को अपने हाथ से खिलाते हैं, पहनाते हैं। इससे बच्चों के व्यक्तित्व के विकास के लिए आत्म-निर्भरता, आत्म-विश्वास आदि गुणों का अभाव हो जाता है। बार-बार पीटना, घुड़कना, आलोचना करना या परिहास करना बच्चों के व्यक्तित्व के विकास में हानिकारक होता है। बच्चों की अच्छाई अथवा बुराई बहुत अंशों में दूसरों पर निर्भर करती है। ज्यों-ज्यों बच्चा बढ़ता

स्वतंत्रता, आत्म-निर्भरता, आत्म-विश्वास तथा आत्म-संयम

है, अपनी मूलप्रवृत्तियों में सुधार पाता है। इस सुधार के लिए उसे स्वानुभूतियों की बड़ी आवश्यकता है। सुप्रचालित व्यवस्था की कमी अथवा आधिक्य से व्यक्तित्व में गड़बड़ी होती है। आत्म-श्लाघा, आत्म-प्रवंचना, धोखा देना, आदि दुर्गुण भी दूसरों की संगति अथवा रक्षा पर आश्रित हैं। बच्चे अपनी स्वानुभूतियों से ही आत्म-संयम सीख सकते हैं। इन गुणों की व्यवस्था व्यक्तित्व के लिए अपेक्षित है। जीवन बड़ा कठिन है, कठिनाइयाँ प्रचुर होती हैं। आज समाज में बहुत से ऐसे व्यक्ति हैं जो शराबी हैं, चोर हैं, धोखेबाज हैं और अत्याचारी हैं। ये दुर्गुण बचपन के मूल मे हैं। इन दुर्गुणों के मूल में व्यक्तित्व-विकास में अनुचित अवरोध तथा लाड-प्यार है।

उच्चता तथा आत्म-हीनता के भाव

§. [१२] उच्चता एवं आत्म-हीनता (Self-assertion and Self-submission) के भाव बचपन में ही दृष्टिगोचर हो जाते हैं। सामाजिक सम्बन्ध, उत्तरदायित्व-वहन, घर में अनुशासन की कमी, माता-पिता की परिचर्या, शारीरिक तथा मानसिक सबलता-दुर्बलता आदि विशेष गुणावगुण इन भावों के पोषक होते हैं। झगड़ा, द्वन्द्व-प्रवृत्ति का द्योतक है। कौटुम्बिक अतिचार, पारस्परिक भाव-प्रतिभाव, शिक्षकों का उचितानुचित व्यवहार, तुलनात्मक व्याख्याएँ, कल्पनात्मक दोष-गुण-विवेचन आदि स्वभाव व्यक्तित्व को बढ़ाने अथवा घटाने में सहायक होते हैं। अतः माता-पिता अभिभावक एवं शिक्षक को इस विषय में सचेत होना चाहिए।

एकलौता बच्चा

§. [१३] एकलौते बच्चे (The Only Child) के विषय में बहुधा यह कहा जाता है कि वह आत्म-विश्वासी और झगड़ालू होता है। एकलौते बच्चे कपूत और सपूत दोनों कहे जाते हैं। ऐसे लड़के अतिचार तथा अधिक लाड़-प्यार से बिगड़ जाते हैं, अथवा माता-पिता की समझदारी से बहुत अच्छे भी होते हैं। बहुधा ऐसे लड़के वैय-क्तिक, स्वार्थी, ईर्ष्यालु, परमुखापेक्षी, झगड़ालू पाये जाते हैं। किन्तु

विभिन्न अध्ययन विभिन्न निष्कर्ष बताते हैं। फेण्टन (Fenton) का अध्ययन एकलौते बच्चों को अच्छा बताता है। किन्तु यदि, वास्तव में, देखा जाय तो एकलौते बच्चों को बहुत-सी कठिनाइयाँ मिलती हैं। उन्हे साथियों की कमी रहती है, उनकी प्रारम्भिक आवश्यकताएँ पूर्ण हो जाती हैं, उन्हें जीवन-विकास की कठिनाइयों का सामना नहीं करना पड़ता। यदि वे कालान्तर में जीवन-संग्राम में कूदते हैं तो माता-पिता की अनुपस्थिति में उन्हे प्रभूत समस्यायें मिल जाती हैं, और वे अपने को व्यर्थ एवं असफल पाते हैं। अतः उनका व्यक्तित्व संगठित नहीं हो पाता। किन्तु अपवाद भी मिलते हैं जो माता-पिता की सुचारु परिचर्या के परिचायक होते हैं।

इच्छाओं की पूर्ति के प्रत्यक्ष तथा परोक्ष रूप

§. [१४] सुख तथा संतोष की विभिन्न प्राप्तियों के अनुकूल ही व्यक्ति-विभिन्नता देखी जाती है। कुछ व्यक्ति अपनी इच्छाओं की पूर्ति स्वयं करते हैं और उस पूर्ति का प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं। कुछ व्यक्ति अप्रत्यक्ष रूप से कांक्षाओं की पूर्ति करते हैं। वे ही बच्चे अन्तर्मुखी कहे जाते हैं जो सुखानुभूति अथवा संतोष को दिवास्वप्नों या "जागते सपनों" (Day-dreaming or Reverie) में पाते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि वे स्वयं कल्पना करते हैं और उन कल्पनाओ और स्वप्नों में अपनी अभिलाषाओं को प्रतिफलित देखते हैं। ऐसे बच्चे समाज-सबंध से दूर रहते हैं। वे आत्म-प्रवंचक होते हैं। वे बहुत शीघ्र व्यामोहित हो जाते हैं तथा सोचने में अधिक समय व्यय करते हैं। इसके विपरीत कुछ ऐसे बच्चे होते हैं जो प्रत्यक्ष अनुभव में सुखानुभूति तथा संतोष पाते हैं। वे दूसरों की चाह करते हैं और कल्पना तथा स्वप्न मे अधिक समय नहीं लगाते प्रत्युत स्वयं करके फलीभूत होते हैं। युग (Jung) महोदय ने बहिर्मुखी बच्चों में अत्यधिक सामाजिकता देखी है। वे कहते हैं कि ऐसे बच्चे अच्छे मित्र अथवा कठोर मित्र उत्पन्न करते हैं, दूसरों से प्रशंसित होते हैं और आलोचनाओं की चिन्ता नहीं करते।

अन्तर्मुखी बच्चा विश्लेषक होता है, आत्मशील होता है, आलोचना से डरता है, दूसरो के साथ ठीक से नहीं रह सकता, एकाकीपन मे अभिरुचि रखता है, आत्म-हीनता का भाव रखता है तथा उसके मित्र बहुत कम होते हैं। बच्चे स्वभावतः कल्पना के विश्व में विचरण करते हैं। उनके खेलों से ज्ञात होता है कि उनका विश्व निराला होता है। कल्पना के विश्व में वे अभिनय करते हैं, घोड़ों पर चढ़ते हैं, पतंग उड़ाते हैं, माँ बनते हैं, ट्रेन हाँकते हैं, मोटर चलाते हैं। ऐसी अवस्था अन्तर्मुखी बच्चों में बहुत दिनो तक चलती है और इसमे यदि वातावरण से परिष्कार नहीं हुआ तो बच्चे बढ़ने पर भी अन्तर्मुखी हो जा सकते हैं। हमें दोनों कोटियों के बच्चों को जानना चाहिए और उनमें व्यक्तित्व के सुन्दर और सुव्यवस्थित लक्षणो को सन्तुलित करने का उद्योग करना चाहिए, अन्यथा दोनों के अतिरेक से मानसिक उलझनें उत्पन्न हो जायँगी जिनके फलस्वरूप व्यक्तित्व का समुचित विकास नहीं हो सकेगा।

सुख और सुरक्षा का भाव

६. [१५] यह सामान्यतः देखने मे आता है कि बच्चे प्रसन्न, आह्लादित तथा उल्लसित अवस्था में रहना चाहते हैं। मेरी बेटी अनामा जब ३ वर्ष की थी, प्रतिक्षण मस्त रहती थी, नाचती थी, कूदती थी, गाना गाती थी। ६ वर्ष या ७ वर्ष के बच्चे हँसते-दौडते रहते हैं। किन्तु कुछेक बच्चे पिनपिनाहाँ होते हैं, दिन-रात रोया करते हैं। बहुत से प्रौढ़ भी चिन्तित, निराशावादी होते हैं। ऐसी अवस्था क्यों होती है? बच्चों का जीवन सामाजिक होता ही है। वे अपने माता-पिता, घर के वातावरण से प्रभावित होते ही हैं। वास्तव में, सभी प्राणी को सुरक्षा, सुव्यवस्था (Feeling of Security) की चिन्ता होती है। सुख के पीछे सभी विकल दीखते है। जब बच्चों पर जीवन का सारा बोझ आ जाता है तो वे विकल हो जाते है। जीवन की विषमताओ को समझने-बूझने और उन्हे जीतने के लिए पर्याप्त मानसिक, चारित्रिक तथा व्यक्तित्व-सम्बन्धी शक्तियों,

एवं गुणों की आवश्यकता पड़ती है। बच्चों का जीवन स्वच्छन्द होना चाहिए किन्तु उन्हे उत्तरदायित्व को सँभालने के लिए पर्याप्त रूप से परिस्थितियों का सामना करना चाहिए।

§. [१६] ऊपर व्यक्तित्व के जितने लक्षणों अथवा गुणों की विवेचना की गयी है वे सभी गुम्फित अवस्था में कार्यशील होते हैं।

सामान्य व्यक्तित्व के गुण

बच्चों के व्यक्तित्व के गुणों में सभी प्रकार के व्यक्तित्व-लक्षण विद्यमान रहते हैं। अतः सब लक्षणों तथा गुणों की समुचित व्यवस्था मे, उनके संतुलन में, जीवन का सुख (Happiness) है। अब हमें देखना है कि सामान्यतः वे कौन-कौन से गुण हैं जिनकी प्राप्ति से एक बच्चा स्वभावतः अच्छे व्यक्तित्व का कहा जा सकता है। उसी बच्चे का व्यक्तित्व सामान्य अथवा समुचितरूपेण आदर्श कहा जायगा जिसके सम्विधान में संतुलन हो और जो बिना किसी कठिनाई के सामाजिक सम्बन्धों में परिपूर्ण हो। इसके लिए यह कोई आवश्यक नहीं कि वह बच्चा सर्वरूपेण निर्दोष, प्रवीण अथवा दक्ष हो, क्योंकि पूर्ण परिपक्वता अपवाद है। रोजनॉफ (Rosanoff) के शब्दों में आदर्श व्यक्तित्व उत्तेजनाओं के संयम, बौद्धिक सन्तुलन में है। वाञ्छित व्यक्तित्व मे आत्म-संयम, संवेग-संयम, स्थिरता और भावों में एकरसता होती है। संक्षेप मे, इस प्रकार हम देखते हैं कि व्यक्तित्व-लक्षणों में वाह्यान्तः रूप, बुद्धि, संवेग-शीलता, भाव-सम्बन्ध, चरित्र, सामाजिकता (Biological and sociological factors: Physique & Chemique, Intelligence, Emotionality or Temperament, Character and Sociability) आदि के तत्व निहित हैं। पाठकों को इन तत्वों की जानकारी के लिए लेखक का ग्रन्थ सामान्य मनोविज्ञान पढ़ना चाहिए।

सत्रहवाँ अध्याय

बचपन की व्यक्तित्व-संबंधी उलझनें, कुव्यवस्थाएँ (Personality Maladjustments) और उनका उपचार

.§. [१] बच्चों को विषमताओ का सामना करना ही पड़ता है, उन्हे विभिन्न प्रकार की कठिनाइयाँ मिलती ही हैं जिन्हे वे अपने मन के अनुसार अथवा वातावरण से प्रेरित होकर सुलझाने का प्रयत्न करते हैं। इस प्रयत्न में उन्हें सफलता और विफलता दोनों मिलती हैं। यदि वे किसी कठिनाई को हटाने मे किसी प्रकार का अवरोध पाते हैं, जिसके फलस्वरूप उनके संवेग प्रबल हो जाते हैं, तो वे निरुत्साही हो जाते हैं और भाँति-भाँति की उत्तेजनाएँ प्रदर्शित करते है। बहुधा बच्चों की मानसिक उलझने इतना व्याघात उत्पन्न करती हैं कि बच्चे अस्वाभाविक रूप से व्यवहार करने लगते हैं। बच्चों का हठी होना, झूठ बोलना, चोरी करना, कल्पना-जगत मे विचरण करना, अकेले में रहना, मारपीट करना, बहानाबाजी करना आदि व्यक्तित्व के वे लक्षण हैं जो अव्यवस्था, कुसंगठन, असंयम, अनियमन, असंतुलन आदि के द्योतक हैं। इस अध्याय में हम बच्चो के व्यक्तित्व के दुर्गुणों, अव्यवस्थाओं का मनोवैज्ञानिक परिशीलन करेंगे।

उलझनों एवं कुव्यवस्थाओं (Conflicts & Maladjustments) के कारण

.§. [२] बच्चो में चौदह मूलप्रवृत्तियाँ होती हैं जो उनके जीवन के प्रेरणात्मक स्वरूप हैं, जो उन्हे उत्तेजित करती हैं, वातावरण के अनुकूल अथवा प्रतिकूल बनाती हैं और जो उन्हे जीवन के विभिन्न कार्यों में नियोजित करती हैं। इन प्रवृत्तियों के साथ विभिन्न विशिष्ट संवेग हैं जो उन्हे विकल करते हैं अथवा संतोष देते हैं। वातावरण की परिस्थितियो में बच्चों को इन्हीं संवेगो के द्वारा अपने को व्यवस्थित करना पड़ता है। यदि इन संवेगों और प्रवृत्तियों का दमन (Repres-

sion) होता है, विलियन (Inhibition) होता है अथवा सुचारु रूप से मार्गान्तरीकरण अथवा परिष्कार (Redirection and Sublimation) नहीं होता तो उनके व्यक्तित्व में गड़बड़ी (Disorders and disintegration) उत्पन्न हो जाती है।

चित्त-विश्लेषण-शास्त्र

§. [३] हमें बच्चो के मन की उलझनों अथवा उनके व्यक्तित्व के व्याघातों की जानकारी में आधुनिक चित्त-विश्लेषण-शास्त्र (Psycho-analysis) से प्रभूत सहायता मिली है। डाक्टर और प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक फ्रायड, तथा उनके अनुयायी युंग, एडलर, जोस. फ्रेंकेजी, स्टेकेल आदि ने हमें इस विषय में बहुत ज्ञान दिया है। बालमनोविज्ञान, चित्त-विश्लेषण-शास्त्र का बहुत ऋणी है। चित-विश्लेषण-शास्त्र का कहना है कि प्रौढ़ावस्था की जटिलताओं (Complexities) के मूल में बचनप के मृदु-कटु अनुभव हैं। इस विज्ञान ने मन के अव्यक्त रूप को अधिक महत्व दिया है। यहाँ पर हम, संक्षेप मे, इसकी व्याख्या करेंगे। इस नवीन मनोविज्ञान ने बताया है कि हमारा मन सिन्धु में तिरोहित होते हुए एक हिम-खण्ड के समान है। हिम-खण्ड का अधिकाश भाग पानी में रहता है, इसी प्रकार हमारे मन का अधिक भाग अचेतन है, अव्यक्त है जो सक्रिय रूप से चेतन मन का संचालन करता रहता है। अव्यक्त मन (Unconscious, Id) और व्यक्त मन के बीच में एक नियन्त्रक मन (Sub-conscious or Pre-conscious) है जो इच्छाओं एवं आकांक्षाओं को अपने वश में रखता है। इन तीनों को अचेतन, उपचेतन तथा चेतन मन अथवा अव्यक्त मन, नैतिक मन (Super-ego) तथा अहंकार (Ego) कहा जाता है।

अव्यक्त मन के कार्य

§. [४] स्वप्न अव्यक्त मन की क्रियाएँ हैं। ये स्वप्न हमारी दबी हुई वासनाओ (Repressed Desires or Thwarted Motives) के प्रतीक हैं। फ्रायड ने स्वप्नों का बहुत ही मार्मिक विश्लेषण करके दिखा दिया है कि किस प्रकार बचपन में दमन के फलस्वरूप इच्छा-

क्रियाएँ अव्यक्त मन में फैल जाती हैं और अपने अतिरेक में मनुष्य को विकल करती हैं, उन्हें उन्मादित अथवा असामाजिक बनाती हैं। दमन की हुई कामनाएँ स्वप्नों की अवस्था में परिवर्तित, संक्षिप्त तथा मिश्रित होती रहती हैं। हमारी नैतिक बुद्धि (उपचेतन अथवा प्रतिबन्धक, Censor) कुवासनाओं को दूसरा रूप देती रहती है। दबी हुई वासनाएँ एवं कामनाएँ स्वप्नों और विभीषिकाओं का कारण होती हैं। दमन के फलस्वरूप व्यक्ति में बहुत सी सांकेतिक क्रियाएँ एवं चेष्टाएँ (Symbolic overt behaviour) होने लगती हैं। मुँह मोड़ना, नाक सिकोड़ना, ओष्ठों को काटना, दाँत से नाखून काटना और पैरों को हिलाना आदि शारीरिक क्रियाएँ व्यक्त मन की इच्छाओं के द्योतक हैं। विस्मृति, विक्षिप्तता और भयकर रोगों की उत्पत्ति दबी हुई भावनाओं, संवेगों और प्रवृत्तियो के कारण स्वरूप हैं।

अवरोध, पराजय-भावना एवं व्याघात
(Frustration & Thwarting)

.§. [५] ऊपर के विश्लेषण के उपरान्त हम अवरोधों के विभिन्न प्रकारों का अध्ययन करेंगे। बच्चे को अपनी इच्छाओं की पूर्ति में विभिन्नताएँ मिलती हैं। यदि अवरोध केवल क्षणिक है, सहज वातावरणजन्य है, तो बच्चे उसे सह सकते हैं, और यदि अवरोध से उनकी वृत्तियों का हनन हो रहा है जिसके फलस्वरूप उसकी महत्ता मे कोई नियन्त्रण उपस्थित हो रहा है, तो उसका परिणाम भयंकर होगा। अवरोध से आत्म-हीनता जगती है। एडलर (Adler) ने इसी को आत्म-हीनता की ग्रन्थि (Inferiority Complex) की संज्ञा दी है।

आत्म-हीनता का भाव

यदि बच्चा किसी कारणवश अथवा अवरोध से समाज मे अपनी महत्ता नहीं स्थिर कर सकता है, उसकी सुरक्षा भय में है, अथवा वह भयाकुल हो उठा है, तो उसमें आत्म-हीनता का भाव जगेगा। इससे उसमें आत्म-विश्वास का अभाव पाया जाता है। यदि शिक्षक उसकी क्रियाओं को अपमानित करते हैं, यदि उसकी

अपेक्षा अन्य लड़के आगे हैं, प्रबुद्ध हैं, प्रशंसा के पात्र बन रहे हैं, तो उस बच्चे में यह भाव अचानक उदय हो जाता है। यह भाव व्यक्तित्व के उत्थान में एक भयंकर रोड़ा है। प्रत्येक माता-पिता, अभिभावक को तथा शिक्षक को चाहिए कि वे इस गर्हित भाव को न आने दें। बच्चों की सफलताओं की प्रशंसा करनी चाहिए, उन्हें प्रोत्साहन देना चाहिए, उनकी विफलताओं को विशेष महत्व दे उन्हें गर्हित नहीं करना चाहिए। इस भाव से प्रेरित बच्चे असामाजिक हो जाते हैं चोर, बदमाश, व्यभिचारी हो सकते हैं। वास्तव में, आत्म-हीनता के मूल में बुद्धि-हीनता नहीं है। स्मिथ, हॉलिंगवर्थ तथा ग्रे ने अपने अनुसंधानों से यह सिद्ध किया है कि आत्म-हीनता के भाव से प्रेरित बच्चों में बुद्धि की कमी, कक्षा में अनुत्तीर्णता आदि अवाञ्छित बातें नहीं पायी जाती। अतः आत्म-हीनता व्यक्तिगत अनुभव से उत्पन्न होती है। सामाजिक स्थितियों में, विफलता के कारण जो भय का संचार होता है, बहुधा उसी से आत्म-हीनता का भाव जगता है। घर में पीटा जाना, घुड़की सहना, बार-बार उलाहना सहना, अपमानित होना, विमाता द्वारा पालित होना, आदि इसके मूल मे पाये जाते हैं। क्रियाशील इच्छाओं के अवरोध में, दमन में जो हीनता का भाव जगता है वह सामाजिक अधिक है। अतः माता-पिता, अभिभावक तथा शिक्षकों को बच्चों के परिवर्द्धन तथा शिक्षा-दीक्षा में अधिक सतर्क रहना चाहिए, अन्यथा इस भाव के उदय होने से बच्चे का भविष्य अन्धकारमय हो जायगा और उसका वास्तविक विकास नहीं हो सकेगा।

§. [६] यह तो हुई आत्म-हीनता जिसका कारण अवरोध या व्याघात (Thwarting & Frustration) है। अवरोध का दूसरा परिणाम आन्तरिक द्वन्द्व है जो प्रवृत्तियों एवं

द्वन्द्व जनित व्याघात प्रेरणाओं के मूल में है (Thwarting due to Conflict of Motives)। बच्चा अपने से युद्ध करता है। कभी-कभी कुछेक माँ-बाप अपने बच्चों को अभागा (Uufortunate Child) बना डालते हैं और उनमें अपने से युद्ध

करने का भाव उत्पन्न कर देते हैं। अधिक लाड़-प्यार और स्नेहातिरेक से बच्चे स्वावलम्बन नहीं सीख पाते। जब ऐसे लड़के घर के बाहर जाते हैं तो विकल होते हैं। अन्य बच्चे उन पर हँसते हैं, उन्हें बनाते हैं, और ये 'लाड़ले' रोते रहते हैं। अतः कुछ दिनों में वे अपने माता-पिता के विरुद्ध भाव रखने लगते हैं। ऐसे बच्चे स्वतन्त्र होना चाहते हैं, किन्तु उनके माता-पिता उन्हें अपने से कुछ भी नहीं करने देते। कभी एक ही बच्चे के प्यार के लिए स्त्री-पुरुष में द्वन्द्व चलता है। बच्चा किसी को अधिक प्यार करे? इस स्थिति मे उसके मन में द्वन्द्व उठता है, उसका वास्तविक मन विक्षिप्त हो जाता है। वह बाहर कुछ और देखता है और घर में कुछ और। यह उन का मानसिक अवरोध है जो द्वन्द्वमूलक है और व्यक्तित्व को अव्यवस्थित करने वाला, पराजित एवं भग्नाश (Disintegrated and Frustrated) बनाने वाला होता है।

.§. [७] जब किसी अवरोध के कारण कोई बच्चा अपनी किसी प्रवृत्ति को वाञ्छित सन्तोष नहीं दे पाता तो अपने को सन्तोष देने के लिए वह नाना प्रकार की योजनाएँ बनाता है।

बहानेबाजी की योजनाएँ

बच्चे बहुधा जब विफल हो जाते है, तो वे अपनी सफलता को जतलाने के लिए विचित्र-विचित्र कल्पनात्मक बातें कह डालते हैं। वे कहते है, "चलिए, चलिए, मैंने ऐसे कार्य बहुत किए है, और बहुत-सी प्रशंसाएँ पा चुकी हैं।" कभी-कभी कुछ बच्चे हवाई किले बनाते हैं, और उन्हीं में रह कर सन्तोष की साँस लेते हैं। किसी को मारना-पीटना, चोरी करना, आत्म-श्लाघा प्रकट करना, हठी हो जाना, अकड़ कर चलना आदि बहाने की योजनाएँ (Defense Mechanisms) हैं। वास्तव में, इन योजनाओं द्वारा कुछ सन्तोष मिलता है, किन्तु ये हितकर नहीं हैं। परीक्षा मे फेल हो जाने पर बहुधा लड़के कहते हैं, "प्रश्न-पत्र कठिन था, उस परीक्षक से वैर-भाव था"। ये बातें केवल आत्म-सन्तोष की हैं। इसी प्रकार यदि बच्चों की अभिकांक्षाओं को प्रत्यक्ष सन्तोष

नहीं मिलता अथवा किसी प्रकार का अवरोध उपस्थित हो जाता है, तो वे बहुधा मनगढ़न्त बहाने बनाते हैं और उन्हीं से संतोष की साँस लेते हैं।

ऊपर की बातों से यह स्पष्ट हो गया होगा कि बच्चों को अपने व्यक्तित्व के संगठन मे कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। समान कठिनाइयों में विभिन्न बच्चे विभिन्न प्रकार से व्यवहार करते है। यदि कोई बच्चा हठी हुआ तो उसका व्यवहार कुछ दूसरे प्रकार का होगा, यदि वह अन्तमुंखी हुआ तो उसका व्यवहार भिन्न प्रकार का होगा। इसी प्रकार विभिन्न बच्चे अपनी उत्तेजनाओं के प्रति विभिन्न प्रतिक्रियाएँ प्रदर्शित करेंगे। जिस प्रकार का व्यक्तित्व होगा उसी ढंग का जीवन-संगठन होगा। अब हम नीचे व्यक्तित्व की विशेष अव्यवस्थाओं (Maladjustments) का वर्णन करेंगे।

व्यक्तित्व की दुर्बल व्यवस्थायें

(Ineffective Adjustments of Personality)

.§. [८] ऊपर हमने देख लिया है कि किस प्रकार अवरोध के कारण बच्चों की प्रकृति में दुर्गुण अथवा असामाजिकता आ जाती है। हमने देखा है कि किस प्रकार भिन्न परिस्थितियो में अव्यवस्थित बच्चे बहानेबाजी करते हैं और अपनी आत्म-रक्षा, मान-सम्मान और मर्यादा को प्रदर्शित करने के लिए अथवा दूसरों की दृष्टि में भला जँचने के लिए मनगढ़न्त योजनाएँ दिखाते हैं और कुछ आत्म-सन्तोष ग्रहण करते हैं। यहाँ पर उन्हीं बहानेबाजी की योजनाओं अथवा अवरोधों के कुपरिणामों को अब हम विभिन्न स्वरूपों मे देखेंगे। एक ही बच्चे में कई प्रकार की व्यक्तित्व-अव्यवस्थाएँ दृष्टिगोचर हो सकती हैं। कभी-कभी कई बहाने एक-दूसरे में मिले रहते हैं।

.§. [९] बचपन की प्रारम्भिक अवस्था में भी अव्यवस्थाएँ दृष्टिगोचर होती हैं। कुछ शिशु केवल अवधान को आकर्षित करने के लिए कुछ विशेष क्रियाएँ करते है जिन्हें अवधानाकर्षण की योजनाएँ (Attention-getting mechanisms) कहते हैं। देखने मे आता

आरम्भिक अव्यवस्थाएँ

है कि कुछ शिशु रो-रो कर गोदी में पहुँचना चाहते हैं। यह क्रिया बड़ी बलवती होती है। बच्चों को बार-बार गोदी में लेना बुरा है, क्योंकि इससे उनमें कुटेव पड जाती है। बहुत दुलार करने, चुम्बन लेने अथवा गोद में ले लेने से बच्चों में आचरण-दोष उत्पन्न हो जाता है, और वे ऐसी क्रिया के लिए रोने का बहाना कर लेते हैं। यह क्रिया बड़ी अवस्था तक चलती जाती है जो जोर-जोर से बोलकर ध्यान को आकर्षित करने, आत्म-प्रकाशन अथवा दूसरों को अवरोधित करने में देखी जाती है। अँगूठा चूसने (Thumb-sucking) की क्रिया जन्म के कुछ घण्टों के पश्चात् ही देखी जाती है। लगभग शिशुओं की ४०% संख्या अँगूठा या कोई अँगुली चूसती है। इसके कुछ कारण तो भोजनादि के अभाव में पाये जाते हैं। यह क्रिया समय पर दूध पिलाने से दूर की जा सकती है। इसको दूर करने लिए उन्हे खिलाने-पिलाने के उपरान्त भाँति-भाँति के रंगीन खिलौने देने चाहिए, क्योंकि खिलौनों में बझे रहने पर वे अपनी अँगुलियों अथवा अँगूठों को मुँह में नहीं ले जायेंगे और क्रमशः आचरण के बँध जाने पर यह क्रिया दूर हो जायगी। यह उपचार मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों पर अवलम्बित है। बहुधा बच्चे मल-मूत्र क्रिया (Enuresis) को संयमित नहीं रखते। इसके कई कराण हैं जिनमें तीन मुख्य हैं। (१) पहला कारण माता अथवा दाई की अनवधानता अथवा अनुचित लापरवाही है। कभी-कभी ३ वर्ष के बच्चों मे भी यह क्रिया संयम के बाहर पाई जाती है। आव न देखा ताव जहाँ चाहा वहीं मल या मूत्र त्याग दिया! बच्चों को समय से इस क्रिया के लिए उत्तेजित करना चाहिए। उन्हें अभिसंधान-विधि (Conditioning) के सिद्धान्त से इस क्रिया में टेव डाल देनी चाहिए। (२) दूसरा कारण संवेगों की उत्तेजना (Emotional excitement) है। यदि बच्चों को अकारण घुड़का जाय, उन्हें

अँगूठा चूसना

मल-मूत्र क्रिया की अनियन्त्रित अवस्था

बिगड़ा जाय तो वे संवेगों के आवेश में आ इस क्रिया को करने लगते है। माता को इस बात पर ध्यान देना चाहिए। यह उनका ही दोष है जो बच्चों में विस्तर को गन्दा कर देने की कुटेव पड़ जाती है। (३) तीसरा कारण ध्यान को आकर्षित करना हो सकता है। कुछ बच्चे माता या दाई के ध्यान को अपनी ओर खींचने के लिए ये क्रियाएँ करते रहते हैं। इन तीन कारणों को हम अपने वश में कर सकते है। इन कारणों के मूल में हमारी असावधानी है। यदि हम बच्चो में समय-समय से इस क्रिया को कराने का अभ्यास डाल दे, उन्हें व्यर्थ में न डॉटे, उन्हे गोदी में रखने की टेव न डालें अथवा उन्हे समय-समय पर देख लिया करें तो यह दोष दूर हो सकता है। किसी क्षति की पूर्ति मे क्रियावाही शक्तियों अथवा वाक्-शक्ति से संतोष लेने का आचरण बच्चों में बहुधा देखा जाता है। किसी अभाव या

सन्तोष-प्रति-भाव

दुर्बलता को छिपाने के लिए जो प्रतिक्रियातिरेक उत्पन्न होता है वह सन्तोष-प्रति-भाव (Compensation) कहा जाता है। वास्तविक प्राप्ति के भाव की पूर्ति सन्तोष-प्रति-भाव या क्षतिपूरक भाव है। जब किसी बच्चे को कोई अवरोध मिलता है अथवा उसकी किसी प्रवृत्ति को वास्तविक सन्तोष नहीं प्राप्त हो पाता तो वह इस प्रकार का भाव प्रकट करता है। यह भाव अथवा क्रिया भी बहानेबाजी की योजना (Defense mechanism) है जिसका वर्णन ऊपर हो चुका है। थोड़ा भय मिलने पर भी घमंड प्रदर्शित करना, मान पर धक्का पहुँचने पर दूसरो को परेशान करना, घृणा का भाव प्रदर्शित करना आदि क्रियाएँ संतोष-प्रति-भाव हैं। लँगड़े बच्चे अपनी शारीरिक कुरूपता का विशेष अध्ययन कर, बुद्धिहीन, आलसी तथा प्रमादी बच्चे लम्बी-लम्बी बातों से, संतोष-प्रति-भाव प्रकट करते हैं। जब कोई बच्चा किसी प्रकार की प्रशसा नहीं पाता अथवा उस पर लोग कोई विशेष ध्यान नहीं देते तो वह किसी विशेष कार्य द्वारा लोगों का ध्यान आकृष्ट करता है, यथा—बहुत से वृक्षों के नाम के ज्ञान से अथवा टिकट को एकत्र करके वह दूसरों

का प्रशंसा-पात्र बनता है। इस क्रिया का दमन हानिकारक है। दमन से यह भाव और भी प्रबल हो उठता है। वास्तव में, सन्तोष-प्रति-भाव कभी-कभी बहुत ही उत्तम साधन है जिसके द्वारा कुछ बच्चे अपने वास्तविक झुकाव को जान लेते हैं और उसके द्वारा जीवन की विशेष समस्याओं को समझने मे समर्थ होते हैं। यदि यह भाव किसी संवेग का अतिरेक है अथवा सामाजिक अवरोधों से उत्पन्न है, तो हमें बच्चे के वातावरण को ठीक कर देना चाहिए अथवा उसे पर्याप्त मात्रा में प्रेरणा अथवा प्रोत्साहन देकर उसे वास्तविक संतोष देना चाहिए। किसी काम को हठपूर्वक न करना अथवा जो कहा जाय उसके विरोध में जाना अभावात्मक भाव (Negativism) का द्योतक है। कभी-कभी कुछ बच्चों में यह आचरण सीमा का अतिरेक करता पाया जाता है। क्रोध आदि संवेगों का प्रदर्शन होता है। शरीर को कड़ा कर देना, हाथ-पैर पटकना ६ माह के बच्चों में भी देखा जाता है। यह भाव ३ वर्ष के बच्चों में अधिकतर देखा जाता है, जो शब्दों और क्रियाओं, दोनों से प्रकट होता है। एक उदाहरण देना पर्याप्त है। मेरी एक ६ वर्ष की भतीजी को उसके शिक्षक पढ़ा रहे थे। वह लड़की उस समय खेलना चाहती थी किन्तु शिक्षक महोदय उसे बल-पूर्वक पढ़ाना चाहते थे। जब शिक्षक ने उसे पढ़ाया कि, 'मृत्युञ्जय नाम भगवान शंकर का है।' तो उसने कहा "मुझे यह नहीं कहने आता, मैं नहीं कहूँगी।" शिक्षक ने पूछा "क्या नहीं कहोगी?" उसने उत्तर दिया, "मृत्युञ्जय नाम भगवान शंकर का है।" लड़की को फिर संज्ञा मिली, किन्तु वह अपने हठ पर दृढ़ रही। उसने कहा, "मैं उस शब्द को नहीं कह सकती।" वास्तव मे, लड़की जिद्दी तथा हठी थी। जब मैंने उसे शिक्षक महोदय से छुट्टी दिला दी तो वह 'मृत्युञ्जय' शब्द का उच्चारण भली भाँति कर सकी। छोटे बच्चे बड़े बच्चों से अधिक हठी होते हैं। यह भाव उनकी स्वच्छन्दता में अवरोध उत्पन्न करने से आता है। माता-पिता बहुधा बच्चों से कोई

अभावात्मक भाव

कार्य बलवश कराना चाहते हैं। यह बुरा है। इसी से बच्चों मे अभावात्मक भाव उत्पन्न होता है। शिक्षकों को इससे उत्तेजित नही होना चाहिए, बच्चों को मारना-पीटना या बुरा-भला नहीं कहना चाहिए। समझदारी से बच्चों को प्यार करके उनके विश्वास को लेकर उनको पढ़ाना चाहिए। पुरस्कार, भेंट, खेल आदि से यह दोष दूर किया जा सकता है।

अतार्किक वहानेवाजी

बहुधा कुछ बच्चे अपनी विफलता के फलस्वरूप कोई अयथार्थ अथवा अतार्किक वहानेवाजी (Rationalization) ढूँढ़ लेते हैं। यह क्रिया अथवा भाव सन्तोष-प्रति-भाव से बहुत कुछ मिलता है। "नाचे न आवे आँगन टेढ़ा", "अँगूर खट्टे हैं" आदि कहावते इस विषय में भली भाँति चरितार्थ होती हैं। यदि बच्चा परीक्षा में विफल हो गया है तो वह शिक्षक को दोष देने लगता है, कहने लगता है कि उसकी तबीयत खराब थी या प्रश्न-पत्र बहुत कठिन थे। बहुधा सभी बच्चे इस क्रिया में प्रवीण होते हैं। यह क्रिया-भाव बड़ों में भी पाया जाता है जो सभी पाठकों को ज्ञात है। अपने को बचाने के लिए दूसरे की शिकायत करना इसका प्रमुख उद्देश्य होता है। इस दोष से उत्तरदायित्व स्वीकार करने में गड़बड़ी उत्पन्न हो जाती है जिसके फलस्वरूप बच्चों का सामाजिक जीवन पूर्ण नहीं हो पाता। प्रवृत्तियों और सामाजिक व्यवधानों में परस्पर युद्ध होने से अतार्किक अथवा अयथार्थ वहाने-वाजी का उदय होता है। इस दुर्गुण को दूर करने के लिए बच्चों के सामाजिक व्यवहार का उचित विकास करना चाहिए, उन्हें प्रेरणा, प्रोत्साहन देना चाहिए तथा उनकी व्यर्थ आलोचना नहीं करनी चाहिए।

दिवास्वप्न ("जागते सपने")

बच्चे स्वभावतः कल्पना मे विचरण करते हैं। यदि उन्हे किसी प्रकार का प्रवृत्ति-अवरोध मिलता है, उन्हें सन्तोष नहीं मिलता है अथवा वाञ्छित क्रियाओं में विफलता मिलती है तो वे स्वप्नों के संसार में विचरण करने लगते है और वायवी दुर्ग (Castles in the air)

बनाने लगते हैं। उनका संसार पृथक् रूप धारण कर लेता है। वास्तविक वातावरण में उपयुक्त स्थान न मिलने के कारण, बच्चे अपनी स्वप्नावस्था में सन्तोष के संसार का निर्माण करते हैं, चलते स्वप्नो मे वे स्वस्थता, शक्तता, बुद्धिमत्ता आदि की कल्पनाओ मे तल्लीन रहते हैं। ऐसी अवस्था में उन्हें किसी प्रकार का अवरोध नहीं मिलता। यह क्रिया-भाव बड़ों मे भी पाया जाता है। बहुधा लोग "नेता-भाव" (Hero type), "गान्धी-भाव", "प्रसिद्ध-कवि-भाव" का अभिनय करते हैं और स्वप्नों मे सभी प्रकार के काल्पनिक सुख का अनुभव कर लेते हैं; किन्तु जागरण की अवस्था में अपने को पृथ्वी पर गिरा हुआ पाते हैं। बच्चों को जब प्रताड़ना मिलती है तो वे "शहीद" (Martyr type) का स्वप्नाभिनय करते हैं। दुःखानुभूति अथवा सुखानुभूति की क्रियाओं को बच्चे अपने चलते दिवा-स्वप्नों में देखने का उद्योग करते हैं। किसी कहानी के किसी चरित्र का मन-ही-मन अभिनय (Identification) करने लगते हैं जहाँ उन्हें विजय मिलती है, धन मिलता है, ख्याति मिलती है। इस प्रकार वे अपनी सुख-दुख की भावनाओं को "विजयीचरिताभिनय" अथवा 'पराजितचरिताभिनय' ("Conquering hero, Suffering hero") द्वारा प्रकट करते हैं। इस प्रकार बच्चों में मनोराज्यमयी कल्पनाएँ (Fantastic imaginations) पायी जाती हैं। मनोवैज्ञानिकों ने दिवास्वप्नों को बहुत भयंकर नहीं बताया है। यदि यह क्रिया-भाव अतिरेकावस्था को प्राप्त होता है तो बुरा है, क्योंकि इसी से वहिर्मुखी बच्चे अन्तर्मुखी व्यक्तित्व की सीमा का उल्लंघन कर सकते है। यह भाव आचरण का रूप न पकड़ने पावे, शिक्षकों को इस पर ध्यान देना परमावश्यक है। अधिक बहानेबाजी बुरी है। बच्चों को उनकी अभिरुचि के अनुसार सदैव खेलो अथवा कार्यों में लगाए रहना चाहिए। जीवन की कठिनतम आवश्यकताओं से दूर होने के लिए यह बहानेबाजी बड़ी प्रिय होती है। बच्चे बहुधा पाठशाला से घृणा करते हैं, और वहाँ न जाने के लिए

रोगी बन जाते हैं। टाम साइएर('Monday morning always found Tom Sawyer sad') की कहानी बड़ी प्रसिद्ध है। वह प्रत्येक सोमवार को बीमार बन जाना चाहता है। एक सोमवार को उसके दाँतों में "कल्पनात्मक" दर्द हो गया और माता से कह कर वह घर ही में रह गया। माता-पिता स्वभावतः बीमार बच्चे को पढ़ने को नहीं भेजेंगे। कभी-कभी बच्चे ध्यान आकृष्ट करने के लिए अथवा किसी विशेष व्यवहार के लिए रोगी बन जाते हैं। ऐसी अवस्था में कल्पनात्मक रोग कभी-कभी वास्तविक रोग का रूप धारण कर लेता है। बीमार बच्चों पर सब का ध्यान आ सकता है और उनकी इच्छाएँ पूरी हो जाती हैं। झूठ बोलना, बहाना करने का अभ्यास आदि कल्पनात्मक अस्वस्थता (Imaginary illness) के मूल में है। सर-दर्द, खाँसी आना, दाँत का दर्द, पेट में दर्द आदि विभिन्न क्रियाएँ इस कल्पनात्मक अस्वस्थता के उपकरण हैं। सभी पाठकों के जीवन में यह अवस्था कभी-न-कभी एक बार अवश्य आयी होगी। थोड़ी देर के लिए आप अपनी स्मृतियों को कुरेदें तो ज्ञात हो जायगा।

कल्पनात्मक अस्वस्थता

चिन्ता और भय की आकुलता (Nervousness and Anxiety) भयंकर मानसिक रोग है। यह मानसिक अथवा संवेगात्मक अतिरेक बहुधा बड़ों में भी पाया जाता है। मूलप्रवृत्तियों के दमन, व्यावहारिक जगत् में अवरोध के कारण, अथवा किसी शारीरिक गड़बड़ी के कारण यह स्थिति उत्पन्न होती है। इसके कारण बहुत से बच्चे अपना वास्तविक विकास नहीं कर पाते। दूसरों के सामने काँपने लगना, नाक पर पसीना आ जाना, मूत्र-त्याग करना, रोने लगना, संज्ञाहीन हो जाना आदि इसके लक्षण हैं। अवरोध, दमन से संवेगों का परिष्कार नहीं हो पाता, बच्चे अपने से ही विकल रहते हैं, उनकी बोलती बन्द हो जाती है और उन्हें अपने पर विश्वास नहीं होता। हमें बच्चों के परिवर्द्धन के लिए बहुत

चिन्ता-भयाकुलता

सचेत और सतर्क होना चाहिए। इस रोग को दूर करना बहुत कठिन है। शान्त वातावरण, नियमानुकूल जीवन-परिचर्या, संवेगों को उभाड़ने वाली वस्तुओं को पास में न आने देना आदि इसके उपचार हैं। चित्त-विश्लेषण करके इस आकुलता के मूल के दमन तथा अवरोध को दूर करना चाहिए।

§. [१०] ऊपर की व्याख्याओं में स्थान-स्थान पर उपचारों की विधियाँ भी बतायी गयी हैं। संक्षेप में, इतना ही कहना है कि बच्चों के व्यक्तित्व-सम्बन्धी दोषों को दूर करने में घर, पाठशाला आदि का प्रमुख हाथ है, क्योंकि इन्हीं विशेष वातावरणों में मानसिक तथा संवेगात्मक व्यतिरेकों का उदय होता है। घर का उत्तरदायित्व बहुत प्रबल है। माता-पिता को, बच्चों के समुचित विकास के लिए, अपने पर संयम रखना चाहिए। शिक्षकों को योग्यता तथा उनके संवेगों की स्थिति के अनुकूल ही बच्चों को काम देना चाहिए। बच्चों के खेलों के लिए पर्याप्त साधन होना चाहिए। उचित व्यवस्था, परिचालन, परिचर्या तथा वातावरण की अनुकूलता बच्चों के व्यक्तित्व के विकास के मूल में है।

उपचार

अपराधी एवं उपद्रवी बच्चे (Delinquent Children)

§. [११] बहुधा बच्चों में ऐसी कोटि पायी जाती है जो अपराधी, उपद्रवी अथवा दोषी होती है। ऐसे बच्चों का अध्ययन भी हुआ है और उनके विषय में बहुत मनोवैज्ञानिक तथ्य स्थिर किए गए हैं। श्री सिरिल बर्ट (Cyril Burt) के अध्ययन श्लाघनीय हैं। अपराधी अथवा दोषी बच्चों में कोई शारीरिक कुव्यवस्था नहीं पायी जाती। सामान्यत: वे मध्यम ऊँचाई तथा तौल का अतिक्रमण करते हैं। इनमें कुछ अंगदोषी भी होते हैं। मनोवैज्ञानिकों का कथन है कि शरीर का अधिकतम तथा न्यूनतम विकास, अपराधी या दोषी हो जाने का एक महान् कारण हो सकता है। पहले लोग, बहुधा,

उनका शारीरिक गठन एवं बुद्धि

कहा करते थे कि अपराधी बच्चों की ५०% वा ७५% संख्या निर्बल बुद्धि वाली होती है। किन्तु हाल के मनोवैज्ञानिक अनुसंधानों से यह प्रकट हुआ है कि ऐसे बच्चों में बुद्धि-निर्बलता नहीं पायी जाती, प्रत्युत उनकी अधिक संख्या मध्यम बुद्धि वाली होती है।

अपराधी बच्चों के अन्य व्यक्तित्व-लक्षण

ऐसे बच्चों में असामाजिकता (Unsociability) पायी जाती है। असद् वातावरण का प्रभाव उनके चरित्र तथा व्यक्तित्व के मूल में पाया जाता है। मनोवैज्ञनिकों ने अपराधी तथा दोषी बच्चों में निम्न दोष देखे हैं :

(१) साहसिक कार्यों के प्रति प्रेम, (२) अधिक उत्तेजना, (३) मस्ती, (४) हठवादिता, (५) क्रुद्ध स्वभाव, (६) वैयक्तिकता, (७) प्रतिहिंसा की भावना, (८) सामाजिक निर्देशितता, (९) सहज इन्द्रियग्राह्यता का आधिक्य, (१०) आज्ञोल्लङ्घन, (११) नवीन स्थितियों के प्रति अनवधानता। ऐसे बच्चों में कभी-कभी नेतृत्व भी पाया जाता है। उदारता, कृपालुता, स्वार्थता, क्रूरता, लज्जा, वञ्चना, कठोरता, अकपटता आदि गुणों का सम्मिश्रण भी पाया जाता है।

उपचार

§. [१२] ऐसे बच्चों के जीवन में बड़ी-बड़ी कठिनाइयाँ आती हैं। चित्त-विश्लेषण-शास्त्र के अनुसार ऐसे बच्चों के व्यवहार के मूल में दबी हुई इच्छाएँ, कुवासनाएँ हैं जो सामाजिकता के अतिरेक अथवा अभाव में फूट बहती हैं। व्यर्थ का सामाजिक आरोप, बुरा व्यवहार, झगड़ालू कुटुम्ब, बुरी संगति, माता-पिता-द्रोह, विमाता-द्रोह तथा उचित शिक्षा का अभाव आदि अपराधी और दोषी बच्चे क व्यवहार के मूल में हैं। चोरियाँ, बदमाशियाँ, डकैतियाँ, हत्याएँ और अन्य असामाजिक व्यवहारों में ऐसे ही बच्चे तथा प्रौढ़ व्यक्ति पाये जाते हैं। जब बच्चों का नैतिक पतन हो जाता है अथवा उनमें बुरी शिक्षा या कुसंगति से कोई कदाचार आ जाता है, तो माता-पिता तथा शिक्षकों को बहुत सतर्क होना चाहिए। डाँटने-फटकारने, बुरा-भला

कहने, अपमानित करने से ऐसे बच्चों में और आग भड़क जाती है। इन्हें तो सद्व्यवहार से अच्छा करना और बनाना चाहिए। बहुधा ऐसे व्यक्ति जब कोई अपराध करते हैं तो उन्हें जेल में ठूँस दिया जाता है। इस क्रिया से कुछ नहीं होगा। उनके लिए पृथक् शिक्षा-दीक्षा की व्यवस्था होनी चाहिए। सुधारवादी पाठशालाओं (Reformatory Schools) का होना परमावश्यक है। अब तो मनोवैज्ञानिकों का दावा है कि यदि सरकार ऐसे बच्चों को उन्हे सुपुर्द कर दे, तो सामाजिक व्यवस्था स्थिर हो जाय। वास्तव में, अदालत, जेल, अत्याचार अपराधों को दूर नहीं कर सकते। अपराधियों की मनोवैज्ञानिक चिकित्सा होनी चाहिए। संक्षेप में, (१) माता-पिता के प्रेम, (२) सहानुभूति, (३) आर्थिक अवस्था के सुधार, (४) कार्यों में सलग्न रहने, (५) आत्म सयम, उत्तरदायित्व आदि का समुचित ज्ञान कराने से तथा (६) उनके काम-सम्बन्धी विकारों के दुष्परिणामों के समझा देने से उपद्रवी तथा अपराधी बच्च ठीक किए जा सकते हैं।



Bihar and Patna Universities

SYLLABUS FOR CHILD PSYCHOLOGY

Introductory: Definition and Methods.

The child at birth: Capacities present at birth —Reflexes, Sensory and Emotional Responses. Early development of Sensory and Motor functions. Maturation and Development. Heredity and Environment.

Intellectual Development: Thinking and Reasoning. Intelligence and its measurement. Learning in children.

Emotional Development: Nature of Early Emotional Patterns. Child's Fear, Anger and Love. Role of Maturation in Emotional Development.

Social Development, Early stages in Social Contact with Children and Adults.

Language Development: The first word—Growth in Vocabulary—Environmental influence on Growth in Vocabulary.

Play and Imagination of Children. Nature and Functions of Play—stages in the Develop-

ment of Play. Imagination as revealed in Drawing and Story-telling.

Growth of Character : The nature of Character. Character-training. Delinquency.

Development of Personality : Nature of Personality. Hereditary and Environmental actors in the development of Personality. Personality traits.



पटना यूनिवर्सिटी के प्रश्न-पत्र

[टिप्पणी : प्रश्नों के समक्ष इस पुस्तक के अध्यायों के पृष्ठ अङ्कित हैं; किन्तु ये संकेत मात्र हैं। पुस्तक के सभी अध्यायों की भूमिका में प्रश्नों के उत्तर अपेक्षित हैं, अतः विद्यार्थियों को चाहिए कि वे पूरी पुस्तक पढ़ने के उपरान्त ही प्रश्नों के समाधान में लगें।]

1944 (Annual)

1. Describe briefly the purposes and methods of child study. [देखिये पृष्ठ १–३; २२–२४ तथा ७–२२]
2. Trace the emotional development of children with special reference to love [देखिये पृष्ठ १४५–१५१ तथा १६३–१६५]
3. What is maturation ? Explain and illustrate the influence of maturation on children's behaviour. [देखिये पृष्ठ ५२–५३; ६०–६५; १४५–१५० तथा सामान्यतः सभी अध्याय के सारांश]
4. Give a brief account of the reactions of children to social environments during their early life [देखिये चौदहवाँ अध्याय पृष्ठ २८६–२६२]
5. What is play ? Describe briefly the influence of play on child's life. [देखिये बारहवाँ अध्याय; पृष्ठ २५६ तथा २६६–२७०]
6. Trace the development of language in early childhood [देखिये सातवाँ अध्याय]
7. Distinguish between introversion and extroversion with examples. [देखिये पृष्ठ ३३३–३३५]
8. What is imagination ? Show how it is revealed

in children's drawing and story. [देखिये तेरहवाँ अध्याय; पृष्ठ २७१–२७८ तथा २८५–२८८]

9. Write short notes on any two of the following:
(a) Intelligence Tests. [देखिये पृष्ठ २२७–२४१]
(b) Delinquent Children. [देखिये पृष्ठ ३५४–३५६]
(c) Fear in Children. [देखिये पृष्ठ १५१–१५६]

1944 (Supplementary)

1. What is Child Psychology ? Point out some important differences between an adult and a child. [देखिये पृष्ठ १–३; ५–७; ८४–८६ और २२२–२२३]
2. What is intelligence ? How is it measured ? State the uses of the measurement of intelligence ? [देखिये पृष्ठ २२४–२२७; २२७–२३६; २३८–२४१ तथा २४१–२४३]
3. What do you consider to be the early emotional responses. ? Show their developments with example ? [देखिये पृष्ठ १४४–१४८]
4. What is reflex action ? What are its different forms ? Describe the part it plays in children's behaviour. [देखिये पृष्ठ ८६–६३]
5. Describe the characteristics of children's imagery, and show how imagery changes with age. [देखिये पृष्ठ २७२–२७५; २८१–२८८]
'Children learn by doing' Explain this statement fully. [देखिये विशेषतः पृष्ठ ७३–७५]
Show how the mental life of a child is influenced by his parent's behaviour. [देखिये विशेषतः दसवाँ अध्याय तथा अन्य अध्यायों में वर्णित बचपन-विकास के तत्व]

8. What is meant by emotional stability ? What part does it play in the development of personality ? [देखिये विशेषतः आठवाँ अध्याय तथा सोलहवाँ अध्याय, पृष्ठ ३२५–३४१]

9 Write short notes on any two of the following:

(a) The Questionnaire method. [देखिये पृष्ठ १० और ३३२]

(b) Anger in children. [देखिये पृष्ठ १५६–१५६]

(c) Introvert children. [देखिये पृष्ठ ३३३–३३५]

1945 (Annual)

1. Describe the main types of original responses in children. [देखिये पाँचवाँ अध्याय]

2. State briefly the chief characteristics of children's thinking [देखिये पृष्ठ २१४–२२३]

3. Explain the features of early emotional patterns connected with Anger and Love. [देखिये पृष्ठ १४४–१४८; १५६–१५६ तथा १६३–१६५]

4 Describe the nature of the Child's contact with adults and with other children. [देखिये चौदहवाँ अध्याय]

5. Trace the beginning of language in the incoherent babbling of children. [देखिये पृष्ठ ११६–१२४]

6. Distinguish between play and work. Give examples to illustrate the different functions of play. [देखिये पृष्ठ २५६ तथा २६६–२७०]

7. Show how children's imagination is first characterised by the fairy-tale element. [देखिये पृष्ठ २८२–२८८]

8. Describe the chief methods of measuring intelligence. [देखिये पृष्ठ २२७–२४१]
9. Define delinquency. What methods are suggested for delinquent children. [देखिये पृष्ठ ३५४–३५६]

1945 (Supplementary)

1. Briefly summarise the methods of Child Study. [देखिये पृष्ठ ७–२२]
2. Distinguish beetween the Thinking of adults and that of children. [देखिये पृष्ठ २१४–२२३]
3. Trace the development of fear in children. [देखिये पृष्ठ १५२–१५६]
4. What are the earliest forms of "social reaction" in children. [देखिये पृष्ठ २८६–२६२]
5. What is the source of the first word used by a child ? What type of meaning does it possess ? [देखिए पृष्ठ १२३–१२५]
6. Trace the function of Imagination as involved in the drawings of children. [देखिए पृष्ठ २८६–२८८]
7. What part is played by Intelligence in the child's learning of new responses ? [देखिए विशेषत: पृष्ठ ७१–७३]
8. Describe briefly the theories of play. [देखिए पृष्ठ २५६–२६३]
9. Distinguish between Extroversion and Introversion. Describe how the extrovert reacts to different situations in life [देखिए पृष्ठ ३३३–३३५]

1946 (Annual).

1. Give a general idea of the sensory-motor deve-

lopment of the child in the first year of life. [देखिए पृष्ठ ८६–६६]

2. What are the chief causes of Fear and Anger in the early life of the child? Indicate in what different ways a child usually reacts to situations provoking anger in him. [देखिए पृष्ठ १५२–१५६]
3. Trace the development of concepts in the child. [देखिए पृष्ठ २०५–२०७ तथा २१४–२२३]
4. Indicate the main stages of the social development of the pre-school child. [देखिए पृष्ठ २८६–२६२]
5. Explain how play helps the proper development of the child. [देखिए पृष्ठ २६६–२७०]
6. Show your acquaintance with some Tests that may be used for measuring the intelligence of pre-school children. [देखिए पृष्ठ २३१–२३२]
7. Describe the main stages in the language development of child. [देखिए पृष्ठ १२३–१२७]
8. In what respects do children's drawings differ from drawing of adults? Try to explain these differences. [देखिए पृष्ठ २८६–२८८]
9. What do you mean by 'Emotional Stability'? Indicate the more important causes of emotional instability. [देखिए आठवाँ, सोलहवाँ एवं सत्रहवाँ अध्याय]

1947 (Annual).

1. What methods have been used in the study of children? Consider briefly the advantages

and disadvantages of each of these methods ? [देखिए पृष्ठ ७–२४]

2. Give a brief account of the sensory-motor development of the child in the first year of life. [देखिए पाँचवाँ अध्याय]

3. What are the chief characteristics of children's thinking ? How does a child's thinking differ from an adult's ? [देखिए पृष्ठ २१४–२२३]

4. What do you understand by heredity ? Do you agree with the view that what the child will be like in future is determined solely by heredity ? If not, why not ? [देखिए दूसरा अध्याय]

5. State and explain the different factors influencing the speech development of children. [देखिए पृष्ठ १३३–१३६]

6. Explain the different methods employed by children in learning new responses. [देखिए विशेषतः चौथा अध्याय]

7. Can you distinguish between play and work ? State briefly the functions and values of play in child's life. [देखिए पृष्ठ २५६ तथा २६६–२७०]

8 Describe some of the personality maladjustments of early childhood, and indicate how they can be remedied. [देखिए सत्रहवाँ अध्याय]

9. Write notes on any two of the following :—

(a) Children's imagery. [देखिए तेरहवाँ अध्याय]

(b) Children's lies. [देखिए विशेषतः पन्द्रहवाँ एवं सत्रहवाँ अध्याय]

(c) Children's drawings. [देखिए पृष्ठ २८२–२८८]

1947 (Supplementary)

1. In what sense is Child Pshychology a science ? How can the knowledge of Child Psychology help parents and teachers ? [देखिए पहला अध्याय पृष्ठ १–३ तथा पृष्ठ २२–२४]
2. What are the causes of fear and anger in children ? Indicate how a child reacts to situations provoking fear, and suggest some ways of handling children's fear. [देखिए पृष्ठ १५१–१५९]
3. Trace the development of social life of children during the first few years of life. [देखिए पृष्ठ २[illegible]–२९२]
4. What is meant by "maturation" ? Explain with examples the influence of maturation in the development of the child's emotional responses [देखिये पृष्ठ ६०–६५ तथा १४४–१५१]
5. What is intelligence and how can it be measured ? What are the practical uses of the measurement of intelligence ? [देखिये ग्यारहवाँ अध्याय]
6. What is a reflex action ? Mention its different forms as found in children. Does reflex action play any part in the learning process of children ? [देखिये पाँचवाँ अध्याय तथा चौथा अध्याय, पृष्ठ ६६–७०]
7. Describe briefly the theories of play. [देखिये पृष्ठ २५९–२६४]
8. What role does imagination play in the child's life. Illustrate your answer with the help of

children's drawings. [देखिये तेरहवाँ अध्याय, पृष्ठ २७२–२७५ तथा पृष्ठ २८६–२८८]

9. When are children called delinquent ? Suggest some ways for dealing with delinquent children. [देखिये पृष्ठ ३५४–३५६]

1948 (Annual)

1. Is Child Phychology a science ? How are experiments made in child study ? Illustrate. [देखिये पहला अध्याय पृष्ठ १–३ तथा पृष्ठ १२–२२, विशेषतः पृष्ठ १६–२०]
2. What is maturation ? Give examples Write a short note on the mental equipment of the newborn infant. [देखिये पृष्ठ ६०–६५ तथा पाँचवाँ एवं नवां अध्याय]
3. Give examples of the fear responses of a child How can fear be eliminated ? [देखिये पृष्ठ १५२–१५६]
4. Describe the role of imagination in the child's drawing and story-telling. [देखिये तेरहवाँ अध्याय, पृष्ठ, २८२–२८८]
5. What are the principal ways of a child's learning ? What are the effects of practice in the child's learning ? [देखिये चौथा अध्याय पृष्ठ ६६–७४ तथा पृष्ठ ७५ एवं ८१]
6. What are the main social responses that you observe in the child during the early years of life ? How far does environment affect social development ? [देखिये पृष्ठ २८६–२६२ तथा पृष्ठ ३०१–३०४]

7. What is character ? Trace the influence of the home and the school in the building up of the child's chracter. [देखिये पद्रहवाँ अध्याय, पृष्ठ ३०५–३०८ तथा पृष्ठ ३१४–३१५]
8 Define personality. Give a short account of the development of personality in the child. [देखिये सोलहवाँ अध्याय, पृष्ठ ३२३–३२५ तथा ३३५–३४१]
9. Write notes on :
   (a) Delinquency [देखिये पृष्ठ ३५४–३५६]
   (b) Nature of play. [देखिये पृष्ठ २५६–२६६]

1948 (Supplementary)

1. What is Child Psychology ? What is its scope and value ? [देखिये पृष्ठ १–३; ३–५ तथा पृष्ठ २२–२४]
2. What is heredity ? Explain the principles of the operations of heredity. [देखिये दूसरा अध्याय]
3. Trace the motor development of the child in the early years of life. [देखिये पृष्ठ ६७–६८ तथा पृष्ठ १०५–११८]
4 Indicate the three levels of the child's thinking. How do his ideas develop ? [देखिये पृष्ठ २१४–२२३]
5. Describe the different factors in the child's learning. [देखिये पृष्ठ ७५–७७ तथा ८०–८१]
6 What is play ? Describe the nature and function of play in child's life. [देखिये पृष्ठ २५६–२६४ तथा पृष्ठ २६६–२७०]
7, Define intelligence. What do you understand by measurement of intelligence ? [देखिये ग्यारहवाँ अध्याय पृष्ठ २२४–२३१]

8. Explain the role of maturation in emotional development. [देखिये पृष्ठ १४४–१५१]
9. Write notes on :
   (a) Reflexes, [देखिये पाँचवाँ अध्याय]
   (b) Growth in the child's vocabulary. [देखिये पृष्ठ १२७–१२६]

1949 (Annual)

1. What are the methods employed in child study ? Which of them do you consider to be satisfactory ? [देखिए पृष्ठ ७–२२]
2. Give an account of the sensory-motor development of the child in the first year of life. [देखिए पाँचवाँ अध्याय]
3. To what extent is "human nature" inborn ? How much is it modified by the environment ? [देखिये दूसरा एवं नवाँ अध्याय]
4. Distinguish between the thinking of adults and that of children. [देखिये पृष्ठ २१४–२२३]
5. What is intelligence and how can it be measured ? What are the uses of the measurement of intelligence ? [देखिये ग्यारहवाँ अध्याय]
6. State the characteristics of early emotional patterns connected with anger and fear. [देखिये पृष्ठ १४४–१५६]
7. Indicate the different factors influencing the speech development of children. [देखिये पृष्ठ १२३–१२६]
8. Distinguish between work and play. What are

the functions and values of play in child's life? [देखिये पृष्ठ २५८ तथा पृष्ठ २६६–२७०]

9. Distinguish between introversion and extroversion. How does an introvert react to different situations in life? [देखिये पृष्ठ ३३३–३३५]

1949 (Supplementary)

1. Give an account of the topics the child psychology deals with. What is the practical value of child's study? [देखिये पृष्ठ ३–५ तथा पृष्ठ २२–२४]
2. Describe the main types of original responses in children. [देखिये पाँचवाँ अध्याय]
3. What is maturation? What part does it play in the development of emotions? [देखिये पृष्ठ ६०–६५ तथा पृष्ठ १४५–१५०]
4. Give an account of methods employed by children in learning new responses. [देखिये विशेषतः चौथा अध्याय]
5. Trace the social development of children during the few years of life. [देखिये पृष्ठ २८८–२९२]
6. Describe the main stages in the language development of the child [देखिये पृष्ठ १२३–१२७]
7. Write a note on the imagination of children as indicated in their play. [देखिये बारहवाँ एवं तेरहवाँ अध्याय]
8. What is delinquency? How would you deal with delinquent children? [देखिये पृष्ठ ३५४–३५६]
9. What is personality? Give an account of traits of personality. [देखिये सोलहवाँ अध्याय]

1950 (Annual)

1. What is Child Psychology? What are its scope and uses? [देखिये पृष्ठ १–३; पृष्ठ ३–५ तथा पृष्ठ २२–२४]
2. Give an account of the main types of original responses in children. [देखिये पाँचवाँ अध्याय]
3. What is maturation? What part does it play in the emotional development of the child? [देखिये पृष्ठ ५२–५३, ६०–६५ तथा १४५–१५१]
4. Write a note on Heredity and Enivironment. [देखिये दूसरा अध्याय]
5. Indicate the various ways of measuring the intelligence of children [देखिये ग्यारहवाँ अध्याय, पृष्ठ २२७–२४१]
6. Trace the social development of children. [देखिये चौदहवाँ अध्याय]
7. What are the main characteristics of play? How does it differ from work? Is play a preparation for life? [देखिये पृष्ठ २५६–२६४]
8. What is character? Show the influence of home and school in the formation of children's character. [देखिये पृष्ठ ३०५–३०८ तथा पृष्ठ ३१४–३१५]
9. What are the main causes of delinquency? How would you guide a delinquent child? [देखिये पृष्ठ ३५४–३५६]

1950 (Supplementary)

1. Is Child Psychology a science? How are experiments made in Child Psychology? Illus-

trate. [देखिये पृष्ठ १–३ तथा १२–२२ विशेषतः पृष्ठ १६–२०]

2. Give an account of the mental capacities of a newborn child. [देखिये पाँचवाँ एवं नवाँ अध्याय]
3. What are the main features of children's thinking ? How do their ideas develop ? [देखिये पृष्ठ २१४–२२३]
4. What are the chief characteristics of the process of learning in children ? Indicate the effects of practice on learning. [देखिये पृष्ठ ५६–६५; ७५ तथा ७७–८१]
5. Write a note on children's fear, anger and love. [देखिये पृष्ठ १४५–१५६ तथा १६३–१६५]
6. What are the effects in children's early life of social contact with (a) other children, (b) adults ? [देखिये चौदहवाँ अध्याय]
7. Give a brief account of the process of development of languages in children. [देखिये सातवाँ अध्याय]
8. What sort of imagination is revealed in drawing and stories by children ? What is the value of the study of such drawings and stories ? [देखिये पृष्ठ २८२–२८८]

